UNIVERSAL LIBRARY

OU_186509

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H132.152/K45H Accession No. H.290

Author खत्री, S. P.

Title हास्य की रूपरेखा

This book should be returned on or before the date last marked below.

हास्य की रूप-रेखा

डॉ० एस० पी० खत्री

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
बनारस ।

प्रकाशक :
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,
बनारस।

प्रथम संस्करण : १२००
१९५६
मूल्य : नौ रुपये

Checked-1965

Checked 1969

आवरण :
मधुर

मुद्रक :
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
विश्वेश्वरगंज, बनारस।

प्रियवर श्री भैरवनाथ झा

को

सादर

सप्रेम

अनुक्रम

पृ०सं०

१. प्राक्कथन १

२. विषय-प्रवेश ११

३. प्रकरण—१ ... ... ४३

हास्य का बाह्य रूप तथा मानवी आधार, मूल शारीरिक आधार, हास्य तथा प्रेम।

४. प्रकरण—२ ... ... ५१

हास्य के अन्य आधार : आश्चर्य-भावना, सेक्स संकेत, अश्लीलता तथा अवैध संबंध।

५. प्रकरण—३ ... ... ६३

बालकों का हास्य, कठपुतली के खेल, दैनिक घटनाएँ, आँखमिचौली तथा छद्मवेष, अनैतिक कार्य, असत्याचरण, भूत-प्रेत, व्यंग्य तथा परिहास, व्यंग्य-चित्र तथा अनुकरण काव्य, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, परिहास, हास्य का प्रयोजन, उपसंहार।

६. प्रकरण—४ ... ... ८८

हास्य के अन्य मनोवैज्ञानिक कारण : जड़वत कार्य, समाज तथा हास्य।

७. प्रकरण—५ ... ... १००

जड़वत कार्य-सिद्धान्त के अन्य आधार : (१) मुखाकृति, (२) व्यंग्य-चित्र, (३) शारीरिक इंगित।

८. प्रकरण—६ ... ... १०७

मानवी वेष-भूषा।

९. प्रकरण—७ ... ... ११४

मानवी परिस्थिति, मानवी भाषा : वक्रोक्ति।

१०. प्रकरण—८ ... ... १२६

हास्य-प्रदर्शन के अन्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त : वैषम्य भावना, मानव-चरित्र, मानवी शिष्टाचार।

११. प्रकरण—९ ... ... १३३

भाषा; उपमा, श्लेष तथा अन्य प्रयोग, वक्रोक्ति तथा परिहास।

१२. प्रकरण—१० ... ... १४३

असंगत विचार तथा हास्य, हास्य का काव्य-रूप, परिस्थिति, अवांच्छित कार्य, उपसंहार।

१३. प्रकरण—११ ... ... १६०

हास्य-सिद्धान्तों की समीक्षा, हास्य-प्रदर्शन के अन्य मनोवैज्ञानिक आधार : क्रीड़ा-प्रियता।

१४. प्रकरण—१२ ... ... १७६

हास्य का उद्‌गम : मानवी क्रीड़ा-क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र में हास्य की प्रगति।

१५. प्रकरण—१३ ... ... १८२

क्रीड़ा-भावना तथा परिहास, परिहास की उपयोगिता।

१६. प्रकरण—१४ ... ... १९७

क्रीड़ा-सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य का कलात्मक प्रयोग, हास्य-प्रदर्शन के विषय : मारपीट के दृश्य, पुनरावृत्ति, अनुकरण, छद्मवेष, विस्मरण-

शीलता, परिस्थिति, फ़ैशन, सामाजिक द्वन्द, भाषा : वक्रोक्ति, श्लेष, क्रीड़ा-सिद्धान्त समीक्षा, मानव-चरित्र प्रदर्शन, उपहास, परिहास तथा उपहास, चरित्र-संशोधन, उपसंहार।

१७. प्रकरण—१५ ... ... २२५

(१) संस्कृत-साहित्य में हास्य की रूप-रेखा, ऐतिहासिक समीक्षा, (२) संस्कृत साहित्य में हास्य के प्रायोगिक रूप, (३) विदूषक।

१८. प्रकरण—१६ ... ... २४८

(१) हिन्दी साहित्य में हास्य की रूपरेखा, (२) अन्य परम्पराएँ, (३) हिन्दी की परम्पराएँ, (४) हास्य की साहित्यिक परम्परा।

१९. प्रकरण—१७ ... ... ३२३

(१) उर्दू साहित्य में हास्य की रूप-रेखा (२) ऐतिहासिक दृष्टिकोण।

—:०:—

प्राक्कथन

मानव-समाज सतत हास्य-प्रेमी रहा है और हँसना-हँसाना एक सहज मानवी गुण मान लिया गया है। समाज ने जिन-व्यक्तियों में इस गुण की कमी देखी उन्हें किसी विशेष रूप में देखा और कुछ विशेष शब्दों द्वारा उन्हें संबोधित किया और उनके जन्मतिथि के विषय में अनेक शंकायें प्रदर्शित की गईं। और जब तक उस व्यक्ति ने इस सहज गुण का प्रदर्शन नहीं किया वह शत्रु अथवा मित्र वर्ग का व्यंग्य-भाजन बनता रहा। बाल-समाज में ही नहीं वरन युवाओं की टोली तथा वृद्धों के समुदाय में भी यह गुण इतने व्यापक रूप में वांछित रहा है कि उसके प्रदर्शन के अनगिनत अवसर आते रहे। समाज ने जहाँ व्यक्ति की वीरता, दृढ़ता, न्याय-प्रियता, धैर्य इत्यादि अनेक गुणों की प्रशंसा की वहां उसकी हास्य-प्रियता, विनोद एवं मनोरंजन-प्रियता की भी समुचित प्रशंसा की और इन गुणों को किसी भी अंश अथवा रूप में अग्राह्य नहीं समझा। सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में इस गुण की कितनी अधिक आवश्यकता पड़ती है और इसके सहारे कितने जटिल प्रश्न सुलझ जाते हैं इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं। राजनीति के जटिल एवं विवादग्रस्त विषयों पर विवाद करते हुए और एक दूसरे पर त्योरी चढ़ाते हुए व्यक्ति हास्य की एक ही लहर में स्नान कर शान्त होते हुये देखे गये हैं। अनेक समाज-सुधारकों ने हास्य के सहारे सफलरूप में समाज-सुधार ही नहीं किया वरन वे बहुत काल तक सबके प्रिय-पात्र बने रहे। धार्मिक-क्षेत्र के पुरोहितों तथा पंडितों ने हास्य का आधार लेकर और उसके सहयोग द्वारा अपने श्रोताओं को गहरे रूप में प्रभावित किया है और हास्य की मर्यादा की सदा रक्षा की है। सामाजिक जीवन में हास्य ने क्रोध का शमन किया; ईर्ष्या का दमन किया और बहुत सफल रूप में हमारी अमानुषिक प्रवृत्तियों का नियमन भी किया है और इसके उदाहरणों की भी आवश्यकता नहीं।

परन्तु हास्य के इस व्यापक महत्व को प्रायः पूर्व के सभी विचारकों तथा साहित्यकारों ने सराहने में असमंजस प्रदर्शित किया और उसका अनेक रूपेण प्रदर्शन उनके अध्ययन की परिधि में नहीं आया। पश्चिम के, प्रायः कुछ श्रेष्ठ दार्शनिकों ने ही इसकी सूक्ष्म आत्मा की परख की और सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया; कुछ ने इसके बाह्य-व्यापार पर ध्यान दिया, इसके अनेक

तत्व गिनाये और इसकी रहस्यपूर्ण आत्मा को परखने में अनेक उदाहरणों को एकत्र कर उसकी समीक्षा की। कुछ विचारक ऐसे भी हुये जिन्होंने इसके रहस्य के सम्मुख हार मान ली और वे उसके विशद विवेचन में असमर्थ से रहे। अनेक विचारकों ने मनोनुकूल सिद्धान्त भी बनाये और अपने निर्मित सिद्धान्तों के समर्थन में कहीं तर्क का आश्रय ढूँढ़ा; कहीं मनोविज्ञान तथा मनस्तल-शास्त्र की दुहाई दी, कहीं इतिहास तथा जीवन-शास्त्र का आधार लिया और कहीं भाषा तथा व्याकरण के अन्तर्गत ही इसकी परीक्षा की। कुछ साहित्यज्ञों ने केवल उदाहरणों के आधार पर सिद्धान्तों का निरूपण किया और केवल उन्हीं उदाहरणों को अपनाया जो साक्षी रूप में ग्राह्य थे और ऐसे अनेक उदाहरणों की ओर से विमुख रहे जो उनकी परिभाषा की परिधि में नहीं आए। इसके साथ-साथ एक दूसरी परम्परा भी चल पड़ी: एक ओर जहाँ दर्शनज्ञ हास्य के मर्म को समझने के प्रयत्न में लगे रहे दूसरी ओर विनोद-प्रिय समाज के कुछ व्यक्ति इस वैज्ञानिक विश्लेषण का विरोध करते रहे। इस वर्ग के व्यक्तियों के लिए हास्य-सिद्धान्त, निरूपण की वस्तु नहीं वरन अनुभव-क्षेत्र की वस्तु थी और हास्यरस के सफल परिपाक के उपरान्त उसके आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण समय का ही दुरुपयोग नहीं, हास्य की आत्मा का घातक भी मान लिया गया। हँसने के पश्चात् कितने व्यक्तियों को स्मरण रहता है कि वह किस पर और क्योंकर हँसे और फिर प्रति क्षण, जब समाज के कोने-कोने में हास्य-धारा फूटती रहती है तो उसका लेखा कौन रखे; उसका सहज दैनिक प्रवाह रोक कर कौन उसे सिद्धान्त-बद्ध करे; कौन उसकी आत्मा का हनन करे। हास्य की स्वच्छन्द आत्मा को पारिभाषिक शब्दों की जटिल बेड़ियाँ पहनाना अनेक व्यक्तियों को रुचिकर न हुआ और जिन व्यक्तियों को रुचिकर हुआ वे ऐसे व्यक्ति थे जो, साधारणतः, हास्य को छूत की बिमारी समझ कर उससे दूर रहे और उसकी ओर उसी सशंक दृष्टि से देखा कि ये जिससे छोटे बालक किसी दाढ़ी-वाले भिखारी की ओर देखत हैं। प्राचीन काल में प्रायः हास्य की आत्मा को परखने का मौलिक प्रयास यूनानी दर्शनाज्ञों ने ही पहले-पहल किया परन्तु पूर्व के संस्कृत साहित्यकारों ने इस विषय पर कुछ चलते-फिरते वक्तव्य ही प्रकाशित किये अथवा किसी गम्भीर विषय के विश्लेषणोपरान्त हास्य-रस परिपाक पर कुछ स्फुट एवं असंबद्ध सिद्धान्तों का निरूपण कर दिया। उन्होंने न तो इस विषय पर कोई विशद व्याख्या लिखी और न उसे महत्वपूर्ण ही समझा। पूर्व के प्रायः सभी दर्शनज्ञों ने हास्य को अत्यन्त गौण स्थान दिया और केवल गम्भीर एवं आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में अपनी मानसिक शक्ति

प्रयुक्त की। आधुनिक युग की सम्पन्न परित्यक्त नारी समान हास्य की आत्मा दर्शनज्ञों की इस विमुखता पर रोई नहीं वरन उनके दुर्भाग्य पर हँसती ही रही। दर्शनज्ञों ने मानव मस्तिष्क तथा तर्क; मानव हृदय तथा आविर्भूत मनोवेगों, प्रवृत्तियों तथा भावनाओं के जटिल पाश को सुलझाने का ध्रुव-प्रयत्न किया परन्तु मानवता की मधुर मुस्कान तथा प्रस्फुटित हास्य से न जाने क्यों विमुख रहे! यद्यपि कुछ पश्चिमी दर्शनज्ञों ने मनुष्य तथा अन्य जीव-जगत की विभिन्नता के प्रमाण में हास्य गुण को ही महत्व प्रदान किया फिर भी हास्य की कोई विशद व्याख्या सम्भव न हो सकी। व्याख्याताओं ने हास्य-गुण को अवगुण ही समझा; उसका प्रदर्शन यदि असभ्य नहीं तो अशिष्ट अवश्य प्रमाणित किया और उसको निम्न-वर्ग के जीवन से ही सम्बन्धित रखने का प्रयास किया। निम्न-वर्ग के जीवन से सम्बन्धित होकर हास्य अपना महत्व खो बैठा और इसी कारण श्रेष्ठ-वर्ग के लेखकों तथा विचारकों ने इसे अपने व्यापक अध्ययन एवं मनन की परिधि में नहीं आने दिया। निम्न-वर्ग का जीवन-साथी होने के कारण वह स्तुत्य न समझा गया और कहीं-कहीं उसे दुर्गण रूप में भी प्रदर्शित होने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। कुछ श्रेष्ठ साहित्यकारों ने अपने को इसीलिये सराहनीय समझा कि वे हास्य की निम्नगामी प्रवृत्ति से सुरक्षित रहे और केवल गम्भीर जीवन को ही श्रेष्ठ समझते रहे। गांभीर्य-पूर्ण जीवन ही सभ्य समाज के लिये हितकर समझा गया क्योंकि उसी वातावरण में वे जीवन की रहस्यमयी पहेली सुलझा सकते थे; आत्मा एवं परमात्मा के दर्शन कर सकते थे। जो दो एक साहित्यकार तथा विश्लेषक इसे महत्वपूर्ण समझ कर इसके विवेचन और विश्लेषण में संलग्न हुये उन्होंने हास्य को पार्थिव जगत से उठाकर मानसिक जगत का प्राणी बना दिया; उसकी सहज आत्मा को मानसिक तन्तुओं में जकड़ दिया; अट्टहास को मुस्कान रूप में ही ग्राह्य समझा। यही नहीं सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास की प्रगति के दर्शन भी उन्होंने हास्य की प्रगति के अन्तर्गत किया। उनके विचारों के अनुसार ज्यों-ज्यों हास्य मानसिकता की ओर अग्रसर होता जायगा त्यों-त्यों उसका पार्थिव रूप मिटता जायगा और जैसे-जैसे अट्टहास की गूंज मधुर मुस्कान में परिणत होती चलेगी त्यों-त्यों मानवो-संस्कृति का भी उत्थान हाता रहेगा। इतना ही नहीं कुछ विचारकों ने तो हास्य की आत्मा को वाग्जाल में इतना उलझाया कि साधारण सुबुद्धि के व्यक्ति के लिये उसका समझना दूभर हो गया।

हास्य-सिद्धान्त के निर्माताओं में अनेक ऐसे भी हुये जिन्होंने हास्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों के समझने का प्रयत्न किया; सिद्धान्तों का निरूपण

किया और उसके प्रमाण में अनेक उदाहरण ढूँढ़ निकाले। कभी किसी ने मनस्तत्वशास्त्र के अन्तर्गत, मानवी-प्रेम-व्यापार में अवरोध के फलस्वरूप हास्य की सृष्टि के प्रमाण ढूँढे; किसी ने जीवन के वैषम्य के फलस्वरूप हास्य का प्रदर्शन संभव समझा; किसी ने मानव की सहज क्रीड़ा-प्रवृत्ति द्वारा ही इसको आविर्भूत प्रमाणित किया और किसी ने जड़वत् कार्यों की पुनरावृत्ति में ही हास्य-रस का अनुभव किया और वे ऐसे सहज कार्यों की ओर से विमुख रहे जो बिना जड़वत् होने का आभास दिये हास्य-प्रदर्शन में सफलता पूर्वक प्रयुक्त हुए। यही नहीं कभी तो विचारकों ने फल को सम्मुख रख, हास्य की व्याख्या की और कभी उसके अनेक उपकरणो को महत्व दिया। यदि किसी ने (हास्यप्रसारक) पात्रों के व्यक्तित्व में हास्य के दर्शन किये तो किसी दूसरे ने श्रोता अथवा दर्शकवर्ग पर ही इसका उत्तरदायित्व रखा और कभी दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि वास्तव में हास्य तभी प्रस्फुटित होगा जब पात्र दर्शक-वर्ग के ही लिये नहीं वरन् अपने आप भी हास्यास्पद होंगे। और यदि हम इन उपरोक्त सिद्धान्तों को अक्षरशः मान भी लें तो भी हम अनेक प्रकार के हास्य-पदर्शन को इनकी परिधि में न ला सकेंगे; हास्य के अनेक साहित्यिक तथा सामाजिक रूप इन परिभाषाओं द्वारा न तो स्पष्ट होंगे और न प्रमाणित ही हो पायेंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिन दर्शनज्ञों तथा विचारकों ने हास्य की आत्मा को परखने का प्रयत्न किया उन्होंने अपने क्षेत्र में केवल प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा ही प्राप्त नहीं की वरन् मानव-विचार क्षेत्र में वे युग-प्रवर्त्तक भी माने गये। उनकी कठिनाई केवल यह थी कि कभी तो वे अपनी जातीय परम्पराओं के वश अपना दृष्टिकोण व्यापक न रख सके और कभी उन्हीं साहित्यिक कृतियों अथवा सामाजिक एवं वैयक्तिक कार्यों द्वारा आकृष्ट हुये जो उनके पहले से बने-बनाए सिद्धान्तों द्वारा सरलतापूर्वक प्रमाणित हुये। प्रायः अनेक विचारकों ने सिद्धान्त पहले बना लिये और उनके प्रमाण बाद में ढूँढ़े और हास्य की व्यापक आत्मा का सफल विवेचन संभव न हुआ। कदाचित् ही कोई ऐसा श्रेष्ठ विचारक हो जिसने हास्य की अनेकरूपता पर अपनी दृष्टि एकाग्र की हो और उसके अनेकरूपी प्रदर्शन के सिद्धान्तों को नियमबद्ध किया हो। बहुमुखो हास्य, अनेक कारणों की भूलभुलैयां में विचारकों को छोड़ कर अलग खड़ा-खड़ा मानवी प्रयत्नों की विफलता पर मुस्कराता रहा। इसका कारण यह है कि प्रायः सभी देशों के विचारकों ने एकांगी दृष्टिकोण अपना कर ही हास्य की आत्मा को परखने का विफल प्रयत्न किया। कभी उन्हें कोई क्षुद्र भावना, अभिमानपूर्वक किसी श्रेष्ठ स्तर की भावना से टक्कर लेती हुई हास्य की

जन्मदात्री ज्ञात हुई; कभी क्षुद्र भावना की विफलता के फलस्वरूप ही उन्हें हास्य के दर्शन हुये और कभी उन्हें किसी वस्तु तथा उनकी मानसिक रूपरेखा में वैषम्य के फलस्वरूप ही हास्य प्रदर्शित होते हुए ज्ञात हुआ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दर्शनज्ञों, विचारकों तथा साहित्यकारों ने अपने एकांगी दृष्टिकोण द्वारा ही हास्य की परिभाषा बनाने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप उन्हें पूर्ण रूप से सफलता नहीं मिली। वे अपने सिद्धान्त विशेष की परिधि में अनेकरूपी हास्य को सीमित करते आए और उसके अनेक गुणों और उसके प्रदर्शन के अनेक अवसरों पर सर्वांगीण रूप में विचार न कर सके। हाँ, उन्होंने एक तत्व विशेष को अवश्य दुहराया—वह तथ्य यह था कि समस्त हास्य किसी न किसी रूप में बिना किसी मानवी-पृष्ठभूमि के आविर्भूत न होगा। मानव जीवन का सहारा उसे सतत ढूँढ़ना पड़ेगा और बिना इस आधार के उसका जन्म संभव न होगा। परन्तु इस तथ्य में हमें किसी विशिष्ट मौलिक विचार के दर्शन नहीं होंगे—क्योंकि यूनानी विचारकों ने पहले-पहल मनुष्य की परिभाषा बनाते हुए उसे ऐसा जीव घोषित किया था जिसमें हँसने की शक्ति थी। और जब केवल मनुष्य हँस सकता है तो स्पष्ट है कि सभी प्रकार का हास्य मानव तथा मानव-जीवन से संबंधित रहेगा। इसके साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि केवल एक सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन नहीं हो सकेंगे। हमें एक नहीं अनेक सिद्धान्त बनाने पड़ेंगे अथवा हास्य-प्रदर्शन के अनेक कारणों को सम्मुख रख कर, उन सबको सम्मिलित कर, एक व्यापक सिद्धान्त बनाने की चेष्टा करनी पड़ेगी। परन्तु इस व्यापक सिद्धान्त निर्माण में एक नहीं हजारों अड़चने आयेंगी क्योंकि हास्य का संसार अत्यन्त विस्तृत होगा। इस विशाल मानव-समाज में हमें अनगिनत व्यक्ति मिलेंगे; उनके विभिन्न विचार होंगे; विभिन्न दृष्टिकोण होंगे। प्रत्येक जाति अपनी अलग परम्परायें रखेगी; प्रत्येक अपनी निजी विशेषता दिखायेगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के व्यक्तित्व की विभिन्नताओं की तो कोई सीमा ही नहीं। इस विशाल मानव-जगत के असंख्य व्यक्तियों के हास्य-व्यापार का लेखा कौन रख सकेगा; उनके हास्य-प्रदर्शन को एक ही सिद्धान्त में कौन सीमित कर सकेगा?

परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि यदि सिद्धान्तों के निर्माण-कर्ताओं से कोई यह पूछे कि क्या उनके सिद्धान्त मानव समाज के अनेक रूपी हास्य को अपनी परिधि में समेट रहे हैं तो उनकी त्योरी चढ़ जायगी। कारण यह है कि उनका गर्व इतना बढ़ा-चढ़ा रहता है कि इस प्रकार के तर्कपूर्ण प्रश्नों की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं उठती। इसी कोटि के आलोचक जब यह सिद्धान्त

बना चुके कि समस्त मानवी हास्य विफलता की भावना द्वारा आविर्भूत होगा और जब तक किसी आशा, आकांक्षा अथवा औत्सुक्य को विफलता प्राप्त नहीं होती हास्य कदापि भी प्रस्तुत नहीं होगा तो यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है कि क्या कारण है कि इस विफलता के फलस्वरूप हास्य का ही आविर्भाव हो और अन्य किसी भावना का नहीं ? विफलता के फलस्वरूप तो करुणा अथवा क्रोध की भावना का ही जन्म होना चाहिये; हास्य का प्रादुर्भाव तो विचित्र बात होगी। इसके साथ-साथ सिद्धान्त-निर्माता यह सहज ही भूल जाते हैं कि हास्य का आविर्भाव केवल एक व्यक्ति पर नहीं वरन दो अथवा अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति में ही संभव होगा और प्रायः यह देखा जागया कि हास्य की सृष्टि का उत्तरदायित्व वक्ता पर तो कम श्रोता पर ही अधिक रहेगा। गूँगों तथा बहिरों के समाज में हास्य कहाँ ? और यदि किसी श्रेष्ठ हास्य-प्रसारक लेखक ने कोई बहुत हास्यपूर्ण बात कही तो जब तक श्रोता-वर्ग में उसके समझने की बुद्धि एवं क्षमता न हो और जब तक वे उसकी चोट पहिचान न सकें—हास्य का जन्म असंभव ही होगा। दर्पण के सम्मुख ही सौन्दर्य जागता है। आँखों ही आँखों में असली बात की जाती है। और जब दर्पण ही धुँधला है और आँखों में ज्योति नहीं तो फिर सौन्दर्य मुँह छिपाये पड़ा रहेगा; आँखें सूनी रहेंगी। ऐसी परिस्थिति में तो यह प्रतीत होता है कि सिद्धान्त-निरूपण का कार्य कठिन ही नहीं वरन असंभव होगा।

परन्तु इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी इस बात का प्रयत्न किया जा सकता है कि बहुत कुछ अंश में हम अनेक-रूपी हास्य की परख कर सकें। यदि हम हास्य के अनेक कारणों को पहिचान सकें; उसके आधारों को समझ जाँय और उसके श्रेष्ठ रूप को हृदयंगम कर लें तो प्रस्तुत अध्ययन फलप्रद हो सकेगा। प्रायः हमें, इस प्रयत्न में सबसे बड़ी तथा विषम कठिनाई यह पड़ेगी कि देश-काल के अनुसार जब हास्य की रूप-रेखा परिवर्त्तित होती आई है और उसमें विभिन्नता भी बहुत है तो सबसे पहले हास्य के इतिहास का अध्ययन आवश्यक होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से, हास्य की प्रगति के अनुसंधान के लिये तो कदाचित् कभी हमें जीव-शास्त्र का अध्ययन करना पड़ेगा, कभी मनुष्य-जाति के आदि इतिहास पर चिंतन करना होगा; कभी बाल-मनोविज्ञान की गुत्थियों को सुलझाना पड़ेगा और कभी बर्बर युग से आधुनिक काल तक के सामाजिक-जीवन का जन्म और उसके उत्थान के कारणों मर मनन करना आवश्यक प्रतीत होगा और इस अध्ययन का यह उद्देश्य नहीं कि यह हास्य की ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करे। ऐसा अनुसंधान विचारशील दर्शन के

शिक्षकों के लिए ही समीचीन होगा। इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि परम्परा भी इसके पक्ष में है। दर्शनज्ञों ने ही पहले-पहल हास्य की रूप-रेखा की परख करनी चाही है और उसके ऐतिहासिक अथवा प्रागैतिहासिक अध्ययन का आधार यदि उन्ही पर छोड़ दिया जाय तो अधिक हितकर होगा। दर्शनज्ञों ने ही जीवन के सभी गूढ़ से गूढ़ और अत्यन्त रहस्यपूर्ण स्थलों का उद्घाटन किया है और जीवन का शायद ही ऐसा कोई अंश हो जो उनके अनुसंधान की परिधि में न आया हो। यही कारण है कि जीवन-सम्बन्धी सभी अन्वेषणों और अनुसंधानों में एक ओर तो दर्शनज्ञों का दृष्टिकोण मान्य रहा है और दूसरी ओर साधारण समाज का। दर्शनज्ञों के अनुसंधान पर ही हम अधिक विश्वास करते आये हैं फलतः हास्य की ऐतिहासिक समीक्षा का उत्तर-दायित्व मैं उन्हीं पर छोड़ने की धृष्टता करूँगा।

फलतः प्रस्तुत विवेचन ऐतिहासिक समीक्षा का परिचायक नहीं होगा। हमें तो साहित्य के विद्यार्थीवर्ग के सम्मुख उन श्रेष्ठ हास्य-सिद्धांतों का स्पष्ट विवेचन तथा निरूपण अभीष्ट है जिसकी सहायता से उन्हें हास्य की आत्मा का साक्षात्कार हो सके। उन्हें इस सत्य का भी आभास मिल सके कि साहित्य एवं कला-क्षेत्र में हास्य का स्थान गौण नहीं और उसका प्रदर्शन न तो निकृष्ट आचरण का परिचायक है और न हीन सभ्यता द्योतक। प्रायः इसी विचारशैली के अनुसरण-कर्त्ताओं ने हास्य-साहित्य को ही नहीं कुण्ठित किया वरन् मनुष्य के जीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग पर भी आघात पहुँचाया। जिस प्रकार चित्रकार की कूंची रंगों के प्रयोग द्वारा सुन्दर चित्र-चित्रित करती है अथवा संगीतज्ञ स्वरो के आरोह-अवरोह से मधुर राग-रागिनियों की अवतारणा करता है उसी प्रकार श्रेष्ठ हास्य-प्रदर्शन मानव-जीवन में अरुणोदय लाता है; जीवन को मधुरिम एवं संगीतमय बनाता है। श्रेष्ठ हास्य-साहित्य को वही स्थान प्राप्त होना चाहिये जो काव्य अथवा नाटक अथवा संगीत को प्राप्त है। अतएव यह नितान्त आवश्यक जान पड़ेगा कि शिक्षित समाज के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन लाया जाय और उनके परम्परागत दृष्टिकोण का संशोधन किया जाय और हास्य की उपयोगिता तथा उसके मूल्य के विषय में जो भ्रामक विचार फैले हुये हैं उनका निराकरण हो। प्रायः जब हम कुछ ऐसे शब्द-समूहों का प्रयोग करते हैं जैसे—'हँसी फूट पड़ना' 'खिल-खिला उठना'; 'लोट-लोट जाना'; 'लोट-पोट होना' तो हमें मानव-स्वभाव के ऊपर पड़े हुये एक कृत्रिम आवरण का आभास मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी प्रकार का अस्वाभाविक नियन्त्रण हमारी भावना विशेष को बन्दी किये था और उससे छुटकारा पाने के अवसर हम सदा से ढूँढते आये हैं।

उस कृत्रिम नियन्त्रण से छुटकारा पाते ही—'हँसी फूटी'; 'हम खिल-खिलाये' और 'लोट लोट गये'। प्रायः हम अपने इस सहज गुण को कुण्ठित किये जीवन-यापन करते चलते हैं और हास्य ऐसे सहज गुण को प्रस्फुटित होने का अवसर बहुत कम देते हैं। कृत्रिम गांभीर्य ही हमारे लिये सभ्यता एवं सुसंस्कृत आचरण का द्योतक बन जाता है; तनी हुई भौंहें और चिपके हुए होंठ हमारे ज्ञान के माँप बन जाते हैं; और जितने ही हम इस सहज मानवी गुण से दूर-दूर रहते हैं उतने ही हम विज्ञ, पण्डित तथा श्रेष्ठतर समझे जाते हैं। इसी अस्वाभाविक गुण के कारण हम आदर पाते हैं, श्रद्धांजलि के सुपात्र बनते हैं; देव-तुल्य कहलाने की लालसा रखते हैं। हमारा जीवन मन्दिरों में स्थापित पत्थर की मूर्ति समान हो जाता है; हम जीवन-पथ पर ऐसे चलने का प्रयत्न करते हैं जैसे मनुष्य नहीं मशीन हैं; जीव नहीं प्रेतात्मा हैं। इसका कारण कदाचित् यही होगा कि हमारे प्राचीन साहित्य में केवल अ-देवों को ही हास्य का एकाधिकार मिला और गांभीर्य देवताओं के हाथ लगा और देवानुरागी होने के नाते मनुष्य ने अपने होंठों को चिपका लिया और अपनी दृष्टि अकाश की ओर उलट दी। इसका फल यह हुआ कि पाषाणवत देवता अमर हो गये और अदेव मर-मर कर जीने लगे और मर-मर कर जीने में जो आनन्द था वह अमरलोक के निवासियों को प्राप्त कहाँ! देवताओं के लिये मन्दिर बने, देवालय निर्मित हुये और वे पाषाण-रूप वहाँ प्रतिष्ठित कर दिये गये। अदेव बेचारे अपना एकाधिकार लिये हुये मानव-हृदय में प्रविष्ट हुये। मानव-हृदय ने उनके हास्य को अपनाया; और उसी के सहारे उन पर विजय पाने की चेष्टा वह आज तक करता आया है और आशा है कि सृष्टि के अन्त तक करता जायगा। देवताओं ने अ-देव वर्ग में सभी अवगुणों की समष्टि संभव की और अपने में समस्त गुणों का अवतरण किया और आदर्श-रूप बन मानव-प्रांगण में आ आकर भोले-भाले मनुष्य को लुभाने लगे, उन्हें देव-तुल्य होने का आदेश देने लगे उन्हें पाषाण-वत् बनाने का ध्रुव-प्रयत्न करने लगे। कुछ व्यक्ति इस भुलावे में आकर देव-तुल्य, आदर्श-रूप, पाषाण वत् बन गये परन्तु अनेक ऐसे थे जिन्होंने अपने लोभ का संवरण किया और मानव-रूप रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने अदेवों में एक विशेष अवगुण का दर्शन किया था। जो उन्हें बार-बार आकर्षित करता था और बार-बार लुभाता था। यह अवगुण ? हास्य था जिसे मानव ने डरते-डरते अपनाया आर मानव बनने का अधिकार प्राप्त किया। हास्य में उसने विशाल शक्ति का अनुभव किया। हास्य की शक्ति द्वारा उसने दंभ और पाखण्ड, ईर्ष्या तथा क्रोध, वैमनस्य तथा गर्व इत्यादि

अवगुणों का प्रतिकार किया, उनका शमन किया और मानव जीवन पर घिर-घिर आने वाले बदली को छिन्न-विच्छिन्न करने का सतत प्रयत्न किया और आज भी कर रहा है। सन्तोष केवल इस बात का है कि देवों ने हास्य का महत्व न समझा और उसका अधिकार अदेवों को दे दिया; और अदेवों से प्राप्त इस अमोघ अस्त्र द्वारा मानव ने, देवों के समस्त त्रास और दुःख, पीड़ा तथा व्यथा सबका निराकरण किया और उनकी समस्त कुचेष्टाओं को विफल बनाया। देवासुर संग्राम में दुर्भाग्य से यदि अमृत-घट के साथ-साथ देवता हास्य-लहरी भी ले भागते तो आज मानव दीन, दुःखी तथा निरुपाय रहता और दुःख के दिन हँस-हँस कर न काट पाता। उसकी भीगी पलकें कभी न सूखतीं; उसके जीवन में वसंत कभी न आता। हास्य के वरद-हस्त के नीचे मानव ने मृत्यु को चुनौती दी और हँसते-हँसते प्राण तज दिये। हास्य-रूपी गोवर्धन के नीचे दुःख के ओले और पीड़ा की झड़ी टकरा-टकरा कर छिन्न-विच्छिन्न होती रही और सुरक्षित मानव उसके नीचे रंग-रलियां मनाता रहा।

परन्तु इतना सब होते हुये भी मानव, कभी-कभी, अपने इस वरदान का मूल्य जानकर भी भुलावे में आता रहा और देवताओं के चंगुल में बरबस खिंचता रहा। और ऐसी विषम परिस्थिति में उसने हास्य को मानवता की परिधि में तो रखा परन्तु उसका सम्बन्ध बालकों के जीवन से जोड़ दिया। हास्य को बाल-जीवन से समन्वित कर वह एक ओर तो देवानुरागी बना रहा और दूसरी ओर अपने नैसर्गिक वरदान की ओर भी लोलुप दृष्टि से देखता रहा। और जब-जब उसे समय मिला उसने देवों की आँख बचा कर बालकों के साथ किलकारी भरी; उनके हास्य में वह साझीदार बना; और देवों की आँख उठते ही आंखें नीची किये वहाँ से भाग निकला। अन्ततोगत्वा एकाकी बैठ कर वह बाल-लीला, बाल-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद, हास्य-विनोद के चित्र, कभी शब्दों में, कभी रंगों में और कभी मिट्टी अथवा प्रस्तर खण्डों पर चित्रित करने लगा। बाल-साहित्य में मनोरंजन एवं हास्य की प्रतिष्ठा कर मानव ने अपने एक घोर सामाजिक पाप का प्रायश्चित किया है। बालकों के हास्य के प्रति वयस्कों तथा वृद्धों का आकर्षण इसका सबल प्रमाण रहेगा।

यदि मनस्तल-शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो जो व्यक्ति हास्य के विरोधी हुये उन्होंने अपने जीवन को अत्यन्त जटिल बनाया और इस नैसर्गिक गुण को कुंठित करने की चेष्टा में अपने को अनेक अमानवी अथवा असामाजिक दुर्गुणों के चक्रव्यूह में फँसा दिया; बन्दी बना दिया। यदि शिक्षा-दीक्षा का नियन्त्रण उन पर न होता तो वे ऐसे-ऐसे कार्य कर चलते जो इतने क्रूर तथा पाशविक होते

कि उनकी तुलना केवल बर्बर-जीवन से ही की जाती। जिन व्यक्तियों ने अपने इस सहज गुण पर आवरण डालना चाहा और गांभीर्य का चोला पहन कर देव-तुल्य होने का महत् प्रयत्न किया वे प्रहसनों एवं सुखान्तकीयों के सफल पात्र बने। सामाजिक जीवन में उसी तरह वे पहिचाने जाने लगे जिस प्रकार जङ्गलों के जीव रंगे सियार पहिचान लेते हैं। अपने जबड़ों में मुस्कान का गला घोंटते हुये ये व्यक्ति न तो सफल पति बने और न सफल पिता हुये। न तो उनका बाल-पन किसी ने देखा और न उन्हें युवा होते ही देखा गया। अपने पालने में वे वृद्ध रूप ही आये और जीवन पर्यन्त वृद्धावस्था का गांभीर्य ओढ़े रहे और फूँक-फूँक कर कदम रखते चले। मुस्कान की छटा और अट्टहास की गूँज उन्हें छूकर चली गई और वे जीवित जगत में पाषाण-रूप में ही प्रतिष्ठित हुये।

हास्य गुण को कुण्ठित करने वाले व्यक्तियों की वही दशा भी हुई जो मन्दिर में प्रतिष्ठित पाषाण-पिण्डों की हुआ करती है : उनपर पुष्प वर्षा हुई; मोदक चढ़ाया गया; उनके सम्मुख घन्टे घड़ियाल बजे; उनका आदर हुआ उन्हें श्रद्धांजलि मिली। इतना कुछ होते हुये उन्हें हमारा न तो प्रेम प्राप्त हुआ और न हमारे वे स्नेही बन सके। वे न तो हमारा साथ दे सके और न हमारे हास्य-रोदन में साझीदार बने। हमारे सम्मुख वे केवल भय के प्रतीक होकर आये। और भय की भावना के आगे मानवी हास्य भला कब तक ठहर सकता था; उसने मन्दिरों से दूर बालचरों की गोष्ठी में जहाँ जीवन खुलकर खेल रहा था आश्रय पाया। वयस्कों तथा वृद्धों ने साहित्य तथा जीवन में बालकों से ही प्रेरणा ग्रहण की है और उन्हीं के माध्यम द्वारा उन्होंने अपने जीवन के कुण्ठित हास्य को स्वतन्त्र किया है। हास्य में मानव-हृदय की प्रगति का इतिहास निहित है; और उसके अनेक सिद्धान्तों का हृदयंगम करने में मानव-हृदय की गहराइयों में प्रवृष्ट होना पड़ेगा। इन्हीं गहराइयों में उतर कर मानव अपने को पहिचानेगा; और अपने को पहिचानना ही मानव का सर्व श्रेष्ठ लक्ष्य है। आशा है कि हास्य की रूपरेखा पहिचान कर विद्यार्थी वर्ग मनुष्य नाम को सार्थक करेगा।

एस० पी० खत्री

जुलाई १, १९५६.

विषय-प्रवेश

(१)

वास्तव में हास्य की आत्मा में दैवी विचित्रता है ; उसकी तुलना संसार में न तो किसी वस्तु से और न किसी अन्य मानवी भावना से ही हो सकेगी। वह अद्भुत है ; परिभाषा के परे है। उसकी प्रेरणा और उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि कदाचित् ही किसी देश में कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इसके वशीभूत न रहा हो। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी सहज ही उसकी प्रेरणा ग्रहण करते आये हैं ; अन्य किसी भी भावना में न तो इतनी प्रेरक शक्ति है और न इतना आकर्षण। विद्युत्-छटा समान वह प्रकाश पाती है और थोड़ी ही देर बाद अनन्त में विलीन हो जाती है। यही एक ऐसी मानवी भावना है जिसे हम निःसंकोच प्रदर्शित करते हैं। हम प्रायः यह कभी न चाहेंगे कि कोई हमें आँसू बहाते हुये देखे : हम मुँह छिपा कर ही रोते हैं और इसी संकोच और लज्जा के कारण हमारी हिचकी बँध जाती है। परन्तु हँसते समय हम जी खोल कर हँसते हैं, अट्टहास करते हैं, आनन्दित होते हैं। हास्य में एक प्रकार का विचित्र आकर्षण रहता है जिसके फल स्वरूप कोई भी उसके प्रभाव से विमुख नहीं रह सकता। जिस प्रकार चुम्बक के पास आते ही लोहे के कण उससे चिपट जाते हैं उसी प्रकार हँसते हुये व्यक्ति को देखते ही हँसी आ जाती है। हम एक दूसरे को अनायास ही अपने हास्य द्वारा प्रभावित करते रहते हैं। प्रहसन अथवा सुखान्तकी देखते समय कुछ देर तक तो सभी दर्शक चुप रहते हैं और थोड़ा बहुत मुस्कुराते हैं परन्तु जब एक बार जोर से हँसी फूट पड़ती है तब रोके नहीं रुकती : सब एक दूसरे को देखते हुये हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं। हास्य की व्यापकता ; उसका रहस्य ; उसका आकर्षण इतने गूढ़ रूप में प्रस्तुत रहता है कि उसकी अनेकरूपेण शक्ति को हम सरलता से नहीं परख पायेंगे।

इसके साथ-साथ हास्य अनेक रूप में हमारी सहायता भी करता है और हमारे मानसिक तथा भावना-जगत के सन्तुलन की रक्षा करता है। प्रायः अपने भावना-जगत के रहस्यपूर्ण कार्य-क्रम को हम सरलता से नहीं समझ पाते, और उसका समझना अत्यन्त दुष्कर भी है, परन्तु इतना हम अवश्य देखते हैं कि प्रत्येक मनोवेग तथा हमारी अनेक भावनायें किसी न किसी विशेष रूप में ही

हमारे सम्मुख आती हैं। वे अपना एक विशेष किन्तु सुलभ माध्यम चुन कर अपनी मनोवांछित रूप-रेखा बना लेंगी और हमारे सम्मुख साकार हो जायँगी। इस संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब कोई भावना प्रकाश पाने का प्रयत्न करती है और छटपटाती है तो मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व उद्वेलित हो उठता है और यदि वह भावना ऐसी हुई जिसके प्रकाशन में हमें हिचक अथवा नैतिक संकोच हुआ तो वह और भी आग्रहपूर्ण हो जाती है और किसी न किसी रूप में अपना प्रकाश करने पर उद्यत हो जाती है। प्रायः हास्य का माध्यम ही इसके लिये सबसे सरल माध्यम प्रमाणित रहा है।

नाटकों के दर्शक-वर्ग में हम कभी-कभी यह देखते हैं कि जब कोई ऐसा दृश्य प्रस्तुत होता है जिसका प्रभाव हमारे ऊपर गहरे रूप में पड़ता है तो हम अपनी मनोवांछित भावना को सबके सम्मुख प्रदर्शित करना नहीं चाहते : हमें उसमें संकोच होने लगता है : उसे हम यथाशक्ति छिपा जाते हैं; परन्तु थोड़ी ही देर बाद कोई ऐसा दृश्य आता है जिसमें केवल मुस्कुराने की आवश्यकता है परन्तु हम अट्टहास करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि जो भी भावना हम संकोचवश प्रदर्शित न कर सके कोई अन्य अवसर आते ही दूसरे रूप में तीव्र गति से प्रदर्शित करने लगते हैं। हास्य, हमारी अन्यान्य संकोचपूर्ण भावनाओं का सरल माध्यम है।

हास्य की आत्मा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि वह एक क्षण में प्रकाश पाती है; गति पकड़ती है; उत्कर्ष पर आती है और उसी क्षण विलीन भी हो जाती है। यही कारण है कि हास्य प्रदर्शन के पश्चात् हमें संवाद का संदर्भ भूल जाता है और हमें कोई दूसरा विषय ढूँढ़ना पड़ता है। ऐसा ज्ञात होता है कि हम नींद से उठे हैं और पहले की सब बातें हमें स्मरण नहीं।

(२)

समाज की यह भी एक रहस्यपूर्ण विडम्बना ही है कि हास्य-प्रिय व्यक्तियों का मूल्य हम बहुत कम समझते हैं, उनमें जब तक महान-विद्वत्ता न हो; अचल गांभीर्य न हो, ज्ञान की शुष्कता न हो तब तक हम उन्हें आदरणीय ही नहीं समझते। हास्य-प्रिय व्यक्तियों पर हमारी श्रद्धा भी नहीं रहती। हम उन्हें आलस्य का प्रतीक समझते हैं जो समय का दुरुपयोग करते हैं; ज्ञान-वृद्धि में बाधक होते हैं और जब तक वे पाण्डित्यपूर्ण नहीं होते तब तक हम उन्हें समाज का एक हीन अंग ही समझते हैं। नाटक के विदूषक सतत हास्य की सृष्टि करते हैं—इसलिये वे नायक तथा उसके अन्य सहयोगी पात्रों की

तुलना में श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण नहीं। दुःखान्तकी के विदूषक समय-समय पर आ आ कर दुःख तथा क्लेश के मेघ पुञ्ज अपनी शुभ्र हँसी की छटा से विकीर्ण किया करते हैं; दुःख की छाया को सुनहरा बनाते हैं परन्तु हम उन्हें महत्त्व नहीं देते—महत्त्व देते हैं क्लेश तथा दुःख के प्रसारक नायक को; उसके ज्ञान को; उसकी मानसिक जटिलता को; उसकी व्यग्रता को। अपनी स्थूल काया की दुहाई देता हुआ संस्कृत साहित्य के नाटकों का विदूषक; भोजन-पात्र की ओर तृषित नेत्रों से देखता हुआ और दर्शकों को अपनी तृषित मुद्रा से प्रमुदित करता हुआ हास्य प्रेमी हमारे लिये प्रिय होते हुये भी महत्त्वहीन ही रहेगा। हाँ केवल सुखान्तकियों तथा प्रहसनों[2] में हम उसकी उतनी उपेक्षा नहीं करते। प्रायः सुखान्तकीयों में भी उसका स्थान गौण ही रहेगा और प्रहसन का नायक होते हुये भी उसे वह गुरुता तथा वह महत्ता प्राप्त नहीं जो अन्य कोटि के नाटकों के नायक को प्राप्त है। सर्कस के दुर्धर्ष तथा हिंसक पशुओं के भयभीत करने वाले कार्यों के बीच-बीच अपनी असाधारण मुद्रा तथा फटी-पुरानी वेष-भूषा द्वारा गम्भीर वातावरण को भंग करने वाला विदूषक भी हमें प्रसन्न तो करता है परन्तु आदर और श्रद्धा का पात्र नहीं हो पाता। श्रद्धा तथा आदर वही पाता है जो गम्भीर मुद्रा बना कर, एकाग्रता से, हिंसक पशुओं को मनोनुकूल नचाता रहता है। ऐसा जान पड़ता है कि संसार उस व्यक्ति की सतत उपेक्षा किया करता है जो उसका मनोरञ्जन करते हैं और हम उसी को आदर प्रदान करते हैं जो शुष्क, नीरस, प्राणहीन ज्ञान-भाण्डार का कोष लिये हमारे सम्मुख शिक्षक के रूप में आता है। विद्वान और विदूषक दोनों का द्वन्द्व बहुत पुराना है और संसार के मानसिक स्वास्थ्य के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह विदूषक के मूल्य को पहचाने और उसके हास्य का महत्त्व समझे।

साहित्य-क्षेत्र की एक दूसरी रहस्यमय विडम्बना यह है कि हम हास्य का विवेचन तथा उसकी साहित्यिक आत्मा का परिचय ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्राप्त करते आए हैं जो हास्य से प्रायः दूर ही रहे हैं। प्रायः यह कार्य हमने दर्शनज्ञों, मनोविज्ञानियों तथा मनस्तल-शास्त्रियों पर ही छोड़ दिया जिन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा हास्य का विश्लेषण तो किया परन्तु इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसकी मूल आत्मा कुण्ठित हो गई। ज्ञान का भाण्डार लिये हुये

---

१. देखिये—'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड
२. वही —प्रहसन खण्ड

साहित्यिक विश्लेषकों ने वाग्जाल द्वारा हास्य की आत्मा को बन्दी बनाना चाहा; उसके हृदय तक पहुँचना चाहा और उस विषय पर बड़ी-बड़ी पुस्तकों की रचना करनी चाही। हास्य-विषयक हमारा आलोचना-साहित्य दर्शनज्ञों के वैज्ञानिक विवेचन के बोझ से दबा हुआ केवल पुस्तकालयों की वस्तु होकर रह गया है। यह कहीं अच्छा होता कि हास्य ऐसे विषय का विवेचन, कुछ हास्य-प्रिय व्यक्ति ही करते जो नित्य-प्रति उसका प्रयोग करते हैं; जो पग-पग पर उसकी छटा दिखाते रहते हैं और ऐसे ही व्यक्ति सफल परिभाषा बनाने में सहयोग भी देते। परन्तु अभाग्यवश ऐसा हुआ नहीं और यही कारण है कि हम आज तक हास्य की सफल परिभाषा बनाने में विफल ही रहे। दूसरे एक और भी कठिनाई प्रस्तुत हुई। वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने वाले दर्शनज्ञों ने कुछ ऐसे शब्द-विशेष चुने, कुछ ऐसी शब्दावली निर्मित की कि आज तक उनका अर्थ स्पष्ट न हो पाया और यदि हुआ भी तो बहुत उलझे हुये अथवा धुँधले रूप में और हम हास्य की आत्मा का परिचय पाने से वञ्चित रहे।

यह विचार भी बहुत कुछ अंशों में प्रमाणित है कि साधारण व्यक्ति ही सबसे अधिक हँसते और हँसाते हैं और ज्ञानी, गम्भीर मुद्रा बनाये ज्ञानार्जन तथा उसके अनेक अंगों के गुरुत्वपूर्ण विवेचन और प्रसार में उलझे रहते हैं; फलतः जो स्वयं नहीं हँसता और न दूसरों को हँसाता ही है वह भला श्रेष्ठ परिभाषा बनाने में कैसे सफल होगा? हास्य-पूर्ण व्यक्ति ही हास्य की सफल परिभाषा निर्मित कर सकेंगे; वे ही जीवन के वैषम्य को सहज ही पहिचान लेंगे; वे ही उस पर समधुर चिन्तन करेंगे और वे ही उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति भी करने में सफल हो सकेंगे। हास्य तो जीवन में व्याप्त है और ऐसे ही व्यक्ति जो जीवन में स्वयं लिप्त हैं उसको परख सकेंगे और उसका परिचय दूसरों को दे सकेंगे। सागर की गहराइयों को नापते हुये कच्छप और मगर-मच्छ, सागर के विशाल-वक्षस्थल पर खेलती हुयी चन्द्रकिरण की अठखेलियों से अनभिज्ञ ही रहेंगे। उसका व्यापक आनन्द तो वायुमण्डल में कलरव करता हुआ पक्षी-वृन्द ही उठा सकेगा।

जैसा कि हम पहले स्पष्टतया कह चुके हैं हास्य-विषय के गंभीर विवेचन के फल-स्वरूप ही हास्य की आत्मा की परख नहीं हो सकी और हास्य शब्द की दुर्गति भी बहुत हुई। विद्वानों तथा दर्शनज्ञों ने उसके तत्वों का जो विश्लेषण मोटी-मोटी पुस्तकों तथा. जिन भारी-भरकम सिद्धान्तों के रूप में किया उसके फल-स्वरूप हास्य तो हमसे दूर हो गया : केवल विश्लेषण हमारे हाथ लगा। व्याकरणाचार्यों तथा विश्लेषकों ने हास्य, परिहास, उपहास : व्यंग्य, कटूक्ति,

श्लेष; रसिकोक्ति, व्याजोक्ति; आमोद, प्रमोद, इत्यादि की नीरस तथा प्राणहीन परिभाषायें बनाकर हमारे सहज अनुभव को जटिल ही बनाया है। कुछ विद्वानों ने हास्य के वर्गीकरण तथा परिभाषाओं द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि मनुष्य उस वर्गीकरण के अनुसार ही साधारणतः हास्य प्रस्तुत करेगा। परन्तु सच तो यह है कि आधुनिक आलोचना-शैली इतनी विद्वत्तापूर्ण तथा विवेचनात्मक हो गई है कि जो बात सहज ही समझा दी जाय थोथी कही जायगी; और जो सहज ही समझ ली जाय महत्त्वहीन प्रमाणित की जायगी। हास्य की आत्मा वैज्ञानिक विश्लेषण के परे है।

(३)

कदाचित इस तथ्य का प्रमाण देने को आवश्यकता नहीं कि मनुष्य आदिकाल से हँसता आया है और मनुष्य होने के नाते यह उसका सहज, जन्मजात स्वभाव है। परन्तु भाषा की प्रगति और समाज का उत्थान धीरे-धीरे हुआ और ज्यों-ज्यों हमारे मानवी कार्यों की परिधि बढ़ती गई भाषा भी उसके साथ-साथ निर्मित होती गई। भाषा के मूल-रूप में, प्रायः हमारी कुछ भाव-भंगी अथवा उच्चरित स्वर ही रहे होंगे। अनेक प्राकृतिक जीवों के सम्पर्क में रहकर हमने उनके स्वरों को भी अपनाया होगा और शब्द-हीन नादों द्वारा ही अपना मन्तव्य स्पष्ट किया होगा। समय ने ही इन स्वरों और नादों को शब्द तथा चित्र रूप में अवतरित कर, भाषा का निर्माण किया। परन्तु हास्य का मूल स्रोत तो मानव के सहज स्वभाव में ही निहित है। इसी कारण एक श्रेष्ठ यूनानी आलोचक[1] ने कहा था कि मनुष्य एक ऐसा जीव है जो हँसता है। ऐतिहासिक रूप में, कदाचित, यह भी स्पष्टतः कहा जा सकेगा कि हास्य का मूल रूप हमें उस आदि बर्बर मानव में मिलेगा जिसने अपने विरोधी अथवा प्रतिद्वन्द्वी अथवा किसी हिंसक जीव को परास्त कर अथवा मौत के घाट उतार कर अट्टहास किया होगा। और कदाचित यही कारण है कि जिन विचारकों ने हास्य-विषय का अध्ययन किया यह सिद्धान्त रूप में मान लिया कि इसके मूल में विजय अथवा श्रेष्ठता की भावना अवश्य रही होगी। इसी आधार पर दूसरे श्रेष्ठ यूनानी दार्शनिक[2] ने यह कहा कि हास्य दूसरे व्यक्तियों की विफलताओं द्वारा इसलिये प्रस्तुत होगा कि हम यह सोचकर आनन्दित होते हैं कि हम स्वयं इस विफलता के शिकार नहीं। इसी विचार के आधार पर सत्रहवीं

---

१. अरस्तू
२. अफ़लातूँ

शती के एक श्रेष्ठ दर्शनज्ञ[1] ने यह सिद्धान्त बनाया कि हास्य इसी लिये प्रस्तुत होता है कि दूसरों की हीनता देखकर हममें एकाएक अपनी श्रेष्ठता की भावना का उदय होता है। फलतः मानव की विफलता एवं सफलता के द्वन्द्व स्वरूप ही हास्य अविर्भूत होगा। मानव की ऐतिहासिक प्रगति ने, कुछ समय पश्चात्, हास्य प्रदर्शन में विजय की भावना को हास्य का मूल स्रोत न माना और सहानुभूति भावना के नवीन तत्व के उसमें दर्शन किये। कदाचित, यह इसलिये सम्भव हुआ है कि मनुष्य की नैतिक प्रगति होती आई है और बर्बर मनुष्य का क्रूर हास्य अब सहानुभूति तत्व से ओत-प्रोत हो गया है। फलतः अब हमें दूसरे व्यक्ति का क्लेश चाहे वह हमारा प्रतिद्वन्द्वी ही क्यों न हो, हममें हास्य नहीं प्रस्तुत करता; हम विजय-भावना से उन्मत्त हो अट्टहास नहीं करते। उसके प्रति भी हममें सहानुभूति जागती है परन्तु दूर-दूर रहती है और हमारे द्वन्द्व का शमन भी करती है। परन्तु जैसा हम अगले प्रकरणों में स्पष्ट करेंगे, हमारा हास्य तभी प्रस्फुटित होगा जब हमारे प्रतिद्वन्द्वी की विफलता अथवा उसका कष्ट, अस्थाई अथवा काल्पनिक होगा; और हमारी सहानुभूति उस ओर से विरक्त रहेगी। सह-अनुभूति हास्य की घातक होगी। प्रायः आधुनिक काल में, हास्य के तत्वों का विवेचन देते हुए कुछ विचारकों ने यह विशिष्ट विचार प्रस्तुत किया है कि हास्य न तो क्षणिक विजय की भावना और न दूसरों के कष्टानुभव द्वारा अविर्भूत होगा; वह मानसिक असंगति की अनुभूति के पश्चात् ही (यह असंगति चाहे शरीर में हो, वेष-भूषा में हो; भाषा में हो; चाहे दृष्टिकोण और सिद्धान्तों में हो) जन्म लेगा। आज का हास्य अश्रु-विन्दुओं में मुस्कुराता है; मुस्कुराहट में अश्रु-बिन्दु झलकते देखता है।

संक्षेप में यदि वैज्ञानिक रूप में हास्य के प्रथम अवसर का अनुसंधान किया जाय और हमारे बर्बर पूर्वजों के हास्य का विश्लेषण संभव हो तो यह स्पष्टतया प्रमाणित हो जायगा कि हास्य केवल सुसंस्कृत तथा सभ्य समाज का ही गुण नहीं रहा। इसका मूल स्रोत प्रथम मानव के हृदय में था और तभी से समस्त मनुष्य वर्ग हँसता आया है। नवजात शिशु मुस्कुराते हैं; बालक क्रीड़ा समय किलकारी भरते हैं; युवाओं को हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं और वृद्ध अपनी संतोषप्रद मुस्कुराहट में जीवन का रहस्य छिपाये रहते हैं। मनुष्य समाज ही नहीं वरन् संसार के सभी प्राणी मात्र हास्य प्रदर्शित करते हैं; कलिका मुस्काती है; भौंरे गुँजन करते हैं; हरियाली हँसती है: प्रायः समस्त विश्व

---

१. टॉमस हॉब्स

के प्रत्येक प्राणी और जड़-जगत का प्रत्येक अंग हमारी सहज कल्पना के अनुसार आनन्दित हो मुस्कुराता है; हास्य प्रस्तुत करता है। प्रकृति का हास्य जब समाज में प्रतिबिंबित हुआ तो उसे अनेक प्राचीन त्योहारों द्वारा व्यक्त किया जाने लगा। यूनानियों ने जीवन के सेक्स-सम्बन्धी अंगों की पूजा अर्चना के आधार पर हास्य के प्रदर्शन के अनेक अवसर प्रस्तुत किये; रोमीय अपने 'सैटरनेलिया' नामक नृत्य तथा गायन महोत्सवों द्वारा हास्य का अविरल प्रसार करने लगे और मध्ययुगीन जीवन में मूर्ख महोत्सवों द्वारा अपूर्व हास्य की सृष्टि हुई और भारतीय होलीकोत्सव में इसी प्राचीन स्रोत का विकास दृष्टिगत होगा। संभवतः पहला मानव देवताओं की गम्भीर मुद्रा पर हँसा होगा। जब मानव ने अपने ही प्रतिरूप के आधार पर देवी-देवताओं को साकार किया और देवी-देवता सचमुच ही अपने को देवी-देवता समझ बैठे तो निश्चय ही मानव ने अट्टहास किया होगा।

यदि वैषम्यमूलक-सिद्धान्त द्वारा प्रसूत हास्य के मूल स्रोत का अनुसंधान किया जाय तो कदाचित हमें मानव, उसकी आत्मा तथा उसके शरीर को देखना होगा। ईसाई धर्म की एक युक्ति है कि ईश्वर ने अपने प्रतिबिम्ब स्वरूप मानव की सृष्टि की और जब मनुष्य की सृष्टि हुई तो आत्मा तो उसे ईश्वरीय मिली परन्तु शरीर नाशवान मिला। ईश्वरीयता तथा पार्थिवता; आत्मा तथा शरीर; सूक्ष्म तत्व तथा स्थूल पदार्थ दोनों के अपूर्व सम्मिश्रण द्वारा वह निर्मित हुआ। और इस विरोधाभासपूर्ण संयोग ने कैसे-कैसे रूप ग्रहण किये उसकी गणना असंभव होगी। अमूर्त आत्मा मूर्त शरीर में बन्दी कर दी गई; आध्यात्मिकता के पैरों बेड़ियाँ डाल दी गई; ईश्वरीयता पार्थिव बन्धनों में जकड़ दी गई और जिस शुभ दिन मानव ने इस विरोध का दर्शन किया और उसकी असंगति का अनुभव किया उसी दिन से हास्य का अविरल स्रोत बह चला। मनुष्य के जीवन में ईश्वरीयता तथा पार्थिवता के द्वन्द्व स्वरूप अपूर्व हास्य का आविर्भाव हुआ और जब तक यह द्वन्द्व बना रहेगा—इसके सुलझने की संभावना अनन्त काल तक नहीं—तब तक हास्य अविरल रूप में प्रवाहित होता रहेगा। मानव ने चाँद-सितारे तोड़ लाने की प्रतिज्ञा की; उसने इन्द्रधनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने का भार ओढ़ लिया, उसने सूर्य के रथ में जुते हुये अश्वों की बागडोर पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाया; उसने ऊषासुन्दरी के वरण का स्वप्न देखा और रजनी को चुनौती दी! परन्तु हुआ क्या? इतने में ही उसे भूख लग आई; उसका शरीर थक गया और वह शिथिल हो गया। आत्मा भला अपने महान दैवी कार्यों से क्योंकर विचलित होती; उसने थके

हुये शरीर पर कोड़े बरसाने शुरू किये। अपनी व्यथा भुलाने के लिये बेचारा शरीर मुस्कुराता रहा; हँसता रहा।

प्रायः संसार के सभी साहित्यों के आनन्द प्रसारक पात्र अथवा नाटकों, एकांकियों तथा कथाओं में प्रयुक्त विदूषक तथा अन्य विनोदी पात्र अपनी शारीरिक स्थूलता के कारण ही अधिक आनन्ददायी रहे हैं। इन विनोदी पात्रों ने सदैव अपने स्थूल, पार्थिव बन्धन की दुहाई दी और अपनी आत्मा को इस पार्थिव बंधन द्वारा कभी भी कुण्ठित नहीं होने दिया: वे स्वतः अपनी स्थूल-कायता पर हँसते रहे और साथ ही साथ हमें भी हँसाते रहे। उनकी आत्मा, उनकी मानसिक शक्ति, उनकी तीक्ष्ण बुद्धि सतत उनके पार्थिव शरीर से द्वन्द्व ठानती रही; उसने उनकी पार्थिवता का बन्धन कभी स्वीकार ही नहीं किया और इसी स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण वे सदा हमारे निकट रहे और हमारे प्रेम पात्र बने। उनके प्रति हमारी सहानुभूति सदैव जागृत रही; उनके प्रति हमने अपनी बंधुत्व-भावना पर कभी चोट नहीं आने दी; हमारे मानवी संबन्धों पर भी कभी आँच नहीं आने पाई और इसी कारणवश वे हमारे प्रिय पात्र हुए। और जब-जब उन्हें कोई कठिनाई हुई और उसपर उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा विजय पाई तो हम भी उन्हें बधाई देने आगे आये और बन्धुत्व के नाते उनके साथ-साथ जीवन का आनन्द लूटते रहे। नाटकों में प्रयुक्त बेचारे विदूषकों ने अपनी शारीरिक कमजोरियों के कारण कौन से अपशब्द नहीं सुने और उन पर कौन से लांच्छन नहीं लगाये गये परन्तु सोने के समान आग में तप कर वे हमारे लिये सदैव आनन्ददायी हुये; उनकी और हमारी मानवता में प्रगाढ़ संबन्ध सतत बना रहा। उनकी पार्थिवता के प्रति हमने सदैव अपनी सहानुभूति प्रकट की; उनकी मानसिक शक्ति के हम सतत प्रशंसक रहे। विदूषक वर्ग मानवी न्यूनताओं का प्रतीक है; उसके प्रति घृणा की भावना का प्रदर्शन असंभव होगा। प्रत्येक मानव में, विदूषक की कमजोरी अथवा उसके चरित्र के दोष अपना मुँह छिपाये पड़े रहते हैं और उनका वाह्य प्रकाश हमें आनन्ददायी होने लगता है। जब हमारी निजी कमज़ोरी किसी दूसरे व्यक्ति में प्रकाश पाती है तब हम सरलता से उसे हास्यास्पद समझ कर हँस पड़ते हैं। विदूषक, हमारी कमजोरियों के प्रतीक होने के कारण, अनन्त काल तक हास्य प्रदर्शन में सहायक होंगे।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसमें भी सन्देह नहीं कि हास्य तथा हास्य के आधार-भूत तत्वों ने अपनी रूप-रेखा समय के परिवर्तन के साथ-साथ बहुत कुछ बदल दी है। ज्यों-ज्यों मानव-समाज सभ्यता के पथ पर अग्रसर होता

गया है और होता जा रहा है हास्य के आधार तथा उसके मूल तत्व अपनी भी रूप-रेखा परिवर्त्तित करते जा रहे हैं। बर्बर मानव समाज का हास्य कुछ और था और सभ्य-समाज का कुछ और है; और बर्बर मानव के बर्बर हास्य की प्रगति और उसका संशोधन और उसके मूल तत्वों के परिमार्जन तथा परिष्कार की कहानी अत्यन्त रोचक होगी। परन्तु हास्य के इस ऐतिहासिक परिष्कार की कहानी का वर्णन न कर हम उसकी भौगोलिक सीमाओं को समीक्षा करेंगे जिससे उसके अनेक साधारण एवं विशेष स्वरूपों का दर्शन हमें सहज ही हो जायगा।

वास्तव में, हास्य सर्वव्यापी तो है, परन्तु सर्वव्यापी होते हुए भी प्रत्येक देश तथा प्रत्येक मानवी-समाज को वह विभिन्न रूप में प्रभावित करता है। यह विभिन्नता इतनी गहरी रहती है कि उसके द्वारा हम देश अथवा समाज-विशेष की आत्मा के सहज दर्शन कर लेते हैं। मनुष्य होने के नाते भी हास्य की व्यापक आत्मा हमें विभिन्न रूप में प्रेरणा देती रहती है परन्तु प्राणी मात्र समान रूप से नहीं हँसते; वे सर्वत्र किसी हास्य के सामान्य विषयाधार पर भी नहीं हँसते। कहा तो यह जाता है कि भौगोलिक सीमायें ही हमें एक दूसरे से पृथक किये रहती हैं परन्तु हास्य अपनी सीमायें और भी गहरे रूप में बाँधे रहता है और हमें एक दूसरे के समीप आने में बाधा प्रस्तुत किया करता है। प्रत्येक देश का हास्य पृथक रहता है; जिस वस्तु अथवा परिस्थिति को देख कर भारतीय हँसेगे उसे पाश्चात्य देशों के मनुष्य देख कर नहीं हँसेगे। जिन जीवन दृश्यों को देखकर रूसी मुस्कुरायेंगे उन्हें देख कर अंग्रेज विमुख रहेंगे और जिन परिस्थितियों द्वारा फ्रांसीसी समाज हास्य-प्रस्तुत करेगा वही परिस्थितियाँ अंग्रेज जाति को किंचित मात्र भी प्रभावित नहीं करेंगी। हास्य हमारी जातीयता-विशेष का द्योतक है इसका सबसे सरल प्रमाण यह है कि विदेश यात्रा में जब किसी जाति विशेष के व्यक्ति अपने देश के आचार-विचार के अनुसार किसी परिस्थिति विशेष को देखकर हँसते हैं तो उन्हें विदेशी समाज के व्यक्ति असभ्य अथवा अशिष्ट समझने लगते हैं। फलतः यह स्पष्ट है कि समाज विशेष के हास्यपूर्ण विषयाधारों को समझने में हम असमर्थ रहेंगे और यही कारण है कि किसी एक देश का हास्य दूसरे देश की भाषा में अनूदित नहीं हो सकता; प्रत्येक की अपनी विशेषता है; अपनी प्रतिभा है। उसे हृदयंगम करने में हमारी शिक्षा-दीक्षा भी बहुत काम नहीं देती; हम उससे प्रायः विमुख ही रहेंगे। यही कारण है कि आज तक, यद्यपि अनेक साहित्यकारों, कलाकरों तथा दर्शनज्ञों

ने हास्य के व्यापक स्वरूप की परिभाषा बनाने का प्रयत्न तो किया .परन्तु किसी ने भी पूर्णरूप से सफलता नहीं पाई। उसके दो चार तत्व विशेष को गिना कर ही वे सन्तोष पा गये। यही जटिल परिस्थिति हास्य-प्रसारक लेखकों के वर्गीकरण के संबन्ध में भी प्रस्तुत हो गई। जिन विभिन्न आधारों को लेकर लेखकों ने हास्य प्रदर्शित किया है उनमें विभिन्नता होते हुए भी इतनी समानता मिलेगी कि उनका वर्गीकरण असम्भव सा जान पड़ेगा। सभी के आधार पृथक् थे; दृष्टिकोण विभिन्न थे; शैली भी निराली थी परन्तु फिर भी हास्य की व्यापक आत्मा इन्हीं के आधार पर उनके वर्गीकरण की समस्या हल नहीं होने देती। कहीं पर हास्य संकोचपूर्ण तथा सलज्ज है; कहीं अशिष्ट तथा अश्लील; कहीं वह साधारणता की सीमा को पार करता है ; कहीं असाधारण कल्पना द्वारा प्रादूर्भूत है और इन समस्त परिस्थितियों में वह इतना चेतनाशील तथा गतिपूर्ण रहता है कि उसकी गतिशील आत्मा को परखना सहज नहीं। केवल उसकी परिभाषा हृदयंगम कर हम उसकी व्यापक आत्मा तक नहीं पहुंच सकते; हम उसके आधारों की पगदण्डी पर चल कर भी उसके अन्तर्गत की झांकी नहीं देख सकते; और न हम उन हास्यपूर्ण पात्रों को देख कर ही उसकी परख कर पायेंगे जो हमें युगयुगान्तर से हँसाते चले आये हैं।

भौगोलिक सीमाओं में मर्यादित हास्य-प्रदर्शन के सम्बन्ध में हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि हास्य स्वतः अपना प्रकाश नहीं पा सकता; उसको कुछ न कुछ अन्य आधारों की आवश्यकता अवश्य होगी। हास्य, व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष से सतत संबन्धित रहेगा और बिना इस संबन्ध की रक्षा किये अपनी सफल अभिव्यक्ति न कर पायेगा। इसके साथ-साथ कोई भी यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि हास्य अवश्यमेव प्रस्तुत होगा क्योंकि उसके लिये एक परिस्थिति विशेष तथा समाज के एक वर्ग-विशेष की आवश्यकता पड़ेगी। एक ही सामाजिक स्तर के व्यक्ति जिनकी शिक्षा-दाक्षा समान-रूप में, एक ही वातावरण के अन्तर्गत हुई है, किसी एक प्रकार की बात पर समान रूप से हंस सकेंगे। किसी अन्य वर्ग का व्यक्ति उसपर कदापि भी नहीं हंस पायेगा और किसी एक समाज-विशेष का हास्य दूसरे देश के समाज विशेष के हास्य से विमुख ही रहेगा। किसी समय विशेष का हास्य भी कालान्तर में अपना प्रभाव खो बैठेगा; वह देशी मर्यादा की परिधि में ही अपनी आत्मा का सफल विकास देख पायेगा। इसका प्रमाण यह है कि प्राचीन यूनानी समाज जब हास्य लेखक एरिस्टॉफेनीज़ के सुखान्तका रंगस्थल पर देखता अथवा पढ़ता था तो लोट-लोट जाता था परंतु आज हम उसमें न तो उतना

आनन्द ही पाते हैं और न उन्हें देखकर अट्टहास ही करते हैं। तत्कालीन यूनानी समाज को वे अपार आनन्द प्रदान करते थे परंतु हमारे लिये वे विशेषतः साहित्याध्ययन की वस्तु बन कर रह गये हैं। जिन-जिन व्यक्तियों, देवी-देवताओं; आचार-विचार को एरिस्टाफ़ेनीज़ ने हास्यास्पद बनाया वे हमारे अनुभव की परिधि के बाहर हैं, हम उनसे कहीं दूर जा पड़े हैं। हमें उस हास्य का थोड़ा बहुत अनुभव बहुत गहरे अनुसंधान के पश्चात् ही हो पाता है; हम सहज रूप में उन्हें पढ़ कर नहीं हँस पाते। यही कारण है कि हम अन्य यूरोपीय देशों के श्रेष्ठ सुखान्तकी अथवा प्रहसन-लेखकों की कृतियों को पढ़कर अप्रभावित ही रहते हैं। और जब तक हम अपनी कल्पना-शक्ति जागृत कर उस देश अथवा समाज के प्राणी नहीं बन जाते उनसे आनन्द की प्राप्ति नहीं कर पाते। वास्तव में हास्य ही देशों एवं राष्ट्रों की सीमा का परिचायक है, और भूगोल चाहे पार्थिव सीमायें कितनी भी स्पष्ट अथवा व्यापक रूप में बनाये हास्य सहज ही उनकी आध्यात्मिक तथा मानसिक सीमायें बाँध देगा। यही कारण है कि किसी एक देश का हास्य दूसरे देश के निवासियों को प्रभावित नहीं करता और न उसका अनुवाद ही, जैसा हम कह चुके हैं, सम्भव होता है। किसी विशेष प्रकार के हास्यपूर्ण कथन अथवा वक्तव्य अथवा कहानी से प्रभावित होने के लिये उसी स्तर के समाज की आवश्यकता पड़ेगी। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिये केवल शिक्षा से काम नहीं चलेगा। यह अधिकार जन्म-जात होना चाहिये; और हमारे आचार-विचार जन्म से ही वैसे होने चाहिये। यदि कोई व्यक्ति उसी सामाजिक स्तर का है जिस स्तर के व्यक्तियों द्वारा हास्य प्रस्तुत हुआ है तो उसे आनन्दित होने में कठिनाई न होगी। इसमें सन्देह नहीं कि हास्य रोदन से कम सार्व-लौकिक है। मनुष्य होने के नाते, हम किसी भी देश के दुःखी प्राणी से सहज ही सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं: उसका दुःख हमें भी वशीभूत कर सकता है। उसके साथ हम भी रो सकते हैं। परन्तु हास्य-क्षेत्र में यह सम्भव नहीं। किसी व्यक्ति विशेष का हास्य हमें साधारणतः प्रभावित नहीं कर पायेगा। जब तक वह हमारे समाज का न होगा हम उसके साथ नहीं हँस पायेंगे।

संक्षेप में, जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, समाज तथा साहित्य में हमें हास्य के दर्शन अनेक रूप में होंगे—कहीं हमें विदूषक की भाव-भंगी हंसी लायेगी; कभी हमें द्वेष द्वारा हास्य का प्रसार मिलेगा; कहीं प्रहसन में विषम परिस्थिति से हास्य प्रदर्शित होगा और कभी श्रेष्ठ सुखान्तकी हास्य का मार्मिक प्रदर्शन करेगी। वास्तव में, हास्य की आत्मा अत्यन्त रहस्यपूर्ण है; परन्तु इतना होते हुए

भी हम उसको परखने तथा हृदयगंम करने में सतत प्रयत्नशील रहे हैं । उसका अपना अलग संसार है ; उसका अपना जीवन है ; उसमें अद्भुत कल्पना का प्रदर्शन है । हास्य के प्रलाप में भी प्रलाप-मात्र न होगा, उसमें तर्क अन्तर्हित रहेगा । वह हमारे सम्मुख ऐसे अद्भुत कल्पनात्मक स्वप्नों का निर्माण किया करती है जिन पर समाज की अपूर्व श्रद्धा रहती है वह सर्व-साधारण समाज के सामूहिक कल्पनात्मक विचारों पर प्रकाश डाल कर हमारी सामाजिक चेतना सतत् जागृत करती रहती है । मनुष्य के यथार्थ जीवन द्वारा ही वह आविर्भूत है और वास्तविक रूप में वह एक प्रभृत कला है. और हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस रहस्यपूर्ण शक्ति को परिभाषा की परिधि में बन्दी नहीं किया जा सकता । वह शाब्दिक परिभाषा के परे है : उसमें इतना गतिशील जीवन प्रवाहित होता रहता है कि हम उसे जब तक समझें-समझें तब तक वह कहीं आगे निकल जाती है । प्रेम तथा जीवन के समान ही वह रहस्यपूर्ण तथा परिभाषा के परे है ।

कदाचित इस कथन में लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि हास्य की आत्मा सतत अपने मानवी संबंधों की परिधि में ही पल्लवित-पुष्पित होगी । उसके प्रदर्शन के लिये मानवी-पृष्ठ-भूमि सतत अपेक्षित होगी और जहाँ उसके मानवी-संबंधों पर आघात पहुँचेगा उसकी आत्मा निर्जीव हो जायगी और उसका किसी रूप में भी विकास नहीं हो पायेगा । हास्य मानवी-क्षेत्र में ही जन्म लेता है, विकास पाता है, परिपक्व होता है और इस क्षेत्र से दूर हटते ही उसका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है । हास्य का मानव-जीवन से वही संबंध है जो अन्य नक्षत्रों का ध्रुव तारे से है और वह इस संबंध की रक्षा अत्यन्त सावधानी से किया करता है । इस संबंध में साधारणतः यह प्रश्न उठता है कि हम जड़-जगत अथवा निम्न स्तर के प्राणियों को देखकर क्यों हास्य प्रस्तुत करते हैं । उदाहरण के लिये जब हम आकाश की तारिकावलि की शुभ्रआभा, चन्द्रिका की छटा, काले मेघों की चक्कर काटती हुई अलकावलियाँ देखते हैं तो हमें हँसी नहीं आती—वे हमें सुन्दर प्रतीत होती हैं, सौन्दर्य की अनुभूति देती हैं, हमारे भावना-जगत को उन्नत बनाती हैं परन्तु हमें हँसने पर बाध्य नहीं करतीं । इसके विपरीत जब हम बन्दर की किलकारी, तोते की दर्शनात्मक भाव-भंगी, दोनों पैरों पर बैठकर अमरूद कुतरती हुई गिलहरी इत्यादि को देखते हैं तो हमें बरबस मुस्कुराहट आ जाती है । इसका वास्तविक कारण यह है कि आकाश में प्रदर्शित दृश्यों तथा हमारी कार्य-शैली में कोई स्पष्ट संबंध दृष्टिगत नहीं परन्तु निम्न स्तर के जीवों के तथा हमारे कार्यों में बहुत कुछ

समानता दिखलाई देगी। और दोनों का सांकेतिक साम्य ही हास्य प्रस्तुत करेगा। साधारणतः हमें बैलों को देखकर हँसी नहीं आती, कुत्तों को देख कर भी हम नहीं हँसते और चुपचाप एक ओर जाते हुए हनुमान-परिवार को भी देख कर हम हास्य नहीं प्रदर्शित करते। परन्तु ज्यों ही हम तारिकावलि की किसी छोटी सी पंक्ति में, आधुनिक युग की प्रश्न-सूचक चिह्न समान 'कनक-छरी सी कामिनी' की कल्पना कर चलते हैं तो मुस्कुरा पड़ते हैं। चलते फिरते मेघ-पुञ्जों ने जब हमें अपने परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों के रेखाचित्र खिंच उठते हैं अथवा मानवी आकार के किसी भी रूप में कल्पनात्मक दर्शन होने लगते हैं तो हमें बरबस हँसी आने लगती है। कहीं हमें लम्बी दाढ़ियों के और कहीं घनी मूछों का आभास मिलेगा; कहीं किसी ऊँट पर सवार बन्दर और बन्दर के सिर पर चोटी का आकार दृष्टिगत होगा और हँसी रोके नहीं रुकेगी। इसी प्रकार बन्दर की किलकारी हमें अपने बाल-वृन्दों की खिझलाहट का चित्र प्रस्तुत करेगी और भोजनोपरान्त बानर दम्पति के एक दूसरे के सिर से चीलर बीन कर कुटुकने की क्रिया में हमें अपने देहातों के स्त्रियों के चित्र दिखलाई दे जायँगे। और ज्योंही बानर दम्पति अपनी पीठ अथवा दाढ़ी खुजलायेंगे हमें अपनी मानवी क्रियायें स्मरण आने लगेंगी और हम हँस पड़ेंगे। तोते की भाव-भंगी हमारा अपने पुत्र से वार्तालाप करने का चित्र खींच देगी और पिछले दो पैरों पर टिकी हुई अमरूद, कुतरती हुई गिलहरी हमें हमारी बाल्यावस्था की याद दिलाएगी। ज्योंहीं श्वान-दंपति, उछल-कूद मचाते हुए इधर-उधर घूमेंगे हमें अपने जीवन के अनेक अवसरों को आँख-मिचौनियाँ याद आएँगी और हम हँसे बिना न रह सकेंगे। बैलों की डकार में हमें कुछ वृद्ध-जनों की झलक दिखाई देगी और उनकी गम्भीर श्वास-क्रिया में कुछ परिचित व्यक्तियों की नासिकाओं का खर्राटा याद आएगा। इन उपरोक्त हास्य-प्रदर्शनों का मूल कारण यही है कि हमें निम्नकोटि का जीव थोड़े समय के लिए मानवी-रूप लिए दिखलाई देने लगता है और हमें अपने सहज स्वभाव की परछाईं दिखलाई देने लग जाती है। अतएव हास्य प्रदर्शन के लिए केवल यह आवश्यक ज्ञात होगा कि किसी प्रकार की मुद्रा, भाव-भंगी अथवा उछल-कूद हमारे सम्मुख उसी प्रकार के मानवी कार्यों का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करे। कभी-कभी जब हम सड़कों अथवा उद्यानों में विचरते हुए ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं जो विचित्र रूप में हैट लगाए रहते हैं अथवा जब कभी हम किसी अन्य व्यक्ति को खद्दर की टोपी किसी विलक्षण ढंग से लगाए देखते हैं तो हँसी फूट पड़ती है। इसका कारण यह नहीं कि स्वतः हैट अथवा टोपी में कोई विशेषता है :

विशेषता तो उस व्यक्ति में है जो उन्हें पहने हुए हैं। नरकुल के गुदे से बने हुए हैट और तीन गिरह खादी में हँसाने की शक्ति कहाँ ? सामर्थ्य है उस व्यक्ति में जो एक बहुत ऊँचे हैट से अपना नारियल समान सिर ढँके हुए है अथवा जो खद्दर की टोपी इस प्रकार पहने हैं जैसे मुर्गे के सिर पर कलंगी लगी हो। नीरस तथा निर्जीव वस्तु भी, मनुष्य का हाथ लगते ही हास्यपूर्ण हो जाती है; परन्तु साधारणतया ऐसे दृश्यों द्वारा प्रेरित हास्य मुस्कान रूप में ही प्रस्फुटित होगा। इसका कारण यह है कि जो कुछ भी समानता हमारे सम्मुख है वह स्पष्ट नहीं वरन संकेत रूप में ही परिलक्षित है। मुस्कान हास्य का मूल संकेत है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जीव यद्यपि मानवी भाव-भंगी दिखला तो रहा है परन्तु हास्य नहीं प्रस्तुत कर पाता। ऐसी परिस्थितियों में हास्य न प्रस्तुत होने का कारण यह होगा कि उस भाव-भंगी में मानवी अनुकरण के तत्व नहीं के बराबर है; अथवा उन चीजों का कार्य मानवी होते होते बच गया; उनकी समानता इतनी स्पष्ट अथवा पूर्ण नहीं कि हमें मुस्कान अथवा हंसी आये। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जीवों के कार्य के आदि में तो हमें मुस्कुराने की प्रेरणा मिलती है परन्तु उस कार्य की समाप्ति होते-होते उस कार्य में मानवीयता का संकेत विकास नहीं पाता फलतः हमें हँसी भी नहीं आती। साधारणतया बिना मानवी आधार के हास्य का प्रकाश संभव नहीं होगा। इस संबन्ध में यह सिद्धान्त भी विचारणीय है कि जब हम निम्न कोटि के जीवधारियों को मानवी कार्यों का अनुकरण करते देखते हैं तो हमें एकाएक हँसी नहीं आती और हास्य का प्रकाश कुछ विलम्ब से होता है। इस विलम्ब का कारण भी स्पष्ट है। जीवों के और अपने कार्यों में समानता का संकेत पाने के लिये मस्तिष्क को परिश्रम करना पड़ता है; थोड़े बहुत विलम्ब से मस्तिष्क यह संकेत स्पष्ट कर देता है और हमारे मुख पर हँसी का प्रकाश आने लगता है। सच तो यह है कि हास्यपूर्ण कार्य अथवा वस्तु अथवा दृश्य तथा हँसनेवाले व्यक्ति का संबंध एकांगी न होकर अनेकरूपेण रहता है। व्यक्ति का भाव-व्यापार एक रहस्यमय पहेली है जिसकी हम स्पष्ट झांकी नहीं देख पाते। एक ही प्रेरणावश, मनुष्य कार्य नहीं करता : अनेक प्रेरणायें अव्यक्त तथा अस्पष्ट रूप में उस कार्य में सहयोग देती रहती है इसीलिये मनुष्य से हास्य का संबन्ध भी अनेक रूपेण रहेगा और उसकी हम सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कर पायेंगे।

जैसा प्रामाणिक रूप में कहा जा चुका है, हमारे दर्शनवेत्ताओं ने हास्य को न तो कोई महत्ता प्रदान की और न उसका कोई गंभीर विवेचन ही प्रस्तुत

किया। उन्होंने मनुष्य की परिभाषा बनाते हुये कहा था कि मनुष्य वह जन्तु है जो हँसता है; परन्तु यह परिभाषा बहुत ठीक नहीं उतरती। कहीं अच्छा होता कि हमारे दर्शनवेत्ता यह कहते कि मनुष्य वह जन्तु है जो हास्य का कारण है तो हमें अधिक सन्तोषप्रद परिभाषा मिलती क्योंकि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि निर्जीव वस्तु भी मानवी संबंधों के कारण ही हास्यपूर्ण होती है।

कुछ दर्शनज्ञों के अनुसार, साधारण रूप में, हास्य के प्रसार के लिये मानवी भावना तथा सहानुभूति का अभाव आवश्यक होगा। यदि सहानुभूतिपूर्ण भावना कहीं भी प्रस्तुत हुई तो हास्य का न तो जन्म होगा न प्रसार। हास्य की आत्मा तथा हमारी सहानुभूति में वैर है और दोनों एक दूसरे को फूटी आँख भी नहीं सुहाते। परन्तु ज्यों ही किसी शान्त, सहानुभूति से दूर व्यक्ति से उसका संबंध बैठा कि हास्य प्रस्फुटित हुआ। उदासीनता अथवा विरक्ति ही इसकी जननी है और भावानुभूति इसकी घोर शत्रु। परन्तु इसके यह तात्पर्य नहीं कि हम उस व्यक्ति पर हसेंगे ही नहीं जो हमारी करुणा अथवा सहानुभूति जाग्रत करेगा। हम उस पर भी हँस सकते हैं परन्तु हमें उसी समय अपने प्रेम और अपनी सहानुभूति तथा अपनी करुण भावना को तिलांजलि देनी होगी।

इस तर्क से इस तथ्य का संकेत मिलता है कि यदि हमारा समाज केवल विशुद्ध तथा अमूर्त ज्ञान का समूह होता तो हास्य का अविरल प्रसार होता और हमारे आँसू सदा के लिये विदा हो जाते। इसके विपरीत जहाँ पर अपार सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तियों का समूह होगा, जहाँ हमारी अनुभूति सतत जागृतावस्था में रहेगी वहाँ हास्य कभी जन्म नहीं लेगा और उसकी आत्मा कुण्ठित रहेगी। ऐसे व्यक्तियों का समाज हास्य को न तो कभी परख सकेगा और न उसका प्रसार ही कर सकेगा। इसका प्रमाण सरल है। उदाहरण के लिये जो कुछ भी समाज में हो रहा है आप उसमें भाग लेने लगिये; जो कुछ भी कहा सुना जा रहा हो उसमें सहयोग दीजिये, जो कुछ भी किया जा रहा हो उसमें हाथ बटाइये: अपनी सहानुभूति पर से सब नियन्त्रण हटा लीजिये और उसे खुलखेलने दीजिये। इसका फल यह होगा कि हमें अपना जीवन दुःखपूर्ण हताश तथा नीरस ज्ञान होने लगेगा। हमें प्रत्येक वस्तु में दुःख की ही छाया दिखाई देगी। परन्तु ज्यों ही हम अपने को समाज से पृथक कर लेंगे, ज्यों ही हम विरक्त हो समाज पर दृष्टिपात करेंगे, ज्यों ही हम अपनी सहानुभूति पर परदा डाल देंगे त्यों ही हमें हास्य की छटा का विस्तार हर ओर मिलने लगेगा। नृत्य-गृहों अथवा संगीतालयों में जब तक हम स्वयं नाचते-गाते रहते हैं, व्यस्त रहते हैं हास्यास्पद परिस्थिति को समझ नहीं पाते और ज्योंही हम उससे

अलग होकर नृत्य करने वालों तथा तान छेड़ने वालों की भावभंगी देखते हैं त्योंही हँस पड़ते हैं और हमें विश्वास तक नहीं होता कि हम भी उसी गोष्ठी में थोड़ी ही देर हुये सम्मिलित थे। इस तर्क से यह पूर्णतया प्रमाणित ज्ञात होगा कि हास्य के लिये सहानुभूति तथा सहयोग की भावना का शमन नितान्त आवश्यक है। उसके लिये यह अनिवार्य है कि अनुभव-जगत् कुछ क्षणों के लिये जीवन से विरक्त हो जाय। हास्य. हमारे ज्ञान-जगत् से ही संबंधित है; हमारे हृदय से सम्पर्क बढ़ाते ही वह निर्जीव हो जायगा।

परंतु केवल विशुद्ध ज्ञान से संबंधित रहने पर भी हास्य प्रदर्शित न हो सकेगा। हमारे ज्ञान के अनेक अंगों तथा उसके अनेक स्तरों में यातायात हुए बिना उसका जन्म संभव नहीं। यदि हमारा ज्ञानविशेष हमारे मानस के अन्य ज्ञान के स्तरों से विरक्त अथवा विमुख रहेगा तब भी हास्य का प्रकाश नहीं होगा। हास्य तो एक प्रकार की प्रतिध्वनि है; और यह प्रतिध्वनि एक दूसरे से टक्कर लेती रहती है; एक दूसरे का पीछा करती रहती है। जब तक प्रतिध्वनि नहीं गूँजती हास्य को प्रेरणा नहीं मिलती। जिस प्रकार ऊँचे महलों के गुम्बद के नीचे ज्यों ही हम आवाज़ लगाते हैं समस्त वायुमण्डल प्रतिध्वनित हो उठता है उसी प्रकार हास्य की आत्मा तभी अवतरित होगी जब प्रतिध्वनि पर प्रतिध्वनि उठती जायगी। परन्तु इन प्रतिध्वनियों की भी सीमा हमें दिखाई देगी और वे सतत स्वरित नहीं रह सकेंगी। हास्य की प्रतिध्वनि एक वृत्त के अन्दर ही घूमती रहती है, फलतः हास्य सदा सामूहिक होता है, समाज विशेष का वृत्त ही उसे घेरे रहता है। इस सामाजिक वृत्त के बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं। उदाहरण से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा।

प्रायः जब हम रेल अथवा बस में यात्रा करते हैं तो हमें दो चार व्यक्ति आपस में कहकहा मारते दिखाई देते हैं कभी वे किसी गोष्ठी विशेष के अनुभवों को दुहरा कर हँसते हैं अथवा साथ-साथ संग्रहीत अनुभवों को सोचकर ठहाका लगाते हैं। परंतु जो व्यक्ति इस समाज के बाहर है; जिसने उनकी गोष्ठी में भाग नहीं लिया, जो उनसे सर्वथा अपरिचित है कभी भी नहीं हँसता। हां, यदि हम भी उस गोष्ठी के सदस्य होते; हमने भी वही अनुभव साथ-साथ प्राप्त किये होते तो हम भी उस हास्य में साथ देते ओर कहकहा लगाते। जब एक व्यक्ति से पूछा गया कि अमुक मन्दिर में जब कीर्तन हो रहा था तो उसके आंसू क्यों नहीं निकलते तो उसने तत्काल उत्तर दिया कि 'हम उस गोष्ठी के सदस्य ही कब थे जो रो पड़ते?' यही हास्य का भी

नियम है। उसके लिये व्यक्तियों का समूह अथवा समाज विशेष की गोष्ठी आवश्यक है। हास्य को एक ही रहस्यपूर्ण संबन्ध की आवश्यकता पड़ेगी और जहाँ पर यह रहस्यपूर्ण संबन्ध प्रस्तुत रहेगा हास्य अपने आप प्रदर्शित हो जायगा। हँसने वालों में भी एक विशेष प्रकार के समानानुभव, एक विशेष प्रकार के भ्रातृभाव की भावना अनिवार्य होगी; क्योंकि बिना इसके हास्य प्रस्तुत न हो सकेगा। इसी लिये यह एक लोकोक्ति बन गई है कि जितनी गहरी भीड़ होगी उतने ही गहरे कहकहे लगेंगे।

परन्तु इतना होते हुए भी हास्य के मार्ग के एक बहुत बड़ी कठिनाई, जिसका हम संकेत दे चुके हैं; दृष्टिगत होगी। वह कठिनाई यह है कि बहुत से हास्यप्रद विचार एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित न हो सकेंगे। अंग्रेज़ी समाज का हास्य रूसी समाज अथवा आइरिश अथवा भारतीय समाज के हास्य से विभिन्न होगा और एक का अनुवाद दूसरे की भाषा में नहीं हो सकेगा। इसका स्पष्ट कारण सामाजिक विभिन्नता है। प्रत्येक देश के समाज की एक विशेष विचारधारा रहती है; एक परम्परा विशेष द्वारा समाज नियन्त्रित होता है; कुछ विशेष रूढ़ियाँ मान्यता पाती हैं। सामाजिक आचार-विचार में भी विशेषता रहती है फलतः एक देश का हास्य दूसरे के या तो समझ के बाहर होगा अथवा एक दूसरे के प्रति विमुख रहेगा। हास्य की आत्मा को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिये उसकी सामाजिक सीमाओं तथा उसकी भाषा सम्बन्धी कठिनाई को सतत ध्यान में रखना होगा। प्रत्येक देश के हास्य को समझने के लिये वहाँ की सामाजिक परिस्थिति तथा वहाँ के विशेष आचारविचार की जानकारी आवश्यक होगी। इसीलिये यह प्रायः देखा गया है कि रूसी, अंग्रेज़ी समाज के हास्य को नहीं समझ पाते और अंग्रेज़ी समाज का हास्य भारतीय भाषाओं में सफलरूप से अनूदित नहीं हो सकता।

वास्तव में, हास्य तभी सार्थक तथा प्रभावपूर्ण होगा जब उसको अपना विशेष वातावरण मिले; बिना अपने अनुकूल तथा सहज वातावरण के वह पनप नहीं सकेगा। हास्य तथा समाज विशेष का चोली-दामन का सम्बन्ध है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जब कोई वर्ग विशेष अपनी गोष्ठी से किसी एक को चुन कर उस पर अपना ध्यान एकाग्र करेगा, जब इस वर्ग विशेष की मानवी भावनाएँ सुप्त हो जायँगी और सहानुभूति पर पूर्ण नियन्त्रण रहेगा और केवल हमारे ज्ञान को ही कार्यशील रहने का आदेश मिलेगा तभी हास्य का जन्म हो सकेगा।

(५)

यह ऐतिहासिक सत्य है कि साहित्य-क्षेत्र में, हास्य-प्रसारक लेखक अनेक नहीं विरले ही हुये हैं। साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ होना तो यही चाहिये था कि हास्य-प्रसारक लेखकों की बाढ़ सी आ जाती परन्तु ऐसा न हुआ। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि हास्य के प्रसार के लिये अत्यन्त शिष्ट तथा सभ्य समाज अपेक्षित है। जिस समाज में श्रेष्ठतर शिष्टता होगी; जिस समाज के पुरुष और स्त्रियाँ ऐसे श्रेष्ठ मानसिक स्तर पर रहेंगी जहाँ भावों तथा विचारों का सहज परिष्कार हुआ करेगा, वहीं हास्य का सफल प्रसार सम्भव होगा। जिस समाज के नर-नारी श्रेष्ठ विचारों के परिचायक होंगे; जिनकी चेतना-शक्ति तीव्र होगी; जिनकी दृष्टि पैनी तथा अनुभूति व्यापक होगी वही समाज उच्च कोटि का हास्य प्रस्तुत कर सकेगा। यही कारण है कि आदिकाल में, मानव-समाज में परिष्कृत हास्य की न्यूनता रही। बर्बर मनुष्य क्रोध, दंभ, ईर्ष्या तथा अज्ञान का शिकार था। वह अपने बर्बरतापूर्ण विचारों में ही लिप्त रहता; नारी को जीवन-विहीन समझ कर उससे पशु-समान व्यवहार करता और श्रेष्ठ सामाजिक आदर्शों से अनभिज्ञ रहता। अपने दैनिक जीवन में न तो उसे शान्ति प्राप्त थी और न श्रेष्ठ मानवी भावों द्वारा वह प्रेरित हुआ करता था। इसके साथ-साथ उसका मानसिक स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था। पार्थिव शरीर का पालन-पोषण ही उसका सर्वस्व था, यही उसका महान् ध्येय था। ऐसे बर्बर समाज में हास्य का प्रसार क्योंकर होता।

कुछ विचारकों का मत है कि श्रेष्ठ हास्य के प्रदर्शन के लिये केवल विलक्षण मानसिक शक्ति अपेक्षित है; परन्तु यह विचार भ्रामक है। श्रेष्ठ हास्य में मानवी मस्तिष्क को चेतनता प्रदान करने की अपूर्व शक्ति निहित रहेगी; उसमें एक नवीन ज्योति जगाने की क्षमता रहेगी; उसमें विचित्र प्रेरणा रहेगी। और श्रेष्ठ हास्य लेखक में ये गुण सहज ही विद्यमान रहेंगे; उसमें ये गुण जन्मजात होंगे। जब कभी वह किसी विषयाधार पर हास्य प्रदर्शन का प्रयास करेगा उसे चुने हुये विषय में अपूर्व नवीनता के दर्शन होंगे। वह पत्थर में मूर्ति देखेगा; और मूर्ति में मानवी हृदय का दर्शन करेगा। साधारणतः हम यह देखेंगे कि कोई हास्य पूर्ण बात कहते ही पीठ ठोंकी जाती है; तारीफ़ के पुल बाँधे जाते हैं; क़हक़हे लगाये जाते हैं; परन्तु श्रेष्ठ हास्य उस ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। उसका केवल एक लक्ष्य है : वह है मानव-मस्तिष्क। घूम-फिर कर वह वही लक्ष्य-भेद करने की चेष्टा करेगा। महाभारत वीर धनुर्धर

अर्जुन समान उसकी आँखें जीवन-जल में प्रतिबिम्बित मानवी मस्तिष्क की ओर ही एकाग्र रहेंगी और वहीं वह हास्य-सर-संधान करेगा। यह तो रहा लेखक का उत्तरदायित्व। परन्तु दर्शक और पाठक का भी उत्तरदायित्व इस ओर कम नहीं। पाठक तथा श्रोतावर्ग में उसी श्रेष्ठस्तर की चेतना आवश्यक होगी; वहाँ भी उतनी ही एकाग्रता अपेक्षित रहेगी। परन्तु इन दोनों वर्गों का साथ-साथ रहना कभी-कभी ही सम्भव हुआ है फलतः श्रेष्ठ हास्य लेखकों की न्यूनता सतत बनी रही। इस न्यूनता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण भी है।

हास्य-प्रसारक लेखक को समाज के अनेक शत्रुओं का सामना करना पड़ा है और ऐसे शत्रु कदाचित अन्य-क्षेत्रों के साहित्यकारों को नहीं मिले। समाज का एक बहुत बड़ा अंग हास्य से वैसा ही दूर भागता है जैसे चंद्रिका की छटा से पागल। ये व्यक्ति जीवित रहते हुये भी निर्जीव रहते हैं। वे रुलाने से रोते नहीं; हँसाने से हँसते नहीं; जिलाने से जीते नहीं। वे पत्थर समान जीवन-सागर में निःशक्त हो डूब जाते हैं। उनके होठों पर न तो मुस्कान खेलती है और न उनमें ललक ही रहती है। रोग-शय्या छोड़े हुये व्यक्ति के समान उनका समस्त शरीर रक्तहीन तथा चेतनाविहीन रहा करता है। वे जीवन-पथ पर, आँखों पर पट्टी बाँधे निरन्तर चला करते हैं। वे व्यक्ति और घटनाओं के संघर्ष रूप में प्रस्तुत आनन्द का अनुभव नहीं करते। वे जीवन की ज्योति से वैसे ही घबरा उठते हैं जैसे खिलखिलाती धूप से नेत्र-रोग का रोगी। वे हास्य को अश्लील तथा अनैतिक समझते हैं। जीवन के विशाल मनोरंजक दृश्य उन्हें फूटी आँख भी नहीं सुहाते। इनके अतिरिक्त समाज में एक दूसरे वर्ग के व्यक्ति भी हैं जो एक दूसरे छोर पर बैठे रहते हैं। उनका केवल एक कार्य है—सतत हँसते रहना। निर्जन पथ पर चलते हुये बैलों के गले में बँधी हुई घण्टियों के समान ये भी निरंतर हँसते रहते हैं। बे-बात-की-बात पर हँसना उनका स्वभाव-सा हो जाता है और वे यह निश्चित नहीं कर पाते कि घटना अथवा विचार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उन्हें हँसने के अतिरिक्त कुछ और भी करना चाहिये अथवा नहीं। सभी परिस्थितियों तथा सभी विचारों पर हास्य का प्रदर्शन अर्थहीन ही होगा। और जब तक हास्य प्रयोजनहीन रहेगा, निकृष्ट रहेगा। इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्रेष्ठ हास्य की आत्मा दोनों वर्गों के व्यक्तियों से अछूती रहेगी। गंभीरता की मूर्ति बनें हुए प्रथम वर्ग के व्यक्ति नीरस, निर्जीव तथा प्राणहीन होकर श्रेष्ठ हास्य की परख कभी न कर पायेंगे। उनका हास्य-रस-विहीन जीवन उन व्यक्तियों का सा होगा जो संसार के सरस, मानवी जीवन को नीरस नैतिकता के पाश में बाँधने का विफल प्रयत्न

करते रहते हैं। दूसरे वर्ग के व्यक्तियों का प्रयोजनहीन हास्य इतना अनावश्यक होगा कि जीवन उसका कुछ भी मूल्य नहीं लगायेगा। प्रायः इन्हीं दोनों वर्गों की शत्रुता के फलस्वरूप मानवी जीवन में हास्य की आत्मा अपने सम्पूर्ण उत्कर्ष पर नहीं आ सकी।

ऐतिहासिक रूप में हम यह भी प्रमाणित कर चुके हैं कि हास्य को कभी भी मानवी समाज ने श्रेष्ठता नहीं प्रदान की। उसे सदा हीन तथा निकृष्ट ही समझा गया। गांभीर्य को ही श्रद्धांजलि मिली; हत-भाग्य हास्य केवल निम्न वर्ग के व्यक्तियों का जीवनसाथी रहा। साहित्य रूप में भी हास्य को दीर्घ-काल के उपरांत थोड़ी बहुत महत्ता मिल सकी। यूनानी साहित्य ने दुःखातंक क्षेत्र में ही जीवन-सत्यों का साक्षातकार किया और प्रसिद्ध आलोचक अरस्तू ने भी दुःखांत भावना को ही महत्वपूर्ण समझा। परन्तु सुरादेव की पूजा, अर्चना, गायन तथा नृत्य के सुखांत-क्षेत्र में हास्य को आश्रय मिला। तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों समाज प्रगति करता गया त्यों-त्यों हास्य को मान्यता मिलती गई।

इसमें सन्देह नहीं कि हास्य की आत्मा को परखने के लिये हमें गांभीर्य तथा उच्छृंखलता दोनों से ही यथासंभव दूर-दूर रहना पड़ेगा; और तभी हम उसकी श्रेष्ठता की पहिचान कर सकेंगे। इस कथन में थोड़ा बहुत सत्य हो सकता है कि हमारे अवकाश में, मनोरंजन के लिये, हास्य अपेक्षित रहेगा; और साधारण मनुष्य वर्ग में यही विचार प्रचलित भी है; परंतु श्रेष्ठ हास्य इस कोटि का नहीं होगा। उसे मानसिक चंचलता से कोई प्रयोजन नहीं और न वह निष्प्रयोजन रंगरलियों को ही महत्वपूर्ण समझता है। हास्य वही श्रेष्ठ है जो भीगी पलकों को छूता हुआ अपना रास्ता लेता है; और इसीलिये कुछ विचारकों का मत है कि हास्य और रोदन में कदाचित बहुत कम अंतर है। हँसते-हँसते रो पड़ने का दृश्य किसने नहीं देखा और रोती हुई मुखाकृति पर चंचल हास्य की छाया से हम सभी परिचित हैं।

साधारणतः मानव जीवन के सभी आधार हास्य प्रदर्शन के लिये फलप्रद होंगे। सामाजिक-जीवन के आवेश और उसकी लालसायें, ईर्ष्या और गर्व, विफल आशायें, तर्कहीन व्यवस्थायें, दम्भ और पाखंड, पंडित तथा वितण्डावादी, अतिव्ययी, मितव्ययी, फैशनग्रस्त नारियाँ, बाल की खाल निकालने वाले वैयाकरण, सभी हास्य के सफल आधार रहे हैं। हास्य की आत्मा, हमें यथार्थ जगत का परिचय देने में प्रयत्नशील रहती है और यथार्थ का परिचय कदाचित बहुत कम व्यक्तियों को प्रिय होगा। दम्भ तथा पाखण्ड पर पड़े हुये आवरण को

सत्य बात की बात में हटा देगा। और मानव का यथार्थ जीवन अपनी नग्नावस्था में हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जायगा; परंतु यह नग्नावस्था हमें रुचिकर नहीं; हमें यथार्थ से प्रेम नहीं; हम कृत्रिम वातावरण में ही सन्तोष पाते हैं; यही मानवी स्वभाव भी है। मानव समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो हास्य को तभी तक सहन कर पाते हैं जब तक वह केवल करुणा का प्रसार करे और उनके भाव-संसार को अत्यधिक रूप में उद्वेलित न करें। परंतु श्रेष्ठ हास्य की आत्मा पर इस प्रकार का बन्धन नहीं लग सकेगा और वह मनोनुकूल हमें जीवन-सत्य का परिचय देती रहेगी। हास्य के कार्यशील होते ही हमे सामूहिक यथार्थ जीवन के अंग हो जाते हैं और हम पर भी सत्य सूर्य की प्रखर रश्मियाँ पड़ने लगती हैं। जिस प्रकार एक्सरे की किरणें हमारे शरीर के अंदर प्रविष्ट हो वहाँ का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देती हैं उसी प्रकार हास्य हमारे मानस के ऊपर पड़े हुए आडम्बरपूर्ण आवरण को हटाकर हमारा यथार्थ भावना जगत् हमारे सम्मुख ला खड़ा करता है। तब हमारे सामने प्रश्न यह आता है कि क्या हम वास्तव में ऐसे हैं? क्या हम इतने बुरे हैं? और यह प्रश्न सम्मुख आते ही हास्य की आत्मा हमें मुँह चिढ़ाती हुई दूर हो अदृश्य हो जाती है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि श्रेष्ठ हास्य का मूल स्रोत तर्क है। उसी के आधार पर हास्य अपना जीवन व्यापक बनाता रहता है। जितने ही अव्यक्त रूप में उसमें तर्क निहित रहेगा उतने ही व्यापक रूप में हास्य प्रस्फुटित होगा।

सामाजिक तथा पारिवारिक क्षेत्र में, हास्य, स्त्री और पुरुष के मानसिक द्वन्द्व-क्षेत्र का सफल दिग्दर्शक भी रहा है और इसी के आधार पर अनेक श्रेष्ठ सुखान्तकियों तथा प्रहसनों की रचना भी संभव हुई है। तर्कपूर्ण पुरुष अपना कार्यशील जीवन व्यतीत करते हुये स्थूल भावनाओं की पुतलियों से अनायास टकरा जाता है; उनके अश्रु-बिन्दुओं के झूले में झूलने लगता है। कभी वह स्त्री के भाव-संसार में डूबते हुए तर्क की पतवार हाथ से छोड़ देता है और उसी समय किनारे पर स्थित हास्य की आत्मा ठहाका मार हँस पड़ती है। कभी पुरुष स्वयं नारी सुलभ भावना जगत का निर्माण कर उसमें विचरण कर आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा में किसी तर्कपूर्ण नारी से द्वन्द्व छेड़ बैठता है और हास्य की आत्मा मुस्काती हुई उनकी ओर देखती हुई चली जाती है। इस द्वन्द्व के केवल दो माध्यम हैं; पहला है संवाद और दूसरा व्यक्तिगत दृष्टिकोण। इस द्वन्द्व के दोनों वर्ग, तर्क की परिधि से दूर, अपने सहज भावना ससार में रहते हुये, गर्व, दम्भ, पाखण्ड, पाण्डित्य; कोमलता,

सुकुमारिता, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा इत्यादि को जब तक प्रदर्शित करते रहेंगे तब तक हास्य का भी सफल प्रदर्शन होता रहेगा।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि हास्य की आत्मा यथासंभव दोनों वर्गों को एक सूत्र में बाँधने में संलग्न रहती है और यही उसका महान् आदर्श भी है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों की दृष्टि जीवन की ओर एकाग्र रहती है और जब तक दोनों के दृष्टिकोण में असमानता अथवा द्वन्द्व अथवा विभिन्नता एवं पार्थक्य प्रस्तुत हुआ करेगा हास्य का प्रदर्शन होता रहेगा। प्रायः हास्य का यही उद्देश्य रहेगा कि दोनों का दृष्टिकोण एक समान हो जाय; दोनों का पार्थक्य मिट जाय; दोनों का द्वन्द्व समाप्त हो जाय। और जब तक यह नहीं होता हास्य कार्यरत रहेगा। इस दृष्टि से दर्शनज्ञ तथा हास्य-प्रसारक लेखक एक ही वर्ग के व्यक्ति होंगे। दर्शन का प्रमुख लक्ष्य, जीवन में साम्य की प्रतिष्ठा करता है और यही लक्ष्य श्रेष्ठ हास्य लेखक का भी रहा है। दर्शन और हास्य दोनों का आदर्श एक है; ध्येय एक है, लक्ष्य एक है। दोनों ही जीवन को ओर एकाग्र हो देखते हैं, दोनों ही उसके रहस्य को हृदयंगम करने का प्रयास करते हैं; दोनों ही उसमें साम्य प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। एक का माध्यम है—चिन्तन और दूसरे का—यथार्थ उद्घाटन। यथार्थ का परिचय देना ही दोनों का मूल ध्येय है। दर्शनज्ञ केवल उन्हीं को प्रिय रहे हैं जो तर्क से विमुख नहीं और हास्य लेखक भी उन्हीं को रुचिकर हुये जो सत्य एवं यथार्थ के प्रेमी थे। परंतु संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो यथार्थ से प्रेम कर सकें; उसकी चोट सहन कर सकें और यही कारण है कि हम दर्शनज्ञों को सनकी तथा हास्य लेखकों को भांड़ इत्यादि कह कर उन्हें दूर-दूर रखने का प्रयत्न करते रहते हैं।

हास्य की विशिष्ट आत्मा का विचरण क्षेत्र मानवी-विचार-क्षेत्र रहा है और इसी क्षेत्र में वह फूले-फलेगी। इस आत्मा से प्रेम करने तथा उसे रुचिकर बनाने के लिये हमें जीवन से प्रेम करना पड़ेगा; हमें मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से परखना पड़ेगा तभी हम मानव जीवन की न्यूनताओं, उसकी कमज़ोरियों तथा उसके रहस्य को समझ पायेंगे। हास्य हमारे इसी मानवी अनुसंधान का सफल सहायक है।

पूर्व के साहित्य में प्रायः हास्य की नितान्त कमी रही। इसका कारण यह नहीं कि पूर्व के मनुष्य हास्य से विमुख एवं विरक्त थे; उनमें हास्य की ओर नैसर्गिक आकर्षण था परन्तु अनेक कारणवश उसका अवतरण साहित्य में संभव न हो सका। जिन देशों के मानवी समाज में पर्दे की प्रथा थी और स्त्री-

वर्ग पुरुषों के साथ-साथ, सामाजिक कार्यों में हाथ न बँटा सकता था और न उनमें समता प्राप्त करने की लालसा ही थी वहाँ सतत हास्य की न्यूनता रही; हास्य की आत्मा का वहाँ सहज विकास संभव न हुआ। हास्य का सम्यक प्रस्फुटन वहीं संभव हो सकता था जहाँ स्त्री तथा पुरुषवर्ग कन्धे से कन्धा मिलाकर जीवन-पथ पर चलते; जहाँ मनुष्य की बर्बर भावनाओं का परिष्कार होता चलता; और जहाँ दोनों वर्गों की दृष्टि जीवन-सत्यों पर समरूप से एकाग्र रहती। जिन देशों में ऐसी परिस्थिति न थी वहाँ का हास्य कुण्ठित रहा। न तो उसका विकास ही हुआ और न उसे कोई श्रेष्ठता ही प्राप्त हो सकी। सफल हास्य-प्रदर्शन के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि समाज में समता का आदर्श प्रसारित हो; समाज का कोई भी वर्ग हीन तथा निम्नकोटि का न समझा जाय; जहाँ एक वर्ग में दूसरे वर्ग से बराबरी से टक्कर लेने की शक्ति हो। यदि ऐसा न होगा तो वहाँ का हास्य अशिष्ट, तथा अश्लील एवं क्रूर होगा। परन्तु पश्चिम में, हास्य प्रसार के लिए ऐसी असुविधाजनक परिस्थिति न थी। वहाँ के समाज में स्त्री तथा पुरुषवर्ग क़दम में क़दम मिलाकर चल सकता था; एक दूसरे की गति-विधि से भली-भांति परिचित था; दोनों में समानता का आदर्श था; दोनों ही जीवन के यथार्थ की ओर सहज रूप में देखकर उसका आनन्द उठा सकते थे। इसी कारण हास्य का स्तर न गिरा और उसका संशोधन निरंतर होता रहा। दोनों वर्गों के जीवन-स्वातन्त्र्य के कारण ही यह विकास संभव हुआ। स्त्री-वर्ग के सामाजिक तथा मानसिक भाव-संसार के परिष्कार बिना श्रेष्ठ हास्य का निर्माण कठिन ही नहीं वरन् असम्भव होगा। पारिवारिक जीवन में व्यस्त, अपने निजी सुखों का सहर्ष त्याग करने वाली नारी जिसका जीवनादर्श केवल बलिदान था श्रेष्ठ हास्य के सफल निर्माण तथा प्रदर्शन में सहयोग न दे सकती थी, फलतः पूर्व के साहित्य में हास्यरस के साहित्य की न्यूनता बनी रही। और जब कभी हास्य प्रस्तुत भी हुआ तो न तो उसमें उच्चकोटि की श्रेष्ठता थी और न व्यापकता। वह हास्य निम्नकोटि का ही हो सका और जहाँ कहीं थोड़ी बहुत भी स्वतन्त्रता तथा सामाजिक समानता का आदर्श मान्य रहा, कुछ न कुछ मात्रा में, हास्य अवश्य प्रस्तुत हुआ परंतु वहाँ उच्चकोटि की शिष्टता दृष्टिगत न हुई। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन हम आगामी प्रकरणों में प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक समाज में, यद्यपि शिष्ट तथा साहित्यिक हास्य प्रस्तुत करने के सुनहरे अवसर प्रस्तुत हैं और सामाजिक जीवन में स्वातन्त्र्य की भावना अत्यन्त व्यापक रूप में व्याप्त है फिर भी हास्य-साहित्य

की विशेष कमी है। इसमें सन्देह नहीं कि हास्य, जीवन का श्रेष्ठ संबल है क्योंकि इसके सहारे सांसारिक जीवन-पथ की अनेक कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं और हम कण्टकाकीर्ण मार्गों में हँसते-खेलते चले चलते हैं। इसके साथ ही साथ हमें आज के पूँजीवादी समाज में अज्ञान तथा तर्कहीनता, दम्भ, पाखण्ड इत्यादि के नित्य नवीन रूप दिखाई देते हैं जो सफल लेखक द्वारा हास्यपूर्ण रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। हमारे आजकल के समाज में विचित्र तथा अन्यान्य रहस्यपूर्ण विषमतायें तथा निदानहीन रोग व्याप्त हैं और इस समाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक रोगों के नये-नये चिकित्सक भी दिखलाई देते हैं और साथ ही साथ तर्क तथा ज्ञान, यथार्थ प्रियता तथा स्पष्ट-वादिता का इतना अधिक बोलबाला है कि कोई भी विषमता सरलता से मुंह नहीं छिपा सकती। तब फिर श्रेष्ठ हास्य-साहित्य की कमी क्यों है ? इस रहस्यपूर्ण कारण की ओर हम पहले संकेत दे चुके हैं। इसका कारण है—पाठक वर्ग की उत्तरदायित्वहीनता। हास्य जीवन के पाखण्ड और मूर्खताओं पर ही जीवित है; सुबुद्धि द्वारा ही वह अपने शिकार ढूंढ निकालता है और जब तक पाठक-वर्ग में अपने ऊपर स्वयं हंसने की शक्ति न हो; जब तक उनमें यथार्थ को परखते हुये भी मुस्कुराने की आदत न हो; और यथार्थ को परखकर भी उस ओर विमुख रहने की चेष्टा न हो तब तक हास्य-साहित्य की प्रगति न हो सकेगी। हास्य की तीक्ष्ण सुबुद्धि, कुशल तथा पैनी दृष्टि वाले शिकारी समान अपने शिकार के पीछे-पीछे मन्द-गति से चलती रहती है। शिकार चाहे कितना भी तेज़ क्यों न भागे उसे विश्वास रहता है कि उसका निशाना कभी ख़ाली नहीं जायगा और वह मनोनुकूल उसे धराशायी कर देगी। उसे न तो कभी क्रोध आता है और न वह कभी हताश होती है; घृणा और द्वेष से वह कहीं दूर रहती है। घृणा को तो वह घोर शत्रु समझती है क्योंकि घृणा के आवरण में स्वतः दंभ, आलस्य, संकुचित भावना इत्यादि छिपी रहती है। और जब यही अवगुण उसके शिकार हैं, तो वह भला स्वयं उन्हें कैसे अपना सकती है। मानवता तथा प्रेम से वह प्रेरणा ग्रहण करती है; सुबुद्धि से वह शक्ति पाती है और अज्ञान तथा मूर्खता के आखेट में अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करती है। मूर्खता जब ज्ञान का पाखण्ड बनाती हैं और पाखण्ड जब शुभेच्छा का आवरण पहनता है तो सुबुद्धि-पूर्ण हास्य की आत्मा अपने आखेट पर निकल पड़ती है।

कुछ लेखकों का विचार है कि श्लेष तथा हास्यपूर्ण शब्दावली प्रयोग करने वाले व्यक्ति ही सफल हास्य के परिचायक होंगे। यह धारणा भ्रममूलक है।

भाषा के अनेकरूपेण प्रयोग द्वारा प्रस्तुत हास्य, हास्य तो अवश्य है परन्तु वह श्रेष्ठ नहीं ; महत्वपूर्ण नहीं । शब्दों के उलट-फेर तथा अनर्गल प्रयोग और लम्बी शब्दावली की बहुलता हास्य प्रस्तुत कर तो देगी परन्तु उसमें विलम्ब होगा और विलम्ब श्रेष्ठ हास्य का घातक है । उसमें भी बिहारी के दोहों की शक्ति होनी चाहिये : 'देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभोर'। हास्य की श्रेष्ठता इसी में है कि वह हमारे मानस में हास्य लहरी प्रवाहित करे और मानसिक हास्य ही उच्चकोटि का हास्य होगा ; अन्य वर्ग के हास्य उसकी श्रेष्ठता न ग्रहण कर सकेंगे ।

इस संबंध में हमें यह न विस्मृत करना चाहिये कि सुबुद्धि ही श्रेष्ठ हास्य की जननी है ; और अन्यान्य वर्गों का हास्य इसी पर आधारित है । पाश्चात्य देशों के साहित्य में कदाचित् अंग्रेज़ी साहित्यकारों का हास्य फ्रांसीसी तथा इटालियन लेखकों के हास्य से अधिक श्रेष्ठ है । यह सत्य है कि प्रायः अंग्रेज़ी साहित्यकार व्यंग्य के क्षेत्र में सर्वोपरि रहे और परिहास के क्षेत्र में उनकी मौलिकता प्रमाणित रही । वे स्वभावतः वाक्चातुर्य में पटु होते हैं परन्तु उनका समस्त भाव-संसार नैतिकता का आवरण पहने रहता है और यही कारण है कि व्यंग्य तथा परिहास क्षेत्र में अंग्रेज़ी साहित्य अद्वितीय है ।

श्रेष्ठ तथा सुबुद्धिपूर्ण हास्य के लिये यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति अथवा दृष्टिकोण एवं स्वभाव के प्रति हास्य प्रदर्शित किया जाय उसमें हमारी सहानुभूति तथा हमारा प्रेम भी संलग्न रहे । श्रेष्ठ हास्य-लेखक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें आत्मीयता की व्यापक भावना हो और जो कुछ भी संशोधन अथवा सुधार का संकेत वह दे उसका वह स्वंय भी भागी हो । हास्य जब सहानुभूति और आत्मीयता के स्तर से गिरता है तो व्यंग्य का स्वरूप ग्रहण करता है । जब लेखक अपने शिकार को चोट पहुँचाता हुआ उस पर अपने अश्रु भी बहाता चलता है और चोट की ओर से उसका ध्यान बटाने की चेष्टा करता है तो वह व्याजोक्ति का प्रसार करता है । और जब हास्य की भावना व्यापक रूप में अपने शिकार को कभी चोट पहुँचाती है, कभी उस पर आँसू बहाती है, कभी आत्मीयता का प्रकाश करती है, कभी करुणा का प्रदर्शन करते हुए उसका नग्न अथवा यथार्थ रूप प्रदर्शित करती है तो परिहास का अवतरण होता है । वास्तव में श्रेष्ठ हास्य की आत्मा हमारे दृष्टिकोण में ही निहित रहती है और दृष्टिकोण द्वारा ही वह अपने शिकार ढूंढती रहती है । जिस प्रकार से अविकिसित पुष्प को उसकी पत्तियां घेरे रहती हैं और उसके विकास में सहयोग देती हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ हास्य की भावना मानव

स्वभाव को घेर कर उसका विकास एवं परिष्कार करने की चेष्टा करती है। श्रेष्ठ हास्य हमारे मानसिक क्षेत्र में ही फूलता-फलता है; वहीं से वह अपनी व्यापक प्रेरणा ग्रहण करता है। व्यंग्य-लेखक स्पष्टतः नैतिकता का पुजारी रहेगा और सामाजिक दोषों के पीछे सतत् पड़ा रहेगा। समाज-सुधार ही उसका प्रमुख लक्ष्य होगा। व्याजोक्ति-लेखक अपने चंचल मनोविकार का अनुसरण करता है। व्याजोक्ति व्यंग्य का परिहास रूप है और नैतिकता के आग्रह के अनुसार उसमें क्रोध और क्रूरता का अंश प्रस्तुत रह सकता है। परन्तु यह असंदिग्ध है कि जो व्यंग्य उच्छृंखल तथा आवश्यकता से अधिक स्पष्ट रहेगा श्रेष्ठ हास्य प्रदर्शन में विफल होगा। श्रेष्ठ हास्य-लेखक की सहज भावनायें विचित्र रूप में अनुरंजित रहती हैं; वैषम्य को वे सहज ही पहिचान लेती हैं और अपने रंग से उसे भी मनोनुकूल अनुरंजित करती चलती हैं। हृदय और मस्तिष्क दोनों ही के सहयोग द्वारा जो हास्य प्रस्तुत होगा उसकी श्रेष्ठता अद्वितीय होगी। सुखांत तथा दुःखांत भावना का सहज सम्मिश्रण जहाँ संभव होगा वहीं श्रेष्ठ हास्य-लेखक का जन्म होगा और उच्चतर हास्य-साहित्य की अवतारणा होगी।

श्रेष्ठ हास्य-लेखक मानव की आदि बर्बरता को जब सभ्यता का वाह्या-डम्बर अपनाते देखता है तो कार्यशील हो उठता है। जिस प्रकार रात्रि के अंधकार में जन-पथ के पहरेदार अपनी चोरबत्तियों के प्रकाश में खुली खिड़-कियाँ और दरवाज़े देखकर सावधान रहने का आदेश देते हैं उसी प्रकार परिष्कार की नैतिक भावना की चोरबत्ती मानवी आडम्बरों के प्रति हमें सजग रहने का आदेश देती है। प्रायः हास्य-लेखक के प्रति हम अपनी अश्रद्धा रखते हैं और उसके विरचित साहित्य को हीन समझते हैं। और वह केवल इसीलिये होता है कि न तो हम श्रेष्ठ हास्य-लेखक के आदर्श से परिचत रहते हैं और न उसके द्वारा प्रदर्शित हास्य का ही ठीक-ठीक अर्थ लगा पाते हैं। हम उसे मानव चरित्र को वीभत्स रूप देने का अपराधी ठहराते हैं; उसके हास्य द्वारा हमें सर्प-दंश की पीड़ा का अनुभव होता है और हम उस पर सतत् यह आरोप लगाते हैं कि वह मानव-जीवन को ओछा, हीन तथा निकृष्ट रूप देता है; वह ग़रीबी और दरिद्रता को भी निकृष्ट तथा हीन प्रमाणित करने में कुछ उठा नहीं रखता। यह विचार भ्रामक है और ये आरोप प्रमाणहीन हैं। श्रेष्ठ हास्य-लेखक मानव चरित्र को अपना शिकार नहीं बनाते वरन् उसके वाह्याडम्बर की ओर संकेत करते हैं; वे मानवता को नहीं वरन् उसका आवरण पहने हुए बर्बरता को हास्यास्पद रूप देते हैं। हास्य की

श्रेष्ठ आत्मा तो निकृष्टता को छू भी नहीं सकती। हीन वस्तुएं उसकी दृष्टि में अग्राह्य हैं। दुःख और अभाग्य के पास वह फटकती ही नहीं; उस पर हँसने की बात तो दूर रही। वह दरिद्रता तथा दीनता को हास्यास्पद नहीं बनाती; हास्यास्पद वह तभी बनती है जब दरिद्रता राजतिलक का स्वप्न देखती है और दीनता बिना अपनी शक्ति परखे किसी अन्य बड़ी शक्ति से टक्कर ले बैठती है। श्रेष्ठ हास्य की सफल अभिव्यक्ति हमारे मानसिक क्षेत्र में ही संभव है और मुस्कान उसका सफल माध्यम है।

किसी भी देश की सभ्यता का माप हम उस देश के हास्य-लेखकों के साहित्य को पढ़कर सहज ही लगा सकते हैं। देश जितना ही असभ्य होगा उतना ही उसका हास्य क्रूर, बर्बर तथा तुमुलनादयुक्त होगा। और जो देश जितना ही सभ्यता के पथ पर अग्रसर रहेगा उतना ही उसका हास्य सरस, सहानुभूतिपूर्ण, मानवी तथा मुस्कानपूर्ण रहेगा। बर्बरता शरीर के माध्यम से हँसती है, सभ्यता मानसिक रूप में मुस्कान प्रदर्शित करती है। बर्बर देश के हास्य में मध्यान्ह के सूर्य की तीक्ष्णता रहेगी, सभ्य देश के हास्य में शुभ्र चन्द्रिका का आभास मिलेगा। जिस प्रकार विशाल सागर के वक्षस्थल पर पक्षी कलरव करते हुए अपना शिकार चुपचाप ढूँढ निकालते हैं और सागर पुनः शांत हो जाता है उसी प्रकार हास्य की व्यापक भावना जीवन-सागर पर उमड़ती हुई अपना शिकार ढूँढकर मुस्कान रूप ले शांत हो जाती है। मानव जीवन में जहाँ कहीं भी दम्भ तथा पाखण्ड होगा, ईर्ष्या तथा द्वेष प्रसारित रहेगा, गर्व, आडम्बर, वितण्डावाद का प्रदर्शन होगा; जहाँ तर्कहीनता होगी, निर्लज्जता होगी, डींग और शेखी होगी, अभिमान और दर्प होगा, घृणा तथा विद्वेष होगा, तुच्छता तथा उद्दण्डता होगी, असंगति तथा मूर्खता का साम्राज्य होगा वहीं हास्य को प्रेरणा मिलेगी; वहीं उसे जीवन मिलेगा और वहीं सरस तथा मानवी हास्य का प्रसार होगा। जो समाज श्रेष्ठ हास्य की आत्मा को पहिचान कर उसका अभिवादन कर सकेगा वह न तो कभी आशाविहीन रहेगा और न उसका जीवन ही नीरस हो पायेगा। श्रेष्ठ हास्य की आत्मा समस्त मानव समाज को एक अपूर्व मंगल-सूत्र में बाँधे रहती है; उसकी व्यापक छत्र-छाया के नीचे सहानुभूति तथा सुख का अविरल प्रवाह रहता है। वह मावता की परिचायक है; मानवता की पोषक है।

इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार संसार की अनेक वस्तुओं का दूषित प्रयोग हुआ है अथवा हो रहा है उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी हास्य की मर्यादा गिरा दी जा सकती है क्योंकि मानव-समाज के आदिकाल के क्रूर

एवं बर्बर हास्य से हम आज तक परिचित हैं। परंतु जैसा हम सिद्धांत रूप में कह चुके हैं कि हास्य की आत्मा श्रेष्ठता तभी ग्रहण कर पायेगी जब उसमें सहज गाम्भीर्य होगा और केवल मुस्कान द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होगी। मरुभूमि में इधर-उधर छिपी हुई हरित भूमि को देखकर जिस प्रकार यात्री अपरिमित आनंद का अनुभव करते हैं उसी प्रकार नीरस जीवन-क्षेत्र में बिखरी हुई हास्य की आत्मा अपरिमित रूप में आनंददायिनी होगी। श्रेष्ठ हास्य की परख सभ्य समाज का चिन्ह है; और जो समाज श्रेष्ठ हास्य का संबल लिये चलेगा वह अन्ततोगत्वा श्रेष्ठता के पद पर सहज ही आसीन हो जायेगा।

प्रस्तुत विवेचन में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से हास्य की आत्मा का विवेचन आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत किया जायगा और उसकी समीक्षा के उपरान्त हास्य के अन्यान्य नैसर्गिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार; उसका सामाजिक महत्व ; उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति तथा उसकी उपयोगिता पर विचार किया जायगा। मानव-समाज के व्यक्तियों मे प्रेमावरोध; उनका जड़वत कार्य; (एकांगी दृष्टिकोण; व्यक्तिगत दोष जो समस्त समाज को दूषित कर सकते है; असामाजिक कार्य; असाधारण आचार-विचार; पक्षपात; व्यक्तिगत भाव-भंगी; ढोंग तथा मानसिक असंगति; विस्मरणशीलता) जीवन का वैषम्य तथा जीवन की क्रीड़ा प्रियता—समस्त हास्यात्मक रचनाओं का नैसर्गिक आधार रहा है और भविष्य में भी रहेगा। हो सकता है कि कोई दोष ऐसा भी हो जो दुखान्तकी की परिधि में भी आ जाय परन्तु उस परिधि से, हास्य की आत्मा, उसे सहज ही बाहर ले आती है और उस दोष को अपने माध्यम से प्रदर्शित करती है। साधारणतया हमें यह न भूलना चाहिये कि वैज्ञानिक दृष्टि से केवल दोष हास्यास्पद नहीं होते अनेक गुण भी ऐसे हैं जो हास्यास्पद हो जायंगे और यह इसीलिये होगा वे गुण साधारण स्तर के न होकर अतिशयोक्ति की परिधि में पहुँच जाते हैं; अथवा उस गुण का कोई तत्व विशेष ऐसा होता है जो हास्य की परिधि में आ जाता है। धन-संचय गुण है परन्तु कृपणता अवगुण; न्याय प्रियता गुण है परन्तु जब वह दूसरों के लिए भी हो तभी तक। प्रायः मानवी दोष इतने अधिक हास्यास्पद नहीं हो पाये है जितने गुण हास्यास्पद हुए है: जड़वत गुणों से बढ़कर और कौन सी वस्तु अधिक हास्यापद हो सकती है ?

इससे यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि गुणों का आधिक्य अथवा उनकी अपरिमितता स्वतः हास्यास्पद होगी। वे हास्यास्पद तभी होंगे जब समाज से उनका सामंजस्य न बैठ पायेगा। गुणों का अतिक्रम भला दोष-

पूर्ण कैसे होगा जब गुण स्वतः हास्यास्पद नहीं ? परन्तु ये गुण जब समाज की मांग से कहीं आगे बढ़ जायंगे और समाज की आत्मा पीछे रह जायगी तो वे अवश्य ही हास्यास्पद होंगे। गुणवान होना ही पर्याप्त नहीं: सामाजिकता की रक्षा करते हुए गुणवान होना अपेक्षित है। और जब कभी भी इस सिद्धान्त की अवहेलना होगी हास्य की सृष्टि होगी। फलतः यह सिद्धान्त भी स्वतः सिद्ध है कि हास्य-प्रदर्शन की फलप्रद सामग्री हमारे आचार-विचार क्षेत्र से ही एकत्र होगी। मानवी दोषों की अनैतिकता नहीं वरन उनकी सामाजिक असंगति हो हास्य का प्रधान कारण प्रतीत होगी। परन्तु स्मरण रहे कि ये मानवी-दोष ऐसे न हों जो हमारी सहानुभूति जाग्रत करें; हमे करुणार्द्र करें; हमें भयभीत करें। यदि वे कहीं ऐसा कर बैठे तो हास्य की झलक कहीं दूर से भी नहीं मिलेगी। अतएव हास्य की आत्मा हमारे मानसिक क्षेत्र में ही पल्लवित पुष्पित होती दिखलाई देगी—भावना-क्षेत्र से उसका संबंध न तो अपेक्षित है और न फलप्रद।

फलतः यह स्पष्ट है कि जब लेखक अथवा कलाकार हमारे भावना-क्षेत्र को अछूता रखेगा और उसे सुप्त कर देगा तभी हास्य का आर्विभाव होगा। हम किसी गंभीर घटना को देखते हुये भी उसे गंभीर मानने पर तैयार न होंगे; और हास्यास्पद पात्र अथवा हास्यास्पद कार्य हम अपनी मानसिक दृष्टि से ही देखेंगे; वह हमारे भावना क्षेत्र से कहीं दूर होगा; हमारे सम्मुख वह कठपुतली ही रहेगा।

इसी प्रकार हमारी शारीरिक भावभंगी भी हास्य का प्रसार करेगी। शारीरिक भाव-भंगी द्वारा हम अपनी भावनायें प्रकाशित करते रहते हैं; वह हमारी मूक भावनाओं की भाषा है; किसी दृष्टिकोण विशेष का संकेत है। परन्तु इस भावभंगी का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं: वह अचानक अपने आप ही प्रदर्शित होने लगती है; हमारी इच्छा-शक्ति से उसका कोई स्पष्ट संबंध नहीं। ये शारीरिक संकेत शारीरिक कार्यों से विभिन्न रहेंगे: टहलने के समय हमारे हाथ विचित्रतापूर्वक अनिच्छित रूप में आगे-पीछे होने लगते हैं; कुछ व्यक्ति अपनी आँखे विचित्र रूप में अकारण ही मिचकाते हैं और कुछ व्यक्ति कुर्सी पर बैठे हुये अकारण बाइसिकिल सी चलाया करते हैं। कार्य सतत इच्छित होंगे: भावभंगी अथवा संकेत अनिच्छित रहेंगे। कार्य करने में व्यक्ति का समस्त शरीर संलग्न रहता है परन्तु भावभंगी अथवा संकेत-प्रदर्शन व्यक्ति के किसी अंग विशेष द्वारा हो हुआ करेगा और व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर अथवा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से उसका कोई संबंध न रहेगा। इसके

साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि भावों के अनुपात में ही कार्य का प्रदर्शन होगा और धीरे-धीरे दोनों में अन्योनाश्रय प्रस्तुत हो जायगा। जिस अनुपात में भावना तीव्र होती है उसी अनुपात में कार्य में संलग्न-शक्ति भी तीव्र रहती है तत्पश्चात् कार्य में संलग्न शक्ति उसी अनुपात में कार्यरत हो जाती है जिस अनुपात में उसे भावना प्रेरित करती है। शारीरिक संकेत में एक विचित्र आकस्मिकता निहित रहती है : (लड़ते-झगड़ते हुये व्यक्ति एकाएक अपनी असाधारण तथा अनिच्छित भाव-भंगी बना लेते हैं) परन्तु उनका सतत यही आग्रह रहता है कि हम न तो उस घटना को ही गंभीर समझें और न उस परिस्थिति को ही कुछ महत्व दें। और ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि शारीरिक संकेत अथवा भाव-भंगी पर केन्द्रित होने लगती है त्यों-त्यों हास्य की आत्मा भी प्रस्फुटित होने लगती है। इसी सिद्धान्त पर आदर्श सुखान्तक भावना भी आधारित रहेगी। हमें यह आभास मिलने लगता है कि कदाचित इस व्यक्ति के लिये कोई परिस्थिति-विशेष आवश्यक नहीं; वह किसी भी परिस्थिति में रह कर इसी प्रकार की भाव-भंगी प्रस्तुत करेगा और हास्य की सफल सृष्टि होगी। हास्यास्पद व्यक्ति के लिये परिस्थिति की विशेषता आवश्यक नहीं। वह स्वतः हास्यास्पद है। प्रायः सुखान्तक अथवा हास्य-पूर्ण नाटकीय पात्र का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सतत् इसीलिये हास्य का प्रसार करेगा कि उसका किसी विशेष परिस्थिति से प्रेम नहीं : यदि वह कृपण है तो प्रत्येक परिस्थिति में वही गुण अथवा दोष प्रदर्शित करेगा और यदि वह ढोंगी है तो सभी परिस्थितियाँ उसके गुण-दोष के प्रकाश में प्रयुक्त हो सकती हैं। स्पष्ट है कि नाटकीय पात्र को सामाजिक असंगति तथा दर्शक की तटस्थता और सहानुभूति में ही हास्य का मूल स्रोत निहित रहेगा।

हम यह भी संकेत दे चुके हैं कि पात्र की विस्मरणशीलता भी हास्य प्रदर्शन का फलप्रद आधार रही है। विस्मरणशीलता जितनी गहरी होगी, हास्य उतना ही व्यापक होगा। परन्तु व्यक्ति चाहे कितना भी विस्मरणशील क्यों न हो वह हास्य तभी प्रस्तुत कर पायेगा जब वह अपने व्यक्तित्व के केवल किसी एक या दो विशेषताओं से अनभिज्ञ रहेगा। सम्पूर्ण विस्मरणशीलता प्रलाप मात्र होगी। वह तभी फलप्रद रूप में हास्य प्रस्तुत करेगो जब वह एकांगी[1] हो : पात्र को उसका ध्यान भी न आये।

---

१. प्रायः वही संवाद अत्यन्त हास्यपूर्ण हुये हैं जिनमें किसी व्यक्ति की एकांगी विस्मरणशीलता प्रदर्शित रही है। अतः मधुपान करती हुई पत्नी से जब स्वयं

प्रायः श्रेष्ठ हास्य-पूर्ण नाटकों तथा प्रहसनों में ऐसे ही पात्रों का प्रयोग हुआ है जो अपनी विरुद्धमति तथा मानसिक असंगति के शिकार रहे हैं। सत्य की सराहना करता हुआ असत्यवक्ता, ईश्वर की निंदा करता हुआ पुजारी; मांस की निंदा करता हुआ सामिष भोजी; दान की महत्ता घोषित करता हुआ कृपण इत्यादि सफलतापूर्वक हास्य प्रस्तुत करेंगे। इन सब पात्रों में हम व्यक्ति की एकांगी विस्मरणशीलता का परिचय पायेंगेः उन्हें समाज से विमुख रह कर कार्य करते देखेंगे। विस्मरणशीलता व्यक्ति को असामाजिक बनाती है और इसीलिये हास्य का अविर्भाव होता है। मनुष्य के जड़वत कार्य इसके प्रमाण हैं कि वह सबकी ओर से विमुख है; विस्मरणशील है ; हास्यास्पद है। उसके जड़वत, कठपुतली समान कार्य हमें उनका अनुकरण करने पर बाध्य करते हैं। क्योंकि मनुष्य जन्म से अनुकरणशील प्राणी है। इन्हीं दोषों के कारण ऐसे हास्यापद व्यक्ति अपना वर्ग विशेष बना लेते हैं ; अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व ग्रहणकर लेते हैं। इसी जड़ता, विस्मरणशीलता, असामाजिकता तथा अनुकरणात्मक प्रेरणा देने के फलस्वरूप व्यक्ति हास्यास्पद होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। समाज अपनी सुव्यवस्था स्थायी रखने के लिये इन दोषों का सतत निराकरण करता रहेगा और हास्य की आत्मा, मानवी आत्मा के समान ही अमर रहेगी।

समस्त हास्य-क्षेत्र के पर्य्यवेक्षण के पश्चात् हमें यह प्रतीत होगा कि प्रायः चार मूल सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही हास्य के आत्मा की परख हो सकेगी और ये सिद्धान्त मूलतः मनस्तल शास्त्र तथा मनोविज्ञान से संबंधित रहेंगे। श्रेष्ठ विचारकों की विचारधाराओं के अवगाहन पश्चात् हमें यह प्रमाण मिलने लगेगा कि समस्त मानवी-हास्य इन्हीं चार मूल सिद्धान्तों द्वारा प्रमाणित होगा और केवल एक सिद्धान्त के आधार पर ही मानवी हास्य की व्यापक आत्मा की रूप-रेखा पहिचानी नहीं जा सकेगी। मनस्तलशास्त्रियों ने मानवी प्रेम-व्यापार में अवरोध की भावना द्वारा हास्य का आर्विभाव देखा; मनोविज्ञानज्ञों ने जड़वत कार्यों की पुनरावृत्ति में ही हास्य का मूल-स्रोत प्रमाणित किया और दूसरे सामाजिक विचारकों ने वैषम्य की भावना तथा सहज क्रीड़ा प्रवृत्ति द्वारा

नशे में चूर पति यह कहता है कि "प्रिये! तुमने अत्यधिक शराब पी ली; अब न पीयो क्योंकि तुम्हारा चेहरा मुझे बिलकुल धुंधला दिखाई दे रहा है"—तब एकांगी विस्मरणशीलता प्रस्तुत होगी। एकांगी विस्मरणशीलता ही सफल हास्य की जननी है।

ही हास्य की सृष्टि के दर्शन किये। सभी विचारकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तत्वपूर्ण उदाहरणों को एकत्र कर प्रमाण प्रस्तुत किये। परन्तु सबसे अधिक विचारणीय तत्व यह है कि सबके प्रमाण एवं उदाहरण एक से नहीं; उनमें बहुत गहरी विभिन्नता दृष्टिगत होगी। कभी-कभी तो ऐसा ज्ञात होगा कि ऐसे हास्यपूर्ण कार्य जो सिद्धान्त विशेष की परिधि में नहीं आ सके, जान-बूझकर अलग कर दिये गए और वे ही उदाहरण ढूँढ़ निकाले गये जो विचार-विशेष की पुष्टि करें। यदि समस्त विचारक एक ही आधार पर और समान उदाहरणों द्वारा अपने सिद्धान्त प्रमाणित करते तो विवेचन की कठिनाई बहुत कुछ दूर हो जाती और क्रम से हम एक सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य-प्रदर्शन के समस्त आधारों को हृदयंगम कर लेते। परन्तु उदाहरणों की असामानता तथा सिद्धान्तों की अपूर्व मौलिकता एवं नवीनता इस विवेचन-प्रणाली में अव्यवस्था प्रस्तुत करेगी। अतः विवेचन की स्पष्टता की दृष्टि से एक सिद्धान्त के अन्तर्गत जितने उदाहरण थे प्रस्तुत कर दिये गये तत्पश्चात् दूसरे, तीसरे तथा चौथे सिद्धान्त विशेष की समीक्षा आरम्भ की गई है।

आधुनिक युग में, मनस्तत्वशास्त्र ने, हमारे मानवी जीवन की अनेक गुत्थियां सुलझाई हैं और अनेक विषमताओं को स्पष्ट किया है फलतः मनस्तत्व-शास्त्र द्वारा नियंत्रित सिद्धान्त को ही पहले पहल प्रश्रय दिया गया। मनोविज्ञान ने भी मानव-मस्तिष्क का यथेष्ठ अवगाहन किया और उसके द्वारा भी नियंत्रित सिद्धान्त कम महत्वपूर्ण नहीं। समाज-शास्त्रियों ने भी मनुष्य के दैनिक क्रियाकलाप के अनुसंधान में समुचित विद्वत्ता तथा मानसिक सूझ का व्यवहार किया है। फलतः क्रम से इन चार विशिष्ठ सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है जिनके अन्तर्गत अनेक हास्याधारों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। जैसा हम स्पष्टतः कह चुके हैं केवल एक सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य की व्यापक आत्मा की परख नहीं हो सकेगी और हमे अनेकरूपी हास्य के लिये अनेक विशिष्ठ सिद्धान्तों का अध्ययन अपेक्षित होगा और तभी हम हास्य की सम्पूर्ण रूप-रेखा का प्रामाणिक अध्ययन कर पायेंगे।

प्रकरण—१

हास्य का वाह्यरूप तथा मानवी-आधार

यदि वाह्य रूप से देखा जाय तो हास्य, मानव मुखाकृति का वाह्य व्यवहार मात्र होगा। हंसते समय मुख थोड़ा बहुत खुल जायगा, होठ थोड़े फैल कर पीछे की ओर हो जायंगे और ऊपरी होठ कुछ ऊपर की ओर उठ जायगा; आँखों के चारो ओर कुछ सिकुड़न पड़ जायगी और उन में एक अपूर्व चमक झलक जायगी। हास्य का वाह्य रूप साधारणतः यही होगा। कुछ विशेष प्रकार के लोलुप हास्य में कदाचित नथुने फैल जायंगे और कभी-कभी मस्तक पर भी सिकुड़न प्रदर्शित हो जायगी। सम्यक रूप में हास्य प्रदर्शन के लिये यह अत्यावश्यक है कि मुख के दोनों ओर की मांस-पेशियों द्वारा हास्य प्रस्तुत हो; यदि मुख के एक ही ओर की मांसपेशियों, होठ तथा नाक कार्यरत हुये तो उस प्रकार के हास्य का विवेचन कठिन होगा और उसका अर्थ लगाना भी सरल न होगा। प्रायः अपने मूल रूप में हास्य मुस्कान मात्र रहा होगा और कालान्तर में ही उसे नाद का सहयोग प्राप्त हुआ होगा। विकास-सिद्धान्त के अनुसार भी मुस्कान ही हास्य का आदि रूप रहा होगा। साधारणतः यह देखा गया है कि स्त्री-वर्ग तथा बालक हास्य के लिये ईकारान्त नाद तथा पुरुष वर्ग प्रायः आकारान्त तथा ओकारान्त नाद का प्रयोग करते हैं। साधारणतः ओष्ठ, आँख, कान, गाल, सिर, कन्धे इत्यादि हास्य प्रकाश में सहयोग देंगे; और अत्यन्त ज़ोर के हास्य के अवसर पर समस्त शरीर पीछे की ओर मुड़ेगा और कपकपी सी आयेगी; श्वास-क्रिया में व्यक्तिक्रम प्रस्तुत होगा और मुख और सिर की ओर रक्त का प्रवाह बढ़ जायगा। आखों की नसें भी रक्त से भर उठेंगी और प्रायः अश्रु का प्रवाह होने लगेगा। और कभी-कभी यह कहना कठिन होगा कि व्यक्ति हसँता अथवा रोता है। हास्य और रोदन में एक रहस्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक - संबंध है।

एक प्रसिद्ध जीव शास्त्र विशारद का कथन है कि जब बालक की आयु ४० दिन की होती है तभी हास्य संभव होता है : और उसका पूर्व रूप केवल मुस्कान होगा। कुछ बालक ४५वें, ३०वें, १०वें तथा कभी १८० दिन पर मुस्काते देखे गये हैं जिससे प्रमाणित है कि यद्यपि मुस्कान ही हास्य का मूल रूप है, उसका समय परवर्तित्त होता रहता है। इस संबंध में हमें यह ध्यान में रखना होगा कि मुस्कान कहीं जड़-वत तो नहीं अथवा उसके कुछ

अस्पष्ट अर्थ भी हैं । कभी-कभी हम मुख की सरल आकृति के परिवर्त्तन को ही मुस्कान समझ बैठ सकते हैं परन्तु यह व्यवहारिक रूप में सत्य है कि जन्म होते ही बालक नहीं हँसते ।

बालक किन-किन अवसरों पर मुस्काते अथवा हंसते हैं इसका विवेचन करते हुये विचारकों ने यह अनुभव किया है कि बालक अनेक इच्छित अथवा अनिच्छित अवसरों पर मुस्काते हैं । प्रायः माता को देख कर ही बालक मुस्काते हैं और जब उनका पेट पूर्ण रूप से भर जाता है तब भी वह मुस्कुराते हैं । जब कोई व्यक्ति उन्हें चुमकारता है अथवा उन्हे देख कर बार-बार सिर हिलाता है तो वे हाथ पैर फेकने अथवा पटकने लगते हैं जो उनके आनन्द का परिचायक होता है । जब कोई व्यक्ति कभी घूंघट की ओट मुँह छिपाये और फिर एकाएक उसे हटाये तो भी बालकों को हँसी आ जाती है । कभी-कभी कुतूहल-वश जब पिता बालक की ओर पीठ किये हुये आता है और उसके बहुत निकट पहुंच जाता है तो उसमें भय की भावना जागृत होती है परन्तु घूमकर देखते ही भय की भावना मुस्कान में परिणित हो जाती है । प्रायः बालकों के होठ छूने अथवा उनको गुदगुदाने से भी वह मुस्काते हैं और अवस्थानुसार खिल-खिला पड़ते हैं । साधारणतः कुछ विशेष नादों को उच्चारण करने के पश्चात् भी हंसी आती है । लुका-छिपी के खेल द्वारा भी वे मुस्कुरा उठते हैं । अतएव यह स्पष्ट है कि अपने आदि रूप मे हास्य का प्रस्फुटन तभी संभव हुआ जब उसका संबंध किसी व्यक्ति अथवा मनुष्य से प्रस्तुत हुआ । फलतः मानवी सम्बन्ध बिना हास्य संभव नहीं होगा; और यदि होगा तो वह अर्थहीन होगा ।

मूल शारीरिक आधार

साधारणतः शारीरिक रूप में, गुदगुदी द्वारा हास्य प्रस्फुटित हो जाता है और जब कोई व्यक्ति किसी को धीरे-धीरे अथवा जल्दी-जल्दी गुदगुदाता है तो अनेक प्रकार से बचाव का प्रयत्न करते हुए भी वह व्यक्ति हँसता रहता है । परन्तु यह सिद्धान्त-रूप में मान्य नहीं क्योंकि कुछ बालक और व्यक्ति ऐसे भी देखे गये हैं जो पैरों को गुदगुदाते समय पैर झटक देते हैं अथवा उँगलियाँ सिकोड़ लेते हैं और हँसते नहीं । प्रायः तीन महीने से कम के शिशु को केवल गुदगुदी द्वारा हँसाना असंभव सा होगा और हमें अन्य उपकरण प्रयोग में लाने पड़ेंगे ।

इसमें सन्देह नहीं कि गुदगुदी केवल किसी वाह्य उपकरण द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकेगी और उसके लिये यह आवश्यक है कि उसमें कुछ न कुछ संशयात्मकता अवश्य हो । बालक अथवा व्यक्ति को यह निश्चित रूप से

ज्ञात न होना चाहिये कि गुदगुदी लाने का स्थान कौन सा होगा। इसी संशय की भावना के आधार पर हास्य और भी तीव्र-रूप में प्रस्तुत होगा। और यदि बालक, व्यक्ति, स्थान और उपकरण तीनों से परिचित हो गया तो वह सचेत रहेगा और हास्य का प्रस्फुटन संभव न होगा। इसी प्रकार जब हमें कोई ऐसा अनुभव होता है जो दैनिक अनुभव के अन्तर्गत नहीं और जो हमारे सम्मुख असाधारण अव्यवस्थित तथा असंतुलित रूप में अनायास प्रस्तुत हो जाता है तो हास्य का प्रसार होने लगता है। हमारे साधारण तथा सुव्यवस्थित मानसिक अनुभव-क्षेत्र में किसी अव्यवस्थित विचार अथवा तत्व का प्रवेश सहज ही हास्य का प्रस्फुटन करेगा। अव्यवस्था तथा अनपेक्षितता का तत्व भी हास्य के प्रस्फुटन के लिये अत्यावश्यक है। हाँ, इस संबंध में यह अवश्य ध्यान रहे कि गुदगुदी लाने के लिये व्यक्ति अथवा बालक का स्वस्थ होना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अस्वस्थ अवस्था में न तो गुदगुदी का अनुभव रुचिकर होगा और न हास्य ही प्रस्तुत होगा; भय तो यह है कि हास्य के स्थान पर पीड़ा का अनुभव होगा और बालक की विरोधी शक्तियाँ जाग्रत हो जायँगी।

वास्तव में, गुदगुदी द्वारा प्रस्तुत हास्य की समीक्षा जीव-शास्त्र सिद्धान्तों के आधार पर ही हो सकेगी। जीव-शास्त्र से सिद्धान्तों के परिचायकों[1] के अनुसार मानव की आदि अवस्था में जब युद्ध होते थे तो शरीर के कुछ स्थान ऐसे थे जिन पर आकस्मिक प्रहार करके क्षति पहुंचाई जा सकती थी। ये ही स्थान गुदगुदी लाने के लिये भी, प्रायः आगे चलकर, सहायक हुये। इसका प्रमाण यह है कि गुदगुदी लाने के समय बालक अथवा व्यक्ति अपने शरीर के वे स्थान विशेष ही छिपाने अथवा बचाने का प्रयत्न करते हैं। यह भी संभव है कि गुदगुदी के स्थानों और उनकी गुदगुदी लाने की क्षमता, प्राचीन युग में, कुछ जंगली पशुओं की बाल-क्रीड़ा के अनुकरण के कारण, प्रस्तुत हो गई हो। कदाचित यह भी संभव है कि आदि अवस्था में जब मनुष्य पर कीड़ों-मकोड़ों का आक्रमण हुआ होगा, तो कुछ विशेष स्थानों पर ही क्षति की संभावना होती होगी और आदि मनुष्य उनसे बचने की कोशिश किया करता होगा। और ये ही स्थान गुदगुदी के विशेष स्थल प्रमाणित हुये। यह भी संभवतः विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य ने अपनी आदि सामाजिक अवस्था में प्रेमासक्त हो कुछ संकेत विशेष किये होंगे जिनके कारण वह उन्हीं शारीरिक स्थलों पर आकृष्ट होता चला आया है जो आगामी

---

१. रॉबिनसन

युगों में गुदगुदी लाने योग्य प्रमाणित हुये। कुछ अन्य जीव-शास्त्र के विद्वानों[1] का विचार है कि स्पर्श-शक्ति ही, आदि काल में, भय इत्यादि का संकेत देने में प्रयुक्त होती थी और संकटावस्था में आदि मनुष्य-समाज, स्पर्श-मात्र से ही एक दूसरे को सचेत करता था; और जिन स्थलों को वह स्पर्श करता था वे ही गुदगुदी लाने योग्य प्रमाणित हुये। कुछ अन्य विचारकों का विश्वास है कि कदाचित मैत्री-भाव का प्रदर्शन करने के लिये और खेल-कूद में सहयोग देने के लिये स्पर्श मात्र से ही आमंत्रण दिया जाता था और वे स्थल ऐसे थे जो सहज ही गुदगुदी लाने में आज प्रयुक्त हो रहे हैं।

एक प्रसिद्ध लेखक[2] का विचार है कि गुदगुदी के अनेक स्थल सेक्स प्रोत्साहन देते हैं और प्रकृति के विशिष्ठ नियमानुसार उन स्थलों को असमय स्पर्श से बचाना जीव का धर्म हो जाता है। गुदगुदी तथा सेक्स में घनिष्ठ मनोवैज्ञानिक संबंध का संकेत मिलेगा।

उपरोक्त अनेक कारणवश हास्य की परिभाषा तथा उसके सिद्धान्तों का निर्माण करते समय विचारकों ने कभी उसके एक तथा किसी ने उसके दूसरे तत्वों पर ध्यान दिया अतएव उसकी सम्यक परिभाषा न बन पाई। कुछ विज्ञानज्ञों के विचारानुसार "हास्य साधारणतया आनन्द अथवा हर्ष की भावना की अभिव्यक्ति है[3]"। 'मुस्कान के समान ही हास्य भी किसी हर्षपूर्ण भावना की अभिव्यंजना है[4]।" 'हास्य, मनुष्य के सामूहिक शारिरिक व्यवहार की हर्षपूर्ण अभिव्यक्ति है'[5]। परन्तु हास्य के उद्‌गम का अध्ययन करने पश्चात् यह सहज की कहना पड़ेगा कि अपने मूल रूप में हास्य की अभिव्यक्ति सुव्यवस्थित रूप में नहीं हो सकी और साधारणतः उसके प्रकाश में अनेक बाधायें उपस्थित रहीं। पिछले विवेचन के आधार पर हम, संभवतः, यह प्रामाणिक रूप में कह सकते हैं कि मुस्कान तथा हास्य जन्म के कुछ दिनों बाद ही प्रदर्शित होंगे और जब-जब हास्य की सृष्टि होगी तब-तब किसी परिस्थिति विशेष तथा किसी दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति की आवश्यकता अपेक्षित होगी। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जिस प्रकार गुदगुदी लाने के लिये किसी वाह्य उपकरण की आवश्यकता होती है उसीप्रकार बालक को हँसाने के लिये भी किसी दूसरे व्यक्ति को हास्य-पूर्ण भाव-भंगी आवश्यक होगी। परन्तु यह पुनः ध्यान रखना आवश्यक है कि गुदगुदी तभी सफलतापूर्वक लाई जा सकती है जब बालक स्वस्थ हो और उसकी मानसिक अवस्था गुदगुदी के प्रभाव को ग्रहण करने

---

१. हॉल : ऐलिन २. हैवलक इलिस ३. डार्विन
४. सली ५. वॉटसन्

को तैयार हो और जो व्यक्ति गुदगुदी लाना चाह रहा हो, बालक उससे परिचित भी हो। अस्वस्थ बालक अथवा ऐसा बालक जो मानसिक रूप में गुदगुदी की प्रतिक्रिया के लिये तैयार नहीं, नहीं हँस सकेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ बालक गुदगुदी लाने पर भी नहीं हँसते ; इसका कारण यह है कि उन्होंने गुदगुदी की हास्ययुक्त प्रतिक्रिया से अपने को विमुख रखा है और उनकी यह आदत सी हो गई है कि उन्हें गुदगुदी द्वारा हंसी नहीं आती; अथवा उन्होंने गुदगुदी की प्रतिक्रिया पर अंकुश जमा लिया है। इन विचारों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सेक्स तथा गुदगुदी समान प्रेम तथा हास्य में भी कुछ न कुछ मानसिक सम्बन्ध अवश्य है।

संसार के समस्त प्रणीमात्र में प्रेम—प्रदर्शन का मूल आधार स्पर्श रहा है और इसका प्रमाण हम मानवसमाज तथा पशुओं के जीवन में सर्वत्र पायेंगे।

हास्य तथा प्रेम

स्त्री तथा पुरुष, बालक तथा बलिका सभी स्पर्श मात्र से प्रेम संदेश देते हैं। बालकों द्वारा पाले हुये कुत्ते उनके चरणों पर बार-बार लोटते हैं और उन्हें पथथपाने का प्रेमादेश देते हैं। कभी वे हाथ-पैर चाटते हैं और कभी चारो ओर तेज़ी से दौड़कर पैरों के पास पुनः लेट जाते हैं और सिर, गरदन तथा पेट को सहलाने का आग्रह करते हैं। कुत्ते की माता अपने छोटे-बच्चे को चाटकर साफ-सुथरा बना देतीं है, बिल्लियों तथा गाय-बैल इत्यादि का भी ऐसा ही स्वभाव होता है। बिल्लियों में तो स्पर्श का आग्रह इतना अधिक होता है कि प्रायः दरवाजों तथा दीवालों पर वे अपना शरीर रगड़ती हुयी दिखाई देंगी। प्रायः ये सभी जीवधारी अपने अगले पैर फैला देते हैं और स्पर्श के लिये लालायित हो उठते हैं। ये शारीरिक आचरण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, बाल्यावस्था को स्मृति द्वारा आविर्भूत होते हैं; मनस्तल में छिपे रहते हैं और अवसर पाकर कर विकसित होने लगते हैं।

मनुष्य समाज में, बालक को स्पर्श का पहला ज्ञान माता द्वारा प्राप्त होता है। जब माता नव-जात शिशु को थपकाती है, गले लगाती है, चुमकारती तथा चूमती है तो उसका स्पर्श-ज्ञान संग्रहीत होने लगता है। और इस स्पर्श कार्य में मूलतः मुँह, गाल तथा जीभ ही प्रयुक्त होंगे। युवावस्था के प्रेम-व्यवहार इत्यादि में इन्हीं पूर्व भावनाओं की प्रगति प्रकाशमान होती रहती है; और प्रेम के आवेश में प्रायः युवा-युवती वे ही क्रिया-कलाप सहज रूप में करते हैं जिनकी मूल-रूपरेखा उनके बाल्यकाल की स्मृति में निहित रहती है। उसी अंकुर से समस्त मानवी प्रेम-व्यापार परिचालित तथा परिपक्व होता है। प्रेम-व्यापार के लिये स्पर्श का आधार इसलिये नितान्त आवश्यक

होगा कि मानव-समाज में किसी अमूर्त, अदृश्य तथा स्पर्श से परे जीव अथवा वस्तु के आधार पर प्रेम-व्यापार नहीं पनप सकता। स्पर्श से परे होना प्रेम के लिये हितकर नहीं। शिशु को वही वस्तु सर्वप्रिय होगी जिसे वह स्पर्श कर सकेगा; मुँह में रख सकेगा अथवा अपने नन्हें हाथों से कस कर पकड़ सकेगा। सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावों को ग्रहण करने वाले शिशु के हाथ वस्तु को मुँह के पास जब तक नहीं ले जा पाते तब तक अफनाते रहते हैं और उनकी तुष्टि तबतक नहीं होती जबतक वे अपनी प्रिय वस्तु को अपने होठों से पकड़ नहीं लेते। बाल्यावस्था में भी बालक वे ही वस्तु प्रिय समझते हैं जिन्हें वे अपना सकें; अपने हृदय से लगा सकें; हिला-डुला सकें; उसका होठों से स्पर्श कर सकें। युवा के लिये भी स्वाभाविक तो यही है परन्तु इस मूल भावना का परिष्कार कर, उसे उदात्त बना कर, वह मन्दिर में मूर्त्ति के चरण छूता है; गिरजे में 'क्रॉस' को हृदय से लगाता है; उसका होठों से स्पर्श करता है और मस्जिद में प्रार्थना करते हुये अपना ही शरीर बार-बार छूता रहता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार प्रेम, उत्कर्ष के क्षण में, प्रेमी से गला घोंट देने का आग्रह भी करता है। इस सम्बन्ध में यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि प्रेम-व्यवहार में श्वास-नली की क्रिया-प्रतिक्रिया में भी महान परिवर्तन हो जायगा; उसमें अतिक्रम आयेगा और यदि उस में थोड़ी बहुत और बाधा प्रस्तुत हुई तो सेक्स का आग्रह बहुत कुछ बढ़ जायगा। प्रायः ऐसी परिस्थिति में लम्बी साँस और ठण्डी साँस एकाएक चलेगी और कुछ ऐसे नादों का उच्चारण होगा जो हममें बाल्यावस्था की स्मृति जगायेंगे। जिस प्रकार बाल्यकाल तथा शैशवावस्था में बालक चीखते हैं और प्रेमातुर हो सिसकते हैं वही दृश्य प्रेमव्यापार रूप में, युवावस्था में, पुनः प्रस्तुत होने लगता है।

लुका-छिपी के खेल में भी, इसी सिद्धान्त के अनुसार, बालक का हास्य इसीलिये प्रस्तुत होता है कि जब किसी व्यक्ति का मुख अनायास छिप जाता है तो बालक की परिकल्पना[१] में बाधा पहुँचती है और उस बाधा का निराकरण करने के लिये अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता पड़ने लगती है। बाधा के निराकरण के पश्चात् यह अतिरिक्त शक्ति थोड़ी बहुत मात्रा में बच रहती है जो हास्य रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। प्रत्येक परिस्थिति में ऐसा ही होता है और स्मरण-शक्ति के कोष में सुरक्षित जिन-जिन भावनाओं की पुनरावृत्ति होती रहेगी, हमें हँसाती रहेगी। बालक जब किसी का मुख छिपते

---

१. देखिये—'काव्य की परख'

हुये देखता है तो उसे यह आभास मिलता है कि उसका अस्तित्व नहीं रहा, परन्तु जब वही मुख पुनः सम्मुख आता है तो उसे बरबस हँसी आने लगती है। वह मुख के छिपने पर नहीं वरन उसके पुनः दिखाई देने पर हँसेगा। बार-बार छिपने और बार-बार दिखाई देने वाले खिलौने भी बालकों का विनोद इसीलिये करते हैं कि उसके स्मरण-कोष में छिपे-छिपाये अनुभव पुनः अनुरंजित हो उठते हैं। बालक अपने नवीन अनुभव का साम्य अपने संचित स्मरण-कोष के अनुभवों से बैठाता है और सहजरूप में हँस पड़ता है।

कभी-कभी क्या प्रायः यह भी देखा जाता है कि जब बालक कोई कठिन कार्य करने को उद्यत हो जाता है और अनेक बार विफल होने पर एक बार सफल हो जाता है तो वह बड़े गर्व से हँसता है। परन्तु जब वह अकेला होता है तो हँसता नहीं: उसके लिये कुछ अन्य व्यक्तियों का उपस्थित रहना आवश्यक होगा। इसी प्रकार बालकों को आपस की दौड़ में भी हँसी आती है; और वहाँ भी उसी गर्व-पूर्ण भावना के प्रसार द्वारा हास्य प्रस्तुत होगा। बालक दौड़ते समय इस संशय में रहता है कि कहीं मैं पकड़ तो नहीं जाऊँगा? वह पकड़े जाने के भय और अपनी स्वतंत्रता की भावना के झूले में झूलता रहता है; और दोनों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत हुआ करता है। इस नाटकीय परिस्थिति का हास्य अत्यन्त गूढ़ मनोवैज्ञानिक कारणों द्वारा आर्विभूत होता है। बालक के मनस्तल में शैशवावस्था की सोई हुई स्मृति पुनः जागृत हो उठती है और उस समय का प्रेम तथा स्नेह प्रदर्शन, स्पर्श, आलिङ्गन इत्यादि उसकी स्मरण-शक्ति पुनः उसके सम्मुख ला देती है। वह उसी प्रकार, अपनी बाल्यावस्था में भी भागना चाहता था और प्रेम-पाश से मुक्त होने की चेष्टा और उसकी सफलता द्वारा हास्य प्रदर्शित किया करता था। दौड़ में विफल बालकों का मुँह गिर जाता है—अतएव स्पष्ट है कि बालोचित स्वातंत्र्य-प्रियता और स्नेहासक्ति के बन्धन के द्वन्द्व-स्वरूप हास्य का निर्माण सतत हुआ करेगा।

चिढ़ने तथा खीझने वाले बालकों का हास्य भी इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रमाणित होगा। जब कोई ऐसी परिस्थिति सम्मुख आ जाती है जो बालकों के साधारण एवं सहज व्यवहार में अड़चन डालने लगती है तो उसके फलस्वरूप हास्य का आर्विभाव होने लगता है। बालक अपने पिता अथवा दादा की मूँछ खींचता है; चश्मा छीनने की चेष्टा करता है; मुख पर लगे आवरण को हटा देना चाहता है। और यह केवल इसीलिये होगा कि वह इन वस्तुओं को अपने स्नेह-व्यापार में बाधा प्रस्तुत करते देखेगा और उनके हटते ही हँस

पड़ेगा। प्रायः जिन व्यक्तियों का स्नेहकोष रिक्त हो गया हो और जिनका प्रेम-स्रोत सूख गया हो हास्य से दूर रहेंगे। हास्य, स्नेह-कोष का अमूल्य रत्न है; स्नेह जलाशय का वह सुरभित पुष्प है।

मुस्कान का प्रकाश भी उपरोक्त मनोवैज्ञानिक कारणों द्वारा होगा। वास्तव में, दूध पीने की स्मृति ही उसकी मूल परिचायक है: दूध पीने की चेष्टा में सफल शिशु मुसुका उठते हैं। साधारणतः दूध पीने के अति उत्सुक बालक, अपनी माता द्वारा कुछ देर खिझाये जाने के उपरान्त दूध पीने में सफल हो जाते हैं तो हँस पड़ते हैं। एक ओर तो उनकी माता बाधा प्रस्तुत करती है; दूसरी ओर उस बाधा पर विजय प्राप्त करने के लिये वे कटिबद्ध हो जाते हैं और इस संघर्षपूर्ण परिस्थिति के एकाएक सुलझने तक कुछ न कुछ अतिरिक्त-शक्ति रह जायगी जो हास्य रूप में आविर्भूत होगी। प्रेम-व्यापार में बाधक शक्तियों के एकाएक दूर होने के उपरान्त ही सफल हास्य प्रस्तुत होगा। उदाहरण के लिये माता अपने चंचल बालक का चुम्बन लेने की चेष्टा में, उससे खेल ही खेल में झगड़ती है, बरजोरी करती है और इस बाधा को सम्मुख देखकर बालक बचने के लिये अपनी नब्बे फी सदी शक्ति लगा देता है। परन्तु इस बाधा पर विजय पाने के लिये केवल पचास फी सदी शक्ति पर्याप्त थी। अब चालीस फी सदी अतिरिक्त शक्ति किस रूप में बाहर आये? हास्य रूप में ही वह अतिरिक्त शक्ति प्रदर्शित होगी।

मनोविज्ञान की दृष्टि से, संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि हास्य तथा मुस्कान का प्रकाश प्रेम की भावना के अन्तर्गत ही होगा। जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, मुस्कान जो वास्तव में हास्य का मूल-रूप है, तभी प्रस्तुत होता है जब किसी कारणवश हमारी सहज प्रवृत्तियों का व्यापार अस्त-व्यस्त होकर पुनः सुव्यवस्थित हो जाता है। प्रेम की प्रवृति भी इसी व्यापार की एक महत्त्वपूर्ण धारा है जो रुकावट पाते अथवा कुण्ठित होते ही थोड़ी देर में हमारी इच्छावश स्वतन्त्ररूप में प्रवाहित होने लगती है; और जो अतिरिक्त शक्ति, उसे स्वतंत्र करने के पश्चात् बच रहती है, हास्य रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। साधारणतया उस रुकावट को हटाने के लिये हम अपनी आन्तरिक मनोभाव-शक्ति को एकत्र करते हैं, परन्तु यह नहीं जान पाते कि कितनी शक्ति पर्याप्त होगी। फलतः कुछ न कुछ इस शक्ति की अतिरिक्त मात्रा बच रहती है जो सहज ही हास्य का रूप ले लेती है। परन्तु कुछ अन्य मनोविज्ञानज्ञों ने हास्य के इस मूल-आधार का निश्चय कुछ अन्य सिद्धान्तों के आधार पर भी किया है जिसका स्पष्ट विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

प्रकरण—२

हास्य के अन्य आधार: आश्चर्य-भावना

प्राचीन काल से प्रायः यह सिद्धान्त भी मान्य रहा है कि आश्चर्य की भावना ही हास्य की जननी है। जब कभी किसी वस्तु, कार्य अथवा दृश्य को देखकर हमने आश्चर्य किया तभी हास्य का भी आविर्भाव हुआ। परन्तु, वास्तव में आश्चर्य की भावना ऐसी भावना है जो कार्य-शील नहीं; वह हमें कार्य करने की प्रेरणा नहीं देती; वह तो भावना मात्र है। उसमें स्थायित्व है; गतिशीलता नहीं। स्पष्ट रूप में, कदाचित् आश्चर्य की भावना हमें हँसने पर बाध्य नहीं करती। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि आश्चर्य की भावना, हास्य की भूमिका रूप में, अवश्य प्रस्तुत रहेगी अथवा यों कहा जाय कि हास्य के प्रकाशित होने के पहले आश्चर्य की गतिहीन भावना, प्रस्तुत हो जायगी, तत्पश्चात् हास्य प्रस्फुटित होगा। इसका सबसे सबल प्रमाण यह है कि जब हम कोई ऐसी कहानी जो हमें सतत हँसाती रही है कण्ठाग्र कर लें अथवा उन चुटकुलों को बार-बार सुनायें जो अनेक बार सुने जा चुके हैं तो हँसी दूर हो जायगी और झुँझलाहट होने लगेगी। यदि आश्चर्य की भावना, मनोविज्ञान की दृष्टि से, हास्य-प्रसार के लिये सिद्धान्त-रूप में प्रमाणित होती तो हमें दुहराये हुये चुटकुलों और कण्ठाग्र की हुई हास्यपूर्ण कहानियों के सुनने पर सतत हँसी आती। प्रहसनों के सफल विदूषकों को देखकर तथा उनका अनोखा संवाद पहली बार सुनकर हास्य अवश्य प्रस्तुत होगा परन्तु उन्हें दो या तीन बार देखने सुनने के पश्चात् हँसी नहीं आयेगी। कारण यही है कि आश्चर्य की भावना का महत्व भ्रामक है। हाँ, यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो दुबारा या तिबारा हँसता है तो यह स्पष्ट है कि जब हास्यपूर्ण कहानी पहली बार सुनाई गई तो उसने उस कहानी का आशय पूर्णतः नहीं समझा। प्रायः तर्क रूप में यह भी कहा जाता है कि अनेक विशिष्ठ प्रहसनों के श्रेष्ठ विदूषकों के अभिनय द्वारा हमें सतत हँसी आती है। परन्तु इस सम्बन्ध में प्रायः हम यह भूल जाते हैं कि उनके द्वारा जो हास्य प्रस्तुत होता है उसके अन्यान्य दूसरे कारण होंगे। विदूषकों की भावभंगी; उनका निराला दृष्टिकोण; उनकी अक्षय क्षुधा; उनकी कठिनाइयों पर विजय पाने की विचित्र शक्ति; उनको सरल मानवता—इन्हीं सब गुणों के प्रदर्शन द्वारा हमें हँसी आती है और हम उनके

द्वारा सतत आनन्द पाते हैं। आश्चर्य की भावना को तो इसमें कोई श्रेय नहीं!

साधारण जीवन में यह भी देखने में आता है कि चुटकुले सुनाने वाला व्यक्ति कभी-कभी अपने ही बनाये चुटकुले पर स्वयं हँसने लगता है। यद्यपि वह चुटकुलों अथवा हास्यपूर्ण कहावतों से भलि-भाँति परिचित हैं फिर भी वह साधारण रूप में हँसता है। इस प्रकार के हास्य का कारण कदाचित उस व्यक्ति के कुछ एक मनोविकार होंगे; और सच तो यह है कि वह अपने ऊपर नहीं हँसता वह श्रोतावर्ग पर अपने चुटकुलों के प्रभाव को सोचकर हँसता है। जब चुटकुले सुनाने वाला व्यक्ति चुटकुला सुनाना आरम्भ करता है तब उसकी मानसिक अवस्था बहुत विचित्र हो जाती है; वह यह भी चाहता है कि श्रोतावर्ग एकाग्र हो उसकी बात सुनें; उसकी प्रशंसा मन ही मन करें और समझें कि वह व्यक्ति अत्यन्त कुशल तथा पटु वक्ता है। इसके साथ ही साथ वह इस संशय में रहता है कि कहीं श्रोतावर्ग उससे विमुख अथवा खिन्न न हो जायँ। उसका यही लक्ष्य होगा कि वह उनका प्रिय पात्र बना रहे। श्रोतावर्ग जितना ही उसकी ओर एकाग्र रहेगा उतना ही उसका संकोच और भी बढ़ेगा। प्रायः संकोच तथा आग्रह दोनों की विपरीत भावनायें साथ ही साथ उसके मानस में विहार करती रहेंगी। और कभी-कभी चुटकुले सुनने के बीच में ही हँस पड़ने पर उसका संकोच और भी बढ़ जायगा और हास्य का सफल प्रदर्शन नहीं हो पायेगा। जितने भी श्रेष्ठ अथवा उच्चकोटि के हास्य-प्रसारक वक्ता रहे हैं उन्होंने सदैव अपने सहज संकोच तथा श्रोतावर्ग की उत्कण्ठा पर अधिकार रखा है। इस दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा कि आश्चर्य की भावना तभी उत्पन्न होगी जब हमारे भाव-संसार में किसी प्रकार का अवरोध प्रस्तुत होगा। आश्चर्य की भावना प्रकट होते ही हम एकाएक रुक जाते हैं और थोड़ी देर पश्चात् या तो पहले के समान उसी में कार्यरत हो जाते हैं अथवा किसी दूसरी उपयुक्त कार्य शैली को अपना लेते हैं। हास्य का प्रस्फुटन, ऐसी परिस्थितियों में, तभी होगा जब हमारे स्वभाव की सरस गति विधि में कोई अवरोध प्रस्तुत हो जायगा। आश्चर्य की भावना तथा हास्य के प्रस्फुटन का सम्बन्ध एक प्रकार से अवरोधात्मक कहा जा सकता है।

प्रायः, समाज में, हम कभी-कभी ऐसे अवसरों पर ही हँसते हैं जब कोई व्यक्ति सेक्स सम्बन्धी बात छेड़ता है। सेक्स-सम्बन्धी हास्यप्रद स्थल तभी हास्य प्रस्तुत कर पाते हैं जब हमारे मन में घर बनाये हुये सेक्स संकेत आचार-विचार की शृंखला अवरोध पाकर झनझना उठती है। प्रायः हमारे सुसंस्कृत आचार-विचार एक दृढ़ दुर्ग बना कर बाह्य-

जगत पर अपनी दृष्टि फेंकते रहते हैं और जब-जब उस दुर्ग की दीवाल पर सेक्स-सम्बन्धी चुटकुलों अथवा हास्यपूर्ण वर्णन का प्रहार होने लगता है तो कुछ समय के लिये दीवाल में दराज़ पड़ जाते हैं और हास्य की आत्मा वहाँ से ताक-झाँक लगाने लगती है। सेक्स-सम्बन्धी हास्यपूर्ण संवाद अथवा चुटकुला नैतिक अवरोध से टक्कर लेते-लेते हास्य प्रस्तुत कर देता है। साधारणतः ऐसे अवसरों का हास्य अश्लीलता के आश्रय में ही प्रस्तुत हो पायेगा। परन्तु कुछ अवसर ऐसे भी आते हैं जब हम सेक्स-सम्बन्ध की ओर सीधे न देखकर इधर-उधर से देखते रहते हैं। ऐसे चुटकुले सेक्स-सम्बन्ध की ओर हमें एकाग्र न करते हुये घुमा फिरा कर हमें उस ओर दृष्टि-पात करने पर बाध्य कर ही देते हैं। इस प्रकार के अवसरों द्वारा जनित हास्य अश्लील न होकर अशिष्ट ही कहे जाँयगे। अश्लील हास्य, प्रायः सेक्स-सम्बन्धों की ओर स्पष्टतः संकेत करेगा और अशिष्ट हास्य वही होगा जो सेक्स-सम्बन्धों की ओर अस्पष्ट एवं अव्यक्त संकेत देगा। इन दोनों प्रकार के हास्य में संकोच, लज्जा, सामाजिक नैतिकता तथा घृणा द्वारा ही अवरोध प्रस्तुत हुआ करेगा और यदि इन अवरोधों के होते हुये भी हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई तो पाशविक हास्य का ही प्रसार होगा, मानवी हास्य का नहीं।

आधुनिक युग में हमारे सभ्य समाज के कुछ व्यक्ति, इस प्रकार के हास्य के सम्मुख नाक-भौं सिकोड़ने तथा घृणा-युक्त मुद्रा बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सच तो यह है कि नैतिक से नैतिक व्यक्ति भी थोड़े बहुत रूप में इन पर हँसता अवश्य है और आनन्द भी उठाता है। हाँ इतना अवश्य है कि वे आनन्द मन ही मन उठा लेते हैं और हँसते बाद में हैं। यही मानव-प्रकृति भी है। सेक्स-सम्बन्धी हास्य का आकर्षण आज का नहीं वरन् बहुत पुराना है और मनुष्य सभ्यता के आदिकाल से अश्लील तथा अशिष्ट हास्य द्वारा आनन्द उठाता रहा है। इसका सहज कारण यह है कि मानवी जननेद्रियों की महत्ता हमें माननी ही पड़ेगी और चूँकि यही मनुष्य के जन्म के कारण हैं और सभ्यता के पोषण के लिये जन-संख्या का उत्तरदायित्व इन्हीं पर है इसलिये इन्हें साहित्य तथा दैनिक संवाद के क्षेत्र से वहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यदि मनुष्य को अपनी जाति की रक्षा करनी है तो उसे सेक्स-सम्बन्धी तत्वों की रक्षा करनी पड़ेगी और उन्हें समुचित महत्व देना ही पड़ेगा। सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज भी इस आकर्षण के परे नहीं रह सकता। होता केवल यह है कि नैतिकता के आवरण में हम उसका आनन्द दूर से ही ग्रहण करते हैं अथवा मानसिक और मनोवैज्ञानिक रूप में ही उस ओर आकृष्ट होते हैं। इस

परिस्थिति में प्रायः हम सुरक्षा के लिये कलाकार अथवा साहित्यकार का बाना भी पहन लेते हैं और उसी दृष्टिकोण से उसका आनन्द उठाते हैं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ हमारे मानस के एक दूर कोने में कुछ नैतिक अवरोध भी छिपे-छिपाये रूप में अपना घर बनाये बैठे रहते हैं और समयानुसार सेक्स-सम्बन्धी हास्य प्रसार में अड़चने डालने का सफल प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि अश्लील तथा अशिष्ट हास्य का रसास्वादन सभ्यता के किसी भी स्तर पर पूर्णतया संभव नहीं हुआ है और न होगा। साधारणतः, मनोवैज्ञानिक रूप में, लज्जा तथा संकोच की भावना भय द्वारा आविर्भूत होती है क्योंकि सामाजिक जीवन के आदिकाल में, मनुष्य ने अपने प्रतिद्वन्दी से पहले पहल भय खाया होगा और नारी ने अपने नारीत्व की रक्षा के लिये कुछ मनोभाव संजो लिये होंगे। उसे अन्य मनुष्यों की कुसमय अथवा असमय कुप्रवृत्तियों को रोकने का भी मानसिक आग्रह प्राप्त हुआ होगा। समय के साथ-साथ नैसर्गिक संकोच तथा लज्जा की भावनाओं की रूप-रेखा बदलती गई और धर्म, रूढ़ि, रीति-रिवाज इत्यादि द्वारा और भी जटिल होती गई। इसी कारण सेक्स-सम्बन्धी व्यवहार प्रायः अत्यन्त जटिल तथा तर्क की परिधि के बाहर होते हैं।

जैसा कि हम संकेत दे चुके हैं, अश्लील हास्य प्रसार में, संकोच तथा लज्जा द्वारा ही गहरा अवरोध प्रस्तुत हुआ करेगा। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लज्जा की भावना सुप्त रहती है और हम बरबस हँस पड़ते हैं। प्रायः ऐसी परिस्थिति में भी हम हँसते हैं जब हास्य अश्लीलता की ओर संकेत भी नहीं करता। यूनानी समाज में इस तथ्य के सफल उदाहरण मिलेंगे। यूनानी, समाज तथा साहित्य क्षेत्र दोनों में ही, जननेन्द्रियों की चर्चा करके हास्य का प्रसार करते रहे हैं; और सेक्स-सम्बन्धी वर्णनों में अतिशयोक्ति द्वारा अट्टहास भी प्रस्तुत किया करते थे। ऐसे संवाद के विषय अत्यन्त लोक-प्रिय थे और उनमें कोई विशेष नूतनता न थी इसलिये अवरोध प्रस्तुत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। संकोच तथा लज्जा का अवरोध तो वहीं सफल रूप में प्रस्तुत हो सकेगा जहाँ सेक्स-सम्बन्धों पर पर्दा पड़ा हुआ है और उसकी ओर संकेत करते भय सा लगता है। इसी श्रेणी का हास्य वह भी होगा जो स्त्री-वर्ग में तथा वैवाहिक अवसरों पर प्रस्तुत किया जाता है। प्रायः इस प्रकार की हँसी अश्लीलता की ही छत्र-छाया में आश्रय पायेगी। यूनानी सुखान्तकी[1]

१. देखिये 'नाटक की परख'

लेखकों ने साधारणतः यूनानी स्त्रियों की लालसा तथा लिप्सा, चाटुकारिता तथा छल, सौन्दर्य-विक्रय इत्यादि के स्थलों के वर्णन द्वारा हास्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। मध्यकालीन युग में भी प्रायः स्त्रियों पर ही व्यंग्यबाण बरसा कर हास्य प्रस्तुत किया गया। नारी के जिन अवगुणों को विशेषतः उपहसित किया गया उनमें प्रधानता—छल, लोभ, लालसा, कायरता, व्यभिचार इत्यादि को मिली। पादरी वर्ग पर भी लेखकों की विशेष कृपा रही और उनके लोभ, अधार्मिकता, कुत्सित जीवन-यापन तथा सेक्स-संबंधी आकर्षण को विशेषतः हास्यास्पद रूप में साहित्य में प्रयुक्त किया गया। लेखकों ने विवाहित जीवन[1] की कठिनाइयों के आधार पर भी सफल हास्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिनके उदाहरण अत्यन्त रोचक हैं।

आधुनिक युग के लेखक भी हास्य प्रसार के यही आधार अपनाते आ रहे हैं। विभिन्नता केवल इतनी है कि उनका वाह्य आकार परिवर्त्तित कर दिया गया है : आत्मा पुरानी है, वेष नया है। जीव-शास्त्र तथा मनस्तत्व-शास्त्र का आवरण पहने हुये पुराने हास्य के आधार ही प्रायः हमें दिखलाई देंगे। बीसवीं शती के अमर विदूषक एवं नाटककार-बर्नर्ड शॉ का नारी के प्रति दृष्टि-कोण यूनानी सुखान्तकी लेखकों से बहुत विभिन्न नहीं। नारी के लिये जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग यूनानी लेखकों ने किया, उसी स्तर के विशेषणों का प्रयोग, बहुत कुछ उसी रूप में शॉ ने भी किया है।

---

१. 'एक विवाहित व्यक्ति, मृत्यु के पश्चात स्वर्गद्वार पर पहुँचता है और वहाँ के संरक्षक सन्त पीटर से प्रार्थना करता है कि उसे स्वर्ग में स्थान मिले क्योंकि वह उसका अधिकारी है। सन्त पीटर उससे पूछते हैं कि इसका प्रमाण क्या है कि उसे स्वर्ग में स्थान मिलना ही चाहिये। प्रत्युत्तर में वह केवल इतना कहता है कि वह विवाहित मनुष्य है और इतना प्रमाण यथेष्ठ है। इतना सुनते ही सन्त उसके लिये स्वर्ग द्वार खोल देते हैं और उसके अधिकार का समर्थन करते हुये कहते हैं कि उसने विवाहित जीवन में जो तपस्या की उसके लिये वह अवश्य स्वर्ग का अधिकारी होगा। इतने में ही एक दूसरा व्यक्ति स्वर्ग द्वार पर आकर अपने अधिकार की चर्चा करता है। वह कहता है कि उसने दो बार विवाह किया ? उसकी वीरता तथा अपार सहिष्णुता की प्रशंसा करते हुये सन्त पीटर उसे स्वर्ग में स्थान देकर कहते हैं कि उसे इससे अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसने दो बार विवाहित जीवन का सामना किया जो इसका स्वतः प्रमाण है कि वह स्वर्ग का विशेष

नारी-वर्ग को हास्य का आधार रूप मानने के अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु विशेष कारण यह है कि नारी पुरुष के हित निर्मित हुई और वह उसके प्रेम तथा घृणा की सहज अधिकारिणी रहेगी। कभी उसके प्रति प्रेम की निर्झरिणी रहेगी तो कभी घृणा की अपार ज्वाला प्रचण्ड होगी और इन दो विषम भावनाओं का प्रहार उसे सहन करना ही पड़ेगा। मनस्तलशास्त्रियों का यह कहना है कि ये दोनों विषम भावनायें अनेक-रूप में, नये-नये आवरण पहन कर हमारे सम्मुख आयेंगी क्योंकि आधुनिक युग का सुसंस्कृत व्यक्ति इनका नग्न प्रदर्शन नहीं देखना चाहता। वह अपने विरोधी भावनाओं पर पर्दा डालता रहेगा और प्रेम तथा घृणा के नग्नरूप को देखकर सहम जायगा। इसलिये, ऐसी परिस्थिति में, जब हम अपनी सूक्ष्म-दृष्टि से देखेंगे तो सारा रहस्य खुल जायगा। हमें नवीन आवरणों के पीछे मनुष्य की घृणा और उसके तर्कहीन प्रेम के एकाएक दर्शन हो जायेंगे। पुरुष के हास्य के पीछे नारी की अमूर्त आत्मा दृष्टिगत होगी, जहाँ वह उसके सपनों की रानी ही नहीं होगी वरन् उसके अनेक मानसिक रोगों का कारण भी होगी। सेक्स संबन्धों पर हमारी दृष्टि अनायास ही उठती रहेगी और अनेक विचारकों द्वारा यही हास्य का प्रमुख कारण भी माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से, कदाचित, यह स्पष्ट हो गया होगा कि जब-जब हमारे प्रेम व्यापार में अवरोध प्रस्तुत होता रहेगा तभी हास्य की सृष्टि भी होती रहेगी। यही बात घृणा की भावना के सम्बन्ध में भी होती है क्योंकि दोनों भावनाओं में गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। घृणा, प्रेम का विषम रूप है; यह उसी से आविर्भूत है। प्रेम-रूपी पुष्प में वह पराग की भाँति निहित रहता है। बिना प्रेम के, घृणा की भावना कल्पना के परे होगी। ऐसा कभी नहीं होता कि घृणा द्वारा प्रेम आविर्भूत हो और घृणा-रूपी पराग प्रेम-रूपी पुष्प को जन्म दे दे। प्रेम की भावना सहज तथा नैस-

---

अधिकारी है। अन्त में एक तीसरा व्यक्ति स्वर्ग द्वार पर आता है। वह कहता है कि उसने तीन बार विवाह किया इसलिये उसे स्वर्ग में उच्च स्थान मिलना चाहिये। इतना सुनते ही सन्त पीटर को क्रोध आया वे बोले—'तू तो मुझे महामूर्ख जान पड़ता है! तू ने दुबारा विवाह करने के पश्चात् भी उससे कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की और तीसरा विवाह करने पर तुल गया। तू तो केवल नर्क का अधिकारी है; तुझे स्वर्ग के पास फटकने नहीं दिया जा सकता।' अपना सा मुँह लेकर वह नर्क की ओर चल पड़ता है।

गिक रूप में प्रस्तुत रहती है। घृणा की भावना न तो सहज है और न नैसर्गिक। वह प्रेमाधार पर ही जीवित है : उसका स्थान गौण है। फलतः जो हास्य, प्रेमव्यापार द्वारा प्रस्तुत किया जायगा अधिक आकर्षक तथा ग्राह्य होगा, उसकी चोट गहरी होगी। घृणा द्वारा आविर्भूत हास्य फूल में काँटे समान चुभेगा। यही कारण है कि श्रेष्ठ साहित्यकारों ने प्रेम का अक्षय आधार[1] लेकर सफल हास्य की सृष्टि की और घृणा का आधार विरलों ही ने लिया होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि मानव जीवन में प्रेम तथा घृणा का द्वन्द्व प्राचीन काल से अत्यन्त जटिल-रूप में चला आ रहा है; परन्तु इस द्वन्द्व में प्रेम की ही सदा विजय हुई है। सुखान्तकी लेखक ज्योंही इस तथ्य को पूर्णतः समझ लेता है त्योंही वह प्रेम-व्यापार को विषय रूप में अपनाता है और उस व्यापार में अवरोध प्रस्तुत करते हुए हास्य की सफल सृष्टि किया करता है। संसार के सभी श्रेष्ठ सुखान्तकी लेखकों[2] ने हास्य प्रसार के लिए प्रायः यही कार्य-शैली अपनाई है।

प्रायः सभी लेखकों ने भावी पत्नी; उसकी माता तथा पति की माता-तीनों को हास्य प्रस्तुत करने के लिए अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। पश्चिमी समाज ने यामाता तथा सास के सम्बन्धों[3] पर कटाक्ष करते हुए अनेक

---

१. अंग्रेजी साहित्य के महान नाटककार शेक्सपियर रचित 'आथेलो' नाटक में इस तथ्य का श्रेष्ठ उदाहरण मिलेगा। नायक ओथेलो भ्रमवश अपनी स्त्री पर अविश्वास करने लगता है; उसका प्रेम ऐसे स्तर पर पहुँच गया था जहाँ और कोई दूसरी भावना जा ही नहीं सकती थी। अपने अपूर्व दैवी प्रेम पर चोट पड़ते देख कर वह तिलमिला उठता है—परन्तु घृणा से नहीं। उसके प्रेम की पराकाष्ठा ही उसका हृदय छलनी करती है और उसी आवेश में वह अपनी स्त्री के सतीत्व पर लाञ्छन लगाता है। यदि ओथेलो में हास्य प्रस्तुत करने की सामर्थ्य होती तो दुःखान्तकी सम्भव ही न होती। उसका हास्य तो सुप्त है; निर्जीव है।

२. शेक्सपियर ने तो इस कार्य शैली से अमर हास्य की सृष्टि की है।

३. माता ने लड़की के लिये एक सुन्दर वर ढूँढ़ा, परन्तु जब लड़की ने उससे बातचीत शुरु की तो उसे ज्ञात हुआ कि उसका भावी पति नास्तिक है आर उसे नर्क में भी विश्वास नहीं। लड़की ने कहा—'माँ, मैं उससे विवाह नहीं करूँगी, वह नर्क में विश्वास नहीं करता' माँ ने अधिकार पूर्ण स्वर में कहा—'बेटी तू इसकी चिन्ता न कर, मैं विवाह के बाद तेरे घर आकर उसे विश्वास दिला दूँगी कि नर्क अवश्य है।'

रूप में हास्य प्रस्तुत किया है। प्रायः, अपना नया घर बसाते हुए पति-पत्नी मेहमानों से दूर ही रहना चाहते हैं; परन्तु ऐसे अवसरों पर सास मेहमानदारी पर तुल जाती है और उनके यहाँ जाकर ऐसे अचल रूप में टिक जाती हैं जिससे पति-पत्नी का जीवन दूभर हो जाता है। पश्चिमी समाज में इस परिस्थिति के आधार पर हास्य की यथेष्ट सृष्टि हुई है। प्रायः सास की अनाधिकार चेष्टा के अनेक हास्यास्पद रूप प्रस्तुत किए गए हैं जिसके द्वारा हास्य का सफल प्रसार हुआ है। मनोवैज्ञानिक रूप में यह कहा जा सकता है कि यामाता के मानसिक क्षेत्र में, सास उसकी माता का रूप ग्रहण कर लेती है, जिसके प्रेम व्यवहार के पथ में मानसिक अवरोध के फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत हुआ करता है। मनस्तत्वशास्त्री फ्रायड की विचारधारा के अनुसार यह तर्क भी संभव है कि यामाता की दृष्टि में सास की उपस्थिति 'सेक्स सम्बन्धों' की ओर अव्यक्त रूप में संकेत किया करती है। और पश्चिमी समाज में तो साधारणतः ऐसा हुआ है कि यामाता अपने होने वाली पत्नी की विमाता के प्रेम-पाश में पहले बँधता है तत्पश्चात् वधू का आश्रय पाता है। इस दृष्टि से यामाता के प्रेम-व्यापार में घृणा द्वारा विरोध प्रस्तुत होता है और हास्य प्रकाश पाता है। प्रायः साधारण स्त्रियों, पत्नियों, होने वाली वधू, सास इत्यादि के आधार पर प्रस्तुत हास्य 'सेक्स-सम्बन्धों' की ओर संकेत किए बिना ही प्रस्तुत होगा और अशिष्टता की सीमा छूना भी इसके लिए आवश्यक नहीं।

कदाचित इस विचार के प्रति सब को आश्चर्य होगा कि हमारे मानस में अश्लीलता के प्रति एक विषम तथा जटिल भावना प्रस्तुत रहती है; और प्रायः
एक ही भावना दो रूपों में प्रतिष्ठित होकर एक दूसरे का
अश्लीलता तथा संतुलन अथवा प्रतिकार किया करती हैं। कभी उसकी ओर
अवैध संबंध हम आकृष्ट होते हैं, कभी विमुख रहते हैं; और जब तक यह
विषम भावना बनी रहती है हम इसी आन्तरिक विरोध
के पाश में जकड़े रहते हैं। इसके साथ ही साथ वह 'सेक्स-सम्बन्धों' तथा नैसर्गिक लज्जा को भी उकसाती है; और लेखक ज्योंही लज्जा द्वारा प्रस्तुत अवरोध की ओर संकेत करने लगता है, हास्य प्रस्तुत हो जाता है। यही कारण है कि अश्लील हास्य आशिक्षितों तथा सभ्यता के बन्धन से दूर सभी जातियों को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है। उनके लिए एक शब्द अथवा एक अशिष्ट संकेत ही अट्टहास के लिए पर्याप्त होगा।

अश्लील हास्य की लोकप्रियता का दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वे 'सेक्स सम्बन्धों की ओर गहरे रूप में संकेत करते हैं, जो साधारण कोटि के

हास्यप्रद संवाद अथवा चुटकुले नहीं कर पाते। मनस्तत्व शास्त्र के अनुसार 'सेक्स' की भावना तो मनुष्य की आदि भावना है; वह अत्यन्त शक्तिशाली है; और वह हमारे मानसिक कार्य-व्यापार पर बहुत बेढंगे, समय आकर अपना अधिकार जमा लेती है। और जब तक हम अपनी इच्छाशक्ति द्वारा उसे दूर नहीं रख पाते और उसके वशीभूत रहते हैं तब तक वह अपना अधिकार जमाए रखती है। फलतः, समाज, 'सेक्स-सम्बन्धी' हास्यपूर्ण संकेतों को बहुत कुछ सहन कर लेता है और उस पर त्योरी नहीं चढ़ाता। यूनानी समाज में तो इसके प्रति आकर्षण विशेष था और यद्यपि पिछले ५०० वर्षों में पश्चिमी समाज इन संकेतों द्वारा प्रस्तुत हास्य पर पर्दा डालता आया है, परन्तु तर्क प्रेरित आधुनिक समाज ने इस आवरण को बिल्कुल हटा दिया है। मनस्तत्व शास्त्रियों के अनुसार 'सेक्स' की मूल भावना इतनी व्यापक, शक्तिशाली तथा हृदय-ग्राही होती है कि वह समय-असमय संकोच और लज्जा का बन्धन तोड़ती चलती है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि पर्दे के पीछे छिपी हुई वस्तु के प्रति हमारा आकर्षण विचित्र एवं तीव्र रूप में बना रहता है और यदि अश्लील अथवा अशिष्ट भावना पर कुछ पर्दा पड़ा हुआ दिखलाई देता है तो उसे खींचने में ही हमें विशेष आनन्द मिलता है। जिस प्रकार से आदि मानव 'आदम' तथा 'हौआ' को सभी फल प्राप्त थे, परन्तु ज्ञान-वृक्ष के फल को देखते ही वे सहज ही लालायित हो उठे, उसी प्रकार बन्धनयुक्त 'सेक्स-संबंध' हमें अव्यक्त रूप में प्रेरित करते हैं; वे हमे उन बन्धनों के तोड़ने की चुनौती देते हैं। सेक्स-सम्बन्धी स्वतन्त्रता उतनी आकर्षक नहीं जितने सेक्स-सम्बन्धी बन्धन आकर्षक होते हैं। प्रायः यह भी देखा जाता है कि आधुनिक समाज में, मनुष्य अशिष्ट तथा अश्लील चुटकुलों इत्यादि की ओर त्योरी उठाता है। उसका आग्रह यह रहता है कि जो भी हास्यप्रद बात कही जाय उस पर विचारशीलता की छाप हो और वह बात वक्रोक्ति के रूप में ही कही जाय, अपने नग्न रूप में नहीं। फलतः जो भी अशिष्ट चुटकुले सुनाए जाते हैं वे प्रायः वक्रोक्ति के रूप में ही ग्राह्य होते हैं और हम साधारण कोटि का ही हास्य प्रस्तुत कर पाते हैं; हम अट्टहास नहीं करते। अवरोध के लिए एकत्र की हुई अतिरिक्त शक्ति, विचारशीलता का वातावरण प्रस्तुत करने में व्यय हो जाती है और अट्टहास मुस्कान रूप में ही प्रस्तुत हो पाता है।

अनेक लेखकों का यह विचार है कि यूनानी जानबूझ कर अश्लीलता द्वारा आनन्द प्राप्त करते थे और उनका जीवन अनैतिक था। परन्तु सच तो यह है कि यूनानी समाज कभी-कभी नैतिक बन्धनों को तिलाञ्जलि देकर कुछ

समय के लिए अनैतिकता को खुल-खेलने देता था तत्पश्चात् पूर्णतः नैतिक जीवन व्यतीत करने में लग जाता था। नैतिकता की अटूट बेड़ियाँ पहने हुए यूनानी समाज को इसका सदा भय बना रहता था कि कहीं उसकी आत्मा कुंठित, नीरस तथा हृदयहीन न हो जाय। इसीलिए वे अपने त्योहारों में अश्लीलता का बाँध खोल देते थे, जिसके पश्चात् नैतिकता का वातावरण, भविष्य में, और भी गम्भीर हो उठता था। यूनानियों का जीवन कलापूर्ण था। उन्हें अपने सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों पर अपार श्रद्धा थी।

समाज में प्रायः ऐसे व्यक्तियों द्वारा भी हास्य प्रस्तुत होता रहा है जिनकी पारिवारिक कठिनाइयाँ बढ़ी-चढ़ी होती थीं। प्रायः ऐसा व्यक्ति सतत् हास्यास्पद रहा है जिसकी स्त्री अवैध प्रेम-पाश में बँध जाती थी। इस हास्य का प्रमुख कारण यह है कि साधारणतः हम दूसरों की असुविधाओं तथा उनके अभाग्य पर नैसर्गिक रूप में हँसते आए हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारे हृदय में विशेष भावनाओं का आविर्भाव होता है। पहले तो हम हास्य-रस की शक्ति के वशीभूत दूसरे की कठिनाई पर हँसते हैं; और दूसरे इस बात पर गर्व करने लगते हैं कि हम उस व्यक्ति से श्रेष्ठ हैं क्योंकि हमें वह कठिनाई नहीं झेलनी पड़ी। प्राचीन काल से आज तक सुखान्तकी लेखकों ने अवैध प्रेमवश पत्नी द्वारा तिरस्कृत पति को अत्यन्त हास्यास्पद ठहराया है। सामन्त-युग में नारी मनुष्य के हाथ की कठपुतली थी और उसे पति के हृदय पर पूर्ण अधिकार पाने का सौभाग्य न प्राप्त था। आधुनिक युग ने, सामन्तशाही को हटाकर, नारी को अनेक कारणवश ऐसी शक्ति प्रदान कर दी है कि अपने सतीत्व-पालन के मूल्य-स्वरूप वह पति से पत्नीत्व-पालन का आग्रह करती है। परित्यक्त पति हास्यास्पद इसीलिए हो जाता है कि पत्नी के प्रेम व्यापार में पति की स्थिति अवरोध का रूप ले लेती है। यह अवरोध सहज ही हास्य प्रस्तुत कर देगा।

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं, अश्लील हास्य प्रस्तुत करते समय हमारा ध्यान एकाएक शरीर तथा उसके विभिन्न शारीरिक कार्यों की ओर आकर्षित हो जाता है जिसे हम साधारण समाज की आँखों से लज्जावश छिपाए रहते हैं। 'सेक्स-सम्बन्धी' व्यवहार में संकोच की भावना जो अवरोध प्रस्तुत करती है, उसी अवरोध की अतिरिक्त शक्ति हास्य में परिणित हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होगा कि 'सेक्स' सम्बन्धों की ओर संकेत न पाते हुए भी हम हँस पड़ेंगे। उदाहरण के लिए हम अत्यधिक मोटे मनुष्य को देखते ही खिलखिला पड़ते हैं; टेढ़ी नाक, कूबड़ अथवा विकृत रूप से देखने वाली आँखों को देखकर हमें मुस्कुराहट आ ही जाती है। बेडौल व्यक्ति जो टेढ़े-मेढ़े

रूप में चलते हैं अथवा बौने जो अपने छोटे हाथ उठाकर हमसे दान माँगते हैं, हमें हँसा देते हैं। इस हास्य का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि हमारे मस्तिष्क में स्थायित्व पाए हुए तथा प्रतिष्ठित सौन्दर्य का आदर्श—सुन्दर चाल-ढाल, सौष्ठवपूर्ण कार्यशैली एवं आचार-विचार—इन बेढंगे व्यक्तियों को देखते ही साकार हो उठते हैं और प्रस्तुत विरोधाभास से हम हँस पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकार के हास्य के लिए यह अत्यावश्यक है कि इसमें कहीं भी कष्ट की भावना प्रस्तुत न रहे। कष्ट की भावना आते ही हास्य का प्रसार सम्भव नहीं होगा। एक दूसरे विचारक[1] का कथन है और जिसका व्यापक विवेचन हम आगे चलकर करेंगे कि अनेक शारीरिक कार्यों पर हम इसलिये हँसते हैं कि वे हमें जड़वत् कार्य करने का आभास देते हैं। समाज की आत्मा गतिशील तथा प्रेरणायुक्त रहती है; वह जड़वत कार्य करनेवाले व्यक्तियों को सतत हास्यस्पद प्रमाणित करेगी। कुछ विचारकों की यह भी धारणा है कि हास्य की सृष्टि तभी होती है जब हम किसी व्यक्ति को हीनावस्था में देखते हैं। गर्व की भावना के साथ-साथ हममें विद्वेष की भावना भी जन्म ले लेती है और उसी के फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत होता है। अन्यान्य विचारकों की इस सम्बन्ध में जो भी धारणा हो, हम यह सहज ही कह सकते हैं कि विवेचित सिद्धान्त के अनुसार हास्य प्रस्तुत करने के लिए अवरोध की अतिरिक्त शक्ति अपेक्षित होगी। जिस मुख को देखकर हम हँसते हैं वह साधारण मुखों से कहीं अधिक विकृत रहता है। कूबड़ अथवा टेढ़ी नाक भी अनावश्यक रूप में बेडौल तथा विकृत होकर ही हमारे सम्मुख आती हैं। इन्हें देखते ही हमारे साधारण मानसिक कार्य व्यापार में धक्का लगता है; आश्चर्य की भावना जागृत होती है; अवरोध होता है, फलतः हास्य की सृष्टि होती है। जब तक हमारे शारीरिक अवयव साधारण रूप लिए रहते हैं और उनका रंग, आकार, संकेत इत्यादि असाधारण कोटि का नहीं होता, हमारा ध्यान आकर्षित ही नहीं होता और न हममें आश्चर्य की भावना के उपरान्त किसी अवरोध का ही अनुभव होता है; अतएव हम हँसते नहीं। परन्तु वह नाक जो डेढ़ इञ्च के बजाय आधे इञ्च की अथवा सवापाँच इञ्च की हो जाय अथवा डग भरता हुआ व्यक्ति इतने लम्बे डग भरे कि गिर ही जाय अथवा पीठ का कूबड़ इतना बड़ा हो कि हमें रेगिस्तानों में चलने वाले किसी विशेष जाति के जीवों का आभास मिले तो हम सहज ही में हंस पड़ेंगे। कुछ व्यक्ति यह कहते सुने जाते हैं कि हमें शारीरिक कुरूपता पर हँसना नहीं चाहिए क्योंकि इससे विचार-शीलता की न्यूनता प्रमा-

---

१. बर्गसाँ।

णित होगी। किसी हद तक यह विचार सत्य हो सकता है। सच तो यह है कि जब हम किसी भी प्रकार की कुरूपता पर हँसते हैं, तो हम अपनी विचारशक्ति व्यवहृत नहीं करते और न करनी ही चाहिए। कुरूपता का दर्शन पाते ही यदि हम विचारग्रस्त हुए तो हास्य की आत्मा कभी भी प्रकाश न पाएगी। प्रस्तुत अवरोध विचार करने में लग जायगा और हास्य के स्थान पर कभी करुणा और कभी क्रोध का प्रसार होगा। जो अतिरिक्त शक्ति हास्य में प्रयुक्त होती वह दूसरी ओर लग गई; और यदि हास्य न प्रस्तुत हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

प्रकरण—३

कुछ अन्य प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ताओं[1] का कथन है कि हास्य के सहज माध्यम द्वारा बालक-वर्ग अपनी क्रीड़ा प्रवृत्ति का परिचय दिया करता है और प्रायः सभी प्रकार के हास्य का यही आधार रहेगा। क्रीड़ा के समय जो आनन्द बालकों को स्वभावतः प्राप्त होता है उसके द्वारा उनकी आदि प्रवृत्तियों की तुष्टि होती रहती है और ये प्रवृत्तियाँ सभ्यता की प्रगति के अनुसार सिमित एवं परिमार्जित होती रहती हैं। इसी सिद्धान्त के अतर्गत क्रीड़ा तथा कला का भी आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट होगा। कला चिन्तन द्वारा प्रादुर्भूत होती है और उसके द्वारा जो मनोभाव हमारे मन में प्रकाश पाते हैं और अपना घर बना लेते हैं उनकेआधार भी वे ही तत्व रहेंगे जो हमारे नित्यप्रति के प्रायोगिक जीवन में प्रकाश पाते रहते हैं। इसका प्रमाण यह है कि प्रेम-काव्य हममें प्रेमाग्रह लाता है; वीर-काव्य वीर-रस की अनुभूति देकर हमें शूर-वीर बननेका आदेश देता है।

बालकों का हास्य

इस सम्बन्ध में सबसे विचारणीय सिद्धान्त यह है कि केवल वही वस्तु हास्यास्पद होगी जो हमको दूर से हँसायेगी। हँसनेवाला व्यक्ति उसमें लिप्त नहीं होता; उस ओर वह विरक्त ही रहता है। हँसने के अतिरिक्त उसका उस हास्यास्पद वस्तु से कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं; प्रयोजन केवल इतना है कि वह उस हास्यास्पद वस्तु को देखता है अथवा उसके विषय में सुनता है। वह न तो उस ओर आकृष्ट होगा ओर न आसक्त रहेगा। तटस्थ हो कर ही वह उसे देखता सुनता है। और इसी तटस्थता द्वारा वह कला का जन्म सम्भव बनाता है। इसी दृष्टिकोण द्वारा संसार की श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सुखान्तकीयों की रचना भी सम्भव हुई है।

कठपुतली के खेल

प्रायः बालक-बालिकाएँ कठपुतलियों के नाच अथवा उनके आपस की रंगरलियों अथवा मार-पीट देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। बौनों को देख-कर तो वे अत्यन्त हर्षित होते हैं, विशेषतः ऐसे बौने जिनकी बहुत लम्बी और टेढ़ी नाक हो अथवा जिनका कूबड़ निकला हो अथवा जिनके पैर टेढ़े हों, उन्हें विशेष रूप में आकर्षित करेंगे। कभी-कभी वे बेडौल गुड्डे-गुड़ियों को भी देखकर हँस पड़ते हैं, जिसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वे गुड्डे पर नहीं

---

१. सली।

बल्कि उसके असाधारण रूप के लिए हुए शारीरिक अवयवों पर हँसते हैं। वे गुड्डों से प्रेम करते हैं और इसी प्रेम की भावना के अन्तर्गत गुड्डे का विकृत आकार, आश्चर्य को जन्म देता हुआ, अवरोध प्रस्तुत करता है जिसके फल-स्वरूप अतिरिक्त संचित शक्ति जो उस अवरोध के मिटने पर रह जाती है, हास्य का रूप ले लेती है। जब बालक बौने के विकृत आकार को देखता है तो उसके मानसिक कार्य-व्यापार में अवरोध प्रस्तुत होता है और वह शीघ्र ही समझ लेता है कि यह भी मनुष्य का एक रूप है—इसके साथ ही साथ हँसी फूट पड़ती है। बालकों के सम्बन्ध में यह भी सही है कि वे अपने अनु-भव के बल पर ही बहुत कुछ सीखते हैं; अपने संचित अनुभवों के आधार पर ही वे जिन वस्तुओं से अनभिज्ञ हैं उनको समझने की चेष्टा करते हैं। बालकों के अनुभव-क्षेत्र में मनुष्य मात्र की एक विशेष आकृति बनी हुई है। एक विकृत आकृति देखकर वे अपने अनुभव क्षेत्र की आकृति से उसकी तुलना करते हैं; उनमें आश्चर्य का आविर्भाव होता है और अवरोध प्रस्तुत हो जाता है। इसी अवरोध पर विजय पाने के लिए वे एक विशेष शक्ति का तत्काल संचय आरम्भ कर देते हैं और अवरोध पर विजय-प्राप्ति के उपरान्त अतिरिक्त शक्ति हास्य—रूप में प्रस्फुटित हो पड़ती है। एक श्रेष्ठ मनस्तलशास्त्रज्ञ[1] की विचार शैली के अनुसरण करने वाले यह कहते सुने जाते हैं कि बालक के सम्मुख गुड्डे की आकृति जननेन्द्रिय का प्रतीक बन जाती है; परन्तु अबोध बालक इस ज्ञान से तो नितान्त परे है। उसके हास्य के तो अन्य ही कारण होंगे।

कभी-कभी छोटे बालक कठपुतलियों की आपस की मारपीट से अत्यधिक आनन्दित होकर हँसने लगते हैं। इस आनन्द का कारण भी हम प्रस्तुत मनो-वैज्ञानिक विवेचन द्वारा सहज ही समझ लेंगे। प्रायः दर्शक-वर्ग जब मारपीट का दृश्य देखता है तो वह किसी न किसी दल का पक्ष ग्रहण करने लगता है; मानसिक रूप में तो वह कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लेकर, अव्यक्त सहानुभूति से प्रेरित हो उठता है। यही द्वन्द्वपूर्ण सहानुभूति की भावना अव-रोध लाकर हास्य प्रस्तुत कर देती है। जब मोटी छड़ी लिए हुए काठ का पुतला अपनी स्त्री को मार चलता है तो बालक के नैसर्गिक प्रेम व्यापार में अवरोध प्रस्तुत हो जाता है; उसकी सहानुभूति की भावना गतिशील हो उठती है और दोनों के द्वन्द्व के फलस्वरूप हास्य प्रकाश पाने लगता है।

---

१. फ्रॉयड।

तर्क की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि मारपीट के दृश्य हममें प्रेम और घृणा दो विरोधी भावनाओं का प्रसार करते हैं और इस विरोधाभास को, अतिरिक्त शक्ति द्वारा सुलझाते-सुलझाते हँसी फूट पड़ती है।

दैनिक घटनाएँ

साधारणतः जीवन में ऐसा भी देखा गया है कि हम एकाएक होने वाली घटना अथवा आपत्ति पर अट्टहास कर बैठते हैं। केले के छिलके पर पाँव पड़ते ही फिसलनेवाला भीम-काय व्यक्ति जब फिसल कर खोंचे-वाले से टकराता है, और खोंचेवाला अपना सारा खोंचा एकाएक कुछ चलते हुए व्यक्तियों पर लुढ़का देता है और खोंचे से सने हुए व्यक्ति जब एक दूसरे के कपड़ों से अपना हाँथ-मुँह पोंछना आरम्भ कर देते हैं और क्रोधवश हकला-हकलाकर गाली देने का प्रयास करते हैं तो हमें बहुत ज़ोर की हँसी आती है। हमारे प्रेम-व्यवहार में प्रस्तुत अवरोध ही इन हँसी के ठहाकों के भी कारण होंगे। प्रत्येक नवीन आपत्ति जो व्यक्ति पर आती है वह हमारे व्यवहार में विरोध प्रस्तुत करती है और आपत्ति-श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी सम्मुख आते ही हास्य का प्रसार कर चलती है। टहलते हुए व्यक्ति की टोपी जब हवा में उड़कर जमीन पर दौड़ने लगती है तब भी हमें हँसी आती है और इस हँसी के वही पुराने दो मूल आधार-घृणा और प्रेम का द्वन्द्व तथा मानसिक क्षेत्र में अवरोध की उपस्थिति—होंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि हँसी तभी गति पकड़ेगी जब भागती हुई टोपी की दौड़ रोक ली जायगी और जब वह व्यक्ति उसे कसकर सिर पर पहन लेगा। कुछ मनोविज्ञानज्ञ[1] इस परिस्थिति जन्य-हास्य में भी सेक्स-सम्बन्धों की छाप देखते हैं। टोपी भी उनकी दृष्टि में एक प्रकार से सेक्स-सम्बन्ध की ओर संकेत करती है क्योंकि अनेक समाजों में नंगे सिर रहना अशिष्टता का द्योतक है। जंगली जातियाँ भी सतत् सिर पर कुछ न कुछ टोपी के रूप में अवश्य पहनती हैं। सिर से टोपी उतारना ही अश्लीलता पर पड़े हुए आवरण को ही हटाना समझा जायगा। इसीलिए जब पुरुष अथवा स्त्रियाँ हवा में उड़ते हुये अपने हैट अथवा ओढ़नी के पीछे भागती हैं तो हमारे हँसी का बाँध टूट जाता है। शायद यही कारण है कि पश्चिमी स्त्रियाँ अपने हैट को अपने बालों में कस कर बाँध लेती हैं और हास्य-प्रकाश का अवसर यथासम्भव नहीं देती।

पिछले पृष्ठों में व्यापक विवेचन के फलस्वरूप हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वही दृश्य अथवा परिस्थिति अथवा घटना हास्य का प्रसार करेगी

१. फ्रायड के अनुसरण कर्त्ता

जो हमारी दृष्टि नैतिक क्षेत्र से हटाकर शारीरिक क्षेत्र की ओर ले जायगी। दूसरे, जब कभी हमारे प्रेम-व्यवहार में अवरोध प्रस्तुत होगा अथवा प्रेम और घृणा की वैषम्यपूर्ण परन्तु एक साथ प्रस्तुत भावनाएँ हमारे मानस में विकास पाएँगी, हमें हँसी अवश्य आएगी। कभी-कभी सेक्स-सम्बन्धों की ओर संकेत के फलस्वरूप भी हास्य का प्रसार होगा; परन्तु सच बात तो यह है कि जब हम किसी भी हास्यपूर्ण परिस्थिति अथवा घटना का सूक्ष्मवैज्ञानिक विवेचन करने पर तुल जाएँगे तो हास्य की आत्मा विदा माँग लेगी।

हास्य-प्रसार के लिये, जैसा कि पिछले पृष्ठों में स्पष्ट है, सुखान्तकी अथवा प्रहसन जिन-जिन साधनों को प्रयुक्त करते आये हैं वे सभी अपने मूल-रूप में बाल्यकाल की क्रीड़ा से सम्बन्धित होंगे। अनेक बार

आँख-मिचौली तथा छद्म-वेष

गिरने पर भी उठ बैठने वाले गुड्डे; नाचती हुई गुड़िया; मिट्टी का बना विशाल राक्षस इत्यादि सभी एक वर्ग विशेष के विचारकों[1] के अनुसार, जड़वत् कार्य के फलस्वरूप हमारे सम्मुख हास्य प्रस्तुत करते आये हैं। कार्यों की निरर्थक पुनरावृत्ति तथा अन्य सुव्यवस्थित कार्यों के उलट-फेर भी हास्य का प्रकाश करने में सफल हुए हैं। इस तर्क के सम्बन्ध में यह मत भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि केवल कार्यों की पुनरावृत्ति द्वारा हास्य प्रस्तुत नहीं होता। हास्य-प्रसार के लिये प्रेम-व्यवहार में अवरोध की उपस्थिति को भी मानना कदाचित् आवश्यक होगा। आँख मिचौली खेलते हुए बालक, बार-बार मुँह छिपाता हुआ पुतला, घूम-फिरकर मुँह चिढ़ाने वाला गुड्डा, हास्य इसीलिये प्रस्तुत करता है कि उनके द्वारा बालक के प्रेम-व्यापार में अवरोध आता है। साधारणतः जो भी व्यक्ति अथवा वस्तु बालक के सम्पर्क में आती है, सभी उसके साथ आँख-मिचौली खेलते हैं। जब बालक किसी भी हास्यास्पद गुड्डे को देखता है तो उसके मानस में उसी घृणा तथा प्रेम का द्वन्द्व छिड़ जाता है जिसके अवरोध के फलस्वरूप वह हास्य का प्रसार करता है। नाचता हुआ गुड्डा भी इसीलिये हास्य सफलरूप में प्रस्तुत कर लेता है; उसे देखकर ऐसा मानसिक वातावरण जन्म लेता है जो हास्य का प्रसार करने लगता है। नृत्य का प्रयोग प्रेम तथा युद्ध-क्षेत्र, दोनों में होता आया है और उसके किसी भी रूप द्वारा प्रेम-व्यापार में अवरोध की संभावना हो सकती है; फलतः हास्य भी जन्म ले लेगा। हो सकता है कि जड़वत् काय द्वारा हास्य में सहयोग मिले परन्तु जड़वत् कार्यों की पुनरावृत्ति हास्य का मूल

---

१. बर्गसाँ।

कारण मानने में संकोच होगा। हमारे मनस्तल में बहुत सी भावनाएँ छिपी-छिपाई पड़ी रहती हैं और वे ही हमें कार्य-रत भी करती हैं; परन्तु वहाँ हमें हास्य के दर्शन नहीं होते। अतएव तर्क रूप में यह विचारणीय है कि बिना अवरोध की उपस्थिति के हास्य का प्रसार कदाचित् सम्भव नहीं होगा।

साधारण जीवन में हम कभी उन व्यक्तियों की भाग-दौड़ पर भी हँसते हैं जिनके पीछे कुछ अन्य व्यक्ति भागते जाते हैं। कभी उनके छद्म-वेश पर भी हमें हँसी आने लगती हैं। इन दोनों परिस्थितियों में, हमारे संस्कार, हमें अपने बाल्यावस्था की सुधि दिलाने लग जाते हैं। माता के हाथों से छूट कर तीर सा भागता हुआ बालक हमारे मानस में पुनः साकार हो उठता है; वही प्रेम-व्यापार की क्रीड़ा पुनः जन्म लेने लग जाती है और हम हँस पड़ते हैं। इसीलिये हम उड़ती हुयी टोपी ही नहीं वरन् उस भागते हुये विदूषक पर भी जो पग-पग पर पकड़ाई देते-देते रह जाता है, बहुत ज़ोर से हँसने लगते हैं। छद्मवेश द्वारा आविर्भूत हँसी का भी यही कारण होगा। बालकों के साथ क्रीड़ा करते हुये बुड्ढे व्यक्ति जब शेर की खाल ओढ़ कर घुटने के बल चलने लगते हैं और थोड़ी ही देर में उनके पैर में पहने हुये जूते दिखाई दे जाते हैं तो बालक-वृन्द अट्टहास कर बैठते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यदि यह छद्मवेश बहुत देर तक प्रयुक्त हुआ तो हास्य समाप्त हो जायगा। क्योंकि यह हास्य प्रेम-व्यवहार में अवरोध के फलस्वरूप ही प्रस्तुत होता है और यदि जिस संशय की भावना पर विजय पाने के उपरान्त हास्य सम्भव हुआ, शीघ्र ही वह विदा न हुयी तो हास्य विदा हो जायगा। छद्म-वेश दूर होते ही संशय का अंत हो जाता है और प्रेम-व्यवहार की मूल-भावना, सरल गति से अपनी राह पर चलती हुई, अवरोध पर विजय-प्राप्ति का अनुभव कर, हास्य प्रस्तुत कर देती है। छद्मवेश[1] दर्शक-वर्ग में द्विविधा की सृष्टि कर ही हास्य प्रस्तुत करेगा परन्तु इतना अवश्य विचारणीय है कि छद्म-वेश रंगस्थल पर उस व्यक्ति को ही (जिसके सम्मुख वह प्रस्तुत किया जा रहा है अथवा संभव हो रहा है) भुलावे में डालता है; दर्शक-वर्ग को नहीं। दर्शक-वर्ग तो सत्यता से परि-

---

१. इस नाटकीय तत्व को प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने अपने नाटकों में व्यापक रूप में व्यवहृत किया है; और कहीं-कहीं तो वे अनावश्यक रूप में भी इसके द्वारा हास्य-प्रसार में नहीं चूके। प्रायः उनके स्त्री-पात्र पुरुष का छद्म-वेश धारण करते हैं। यूनानी नाटक-कारों, विशेषकर एरिस्टाफ़ेनीज़ के नाटकों में पुरुष-पात्र स्त्री का छद्म-वेश धारण करते हैं।

चित ही है परन्तु द्विविधा इस बात की होती है कि कहीं वह छद्मवेश धारण किये हुये व्यक्ति पकड़ा तो नहीं जाता। उसके पकड़े जाते ही हँसी फूट पड़ती है। संभवतः इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम-व्यवहार के पथ में अवरोध की भावना का शमन होते ही हास्य सतत प्रस्तुत होगा। ज्यों ही प्रेम-व्यवहार द्वारा प्रस्तुत संशय की भावना का अन्त हुआ त्यों ही हास्य का प्रसार अविरल रूप में होने लगेगा।

साधारणतः अनैतिक कार्यों के प्रदर्शन के अन्तर्गत भी हास्य रस का प्रसार लेखकों ने किया है; परन्तु उन्होंने इस बात पर सदा ध्यान रखा कि अनैतिक कार्य इस कोटि का न हो जो घोर विरोध की भावना को जन्म दे। यदि दर्शक वर्ग में अनैतिक कार्य के प्रति गहरे विरोध का आविर्भाव हुआ तो हास्य का कभी भी सफल प्रकाश न हो पायेगा। इन परिस्थितियों में हमें कुछ देर के लिये नैतिकता अथवा नैतिक भावनाओं पर आवरण डाल देना होगा: उनका निर्देश थोड़ी देर तक भुला देना पड़ेगा और प्रस्तुत परिस्थिति को नैतिकता-रहित दृष्टिकोण से देखना होगा। ज्यों ही हमने अपना नैतिक दृष्टिकोण, थोड़ी देर के लिये, परिस्थिति पर एकाग्र न कर किसी दूसरी ओर लगा लिया त्योंही हास्य-रस का आर्विभाव होगा। उदाहरण के लिये हमें कुछ उन नाटकीय पात्रों को देखना होगा जो अपने क्षणिक अनैतिक कार्यों द्वारा हास्य प्रस्तुत करते आये हैं। उनकी अनैतिकता एक प्रकार से हम क्षमा ही नहीं करते वरन् उतनी अनैतिकता उस प्रकार के परिहास-प्रिय व्यक्ति के लिये अपेक्षित भी समझते हैं। नाटकों के कुछ विदूषक अपनी जान बचाने के लिये; अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिये; नायक के प्रतिद्वन्द्वी को पथ-भ्रष्ट करने के लिये; नायक को आनन्द-पूर्ण रखने के लिये; अपने लिये स्वतः प्रेमिका ढूँढ़ने के लिये; अपने स्थूल शरीर के लिये व्यापक सेवा प्राप्त करने के लिये, ऋण लेकर आनन्दोत्सव मनाने के लिये; कृपणों को पैसे की चोट देने के लिये; अपने मित्रों को प्रफुल्लित रखने के लिये अनेक प्रकार के झूठ बोलते हैं; छल करते हैं; प्रपंच रचते हैं। परन्तु इन कार्यों की ओर हम नैतिक दृष्टि से नहीं देखते; हम अपनी नैतिकता को कुछ क्षणों के लिये अवकाश दे देते हैं। जिस प्रकार पाठशालाओं से छुट्टी पाये हुये छोटे बालकों के ऊधम और बाल-सुलभ चंचलता तथा उनके अनेक अशिष्ट कार्यों की ओर हम कुछ देर के लिये उन्मुख नहीं होते उसी प्रकार पात्रों अथवा व्यक्तियों के कुछ ऐसे साधारण एवं क्षणिक अनैतिक कृत्यों के प्रति, जो हास्य का प्रसार करते हैं,

अनैतिक कार्य

हम आँख नहीं उठाते : उनकी अनैतिकता हम कुछ क्षणों के लिये विस्मृत कर देते हैं और हास्य का आनन्द लेने में सहयोग देने लगते हैं। ऐसे छोटे-मोटे अनैतिक कार्य जो न तो मार्मिक चोट पहुंचायें और न जो घोर स्वेच्छाचारिता एवं अमानुषिक स्वार्थ का परिचय दें और साथ ही साथ व्यक्ति की आनन्द-प्रियता, बन्धुत्व की भावना तथा मानवी-स्वातन्त्र्य का प्रदर्शन करें, हमें सर्वथा प्रिय होंगे। उनके द्वारा सतत हास्य प्रदर्शित होगा। सड़क पर टहलते हुये किसी प्रसिद्धि-प्राप्त कृपण की जेब से चुपचाप पैसे निकाल कर जब कोई पास जाते हुए भिखारी को दे देता है अथवा उसी कृपण के पैसों से उसकी विशाल मित्र-मण्डली की दावत बोल देता है और भोजनोपरान्त रहस्य खुलने पर भाग खड़ा होता है तो कौन ऐसा व्यक्ति है जो इन कार्यों के अनैतिक होने हुये भी अनैतिक कहे!

यदि मनोवैज्ञानिक रूप में देखा जाय तो हम सब में, मनुष्य होने के नाते छल, प्रपंच, झूठ, ईर्ष्या, दंभ, गर्व, पाखण्ड इत्यादि के कुछ न कुछ अंश बीज रूप में निहित रहते हैं और यदि हमारे अच्छे संस्कार तथा अन्य सामाजिक अंकुश हम पर नियन्त्रण न रखें और सामाजिक व्यवस्था हमें हतोत्साहित न करती रहे और राज्यदण्ड की संभावना न रहे तो शायद हम बहुत कुछ कर बैठें। यही कारण है कि रंगस्थल अथवा जीवन में अभिनीत इन कार्यों के चलते-फिरते प्रमाण मिलने पर हमें एक प्रकार का मानसिक आनन्द प्राप्त होने लगता है। परन्तु ध्यान रहे कि केवल ऐसे कार्य हमें आनन्द देंगे जिनके द्वारा न तो किसी का दिल टूटे, न अपार क्षति पहुँचे और न घोर पीड़ा हो। मार्मिक चोट कभी भी हास्य का प्रसार नहीं करेगी। वे ही कार्य जो अनैतिक होते हुये भी अनैतिक नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे मानवी-भावना से प्रेरित हैं, सफल हास्य का प्रदर्शन करेंगे। स्थूल-काय व्यक्ति को इच्छा-भोजन करते हुये देख उसकी टोपी उड़ा कर भागता हुआ बालक; अथवा मूसलाधार वर्षा के समय किसी का छाता बिना आज्ञा लिये घर की ओर टहलता हुआ व्यक्ति; शराब के नशे में वीरता का पाठ पढ़ाता हुआ व्यक्ति; कर्कशा नारी के सम्मुख भूँकते हुये कुत्ते; आत्म-हत्या की धमकी देता हुआ प्रपंच-पूर्ण पति; फैशनेबिल महिला का बैग चुरा कर उसके द्वारा शृंगार कर, फ़ेशन के मार्ग पर अग्रसर होती हुयी स्त्री-सभी समुचित रूप में हास्य प्रदर्शित करेंगे। साधारण रूप में ये समस्त कार्य अशिष्ट, अनैतिक तथा न्याय-विरुद्ध समझे-जाँयगे; परन्तु यदि सच पूछा जाय तो इनमें एक असाधारण नैतिकता के दर्शन होंगे। ऐसी कोरी नैतिकता को पाखण्ड को प्रश्रय दे; ऐसी कठोर न्याय-प्रियता जो

श्रृङ्गार-विहीन सुन्दरी को श्रृङ्गार से वञ्चित रखे; ऐसी अशिष्टता जो बालक के मानवी आग्रह पर पानी फेर दे किस काम की ?

उपरोक्त परिस्थितियों के अनेकरूपेण साहित्यिक प्रदर्शन द्वारा समाज ने अद्‌भुत रूप में हास्य-रस का अनुभव किया है। साहित्यकार को केवल इतना ध्यान में रखना होगा कि इन परिस्थितियों के वर्णन और विवरण में शिथिलता न आने पाये; यदि कहीं भी शिथिलता आगई तो हास्य का प्रसार दुर्लभ होगा। हवा के निरंतर झोंके से जिस प्रकार पतंग तेजी से ऊपर बढ़ती है और पतंग उड़ाने वाला बालक निरन्तर मँझा ढील पर रखता है उसी प्रकार वर्णन गतिशील होना चाहिये और लेखक को निरंतर ढील पर ढील देते रहना चाहिये जब तक कि वांच्छित हास्य प्रस्तुत न हो जाय।

जिन अनैतिक व्यक्तियों के आचार-विचार के वर्णन द्वारा लेखक हास्य प्रस्तुत करना चाहे उन व्यक्तियों के चरित्र में भी उसे कुछ तत्व विशेष दिखलाने होंगे। यदि ये व्यक्ति भी मानसिक शैथिल्य के शिकार होंगे और अपना कार्य उत्साहहीन रूप में करेंगे तो हास्य-प्रदर्शन में विफलता मिलेगी। इन अनैतिक व्यक्तियों को अशिष्ठ कार्यों में अत्यन्त उत्साह प्रदर्शित करना चाहिये; यह कार्य उनके लिये जीवन-मरण का प्रश्न बन जाना चाहिये और जो भी उन्हे देखे अथवा उनके सम्पर्क मे आये उसे भी, यदि दुगना नहीं तो कम से कम उतना ही उत्साह दिखला कर उनके कार्य में सहयोग देना चाहिये। शरारती बालक जब कुछ करके भागता है तो उसके सहयोगी उससे भी ज़ोर से भागते हैं; इसी प्रकार प्रमुख व्यक्ति के अनैतिक कार्य में सहयोग देने वाले भी पूर्णरूप में उत्तेजित तथा उत्साहित रहने चाहिये। इन कार्यों की गतिशीलता इतनी अधिक रहनी चाहिए कि हमें अपनी नैतिकता का ध्यान ही नहीं आए; हम उस ओर उन्मुख ही नहीं हो और प्रस्तुत कार्य की उत्तेजना तथा उत्साह में सहयोग देकर आनन्द का अनुभव करने लगें। इस सम्बन्ध में सहयोगियों का एक और कार्य भी होना चाहिये। उन्हे अपने प्रमुख नेता के कार्यों की अनैतिकता की ओर तो किंचित मात्र भी ध्यान नहीं देना चाहिये और साथ ही साथ उस पर पर्दा भी डालते रहना चाहिये। किसी भी क्रोध-पूर्ण आलोचना अथवा प्रतिशोधपूर्ण भाव-भंगी को देखते ही उन्हें भड़कती हुयी आग पर पानी डालना ही अपेक्षित होगा। उन्हें यही कहना चाहिये—'जाने भी दीजिये भलेमानसों काम लड़ाई झगड़ा नहीं।' 'आँख फूटी पीर गयी' भूल भी जाइये दुनिया ऐसी ही है।' इन बातों से सहानुभूति के विकास में सहायता मिलेगी और तत्पश्चात् हास्य अपने सफल रूप में प्रस्तुत होगा।

उदाहरणार्थ केले के छिलके पर फिसल कर गिरते हुये स्थूल-काय व्यक्ति को देख कर जब छोटे बालक ताली देकर हँसने लगते हैं और धराशायी व्यक्ति गालियों की झड़ी लगा देता है तो सांत्वना देने के लिये कुछ समाज-सुधारक दो एक चपत लगाकर लड़कों को भगा देते हैं ; और सहानुभूति का विकास होते-होते ज्योंही भागता हुआ बालक मुंह चिढ़ाकर दूनी गति से भागता है तो हँसी उतनी ही ज़ोर से फूट पड़ती है। इस सम्बन्ध में यह विचार भी तर्कपूर्ण जान पड़ता है कि साधारणतः मनुष्य की नैतिकता की भावना सतत सतर्क रूप में उसके मानस में निवास नहीं करती; वह निश्चेष्ट रूप में रहती है। और जब तक आग्रह-पूर्वक उसे सचेत ने किया जायगा वह विरक्त रूप में बैठी रहेगी। फलतः अनेक अशिष्ट, अश्लील तथा अनैतिक कार्यों के प्रदर्शन द्वारा सफल हास्य का प्रसार हुआ करेगा।

साधारणतः हास्य-प्रसारक लेखकों ने आचरण-संबंधी उन्हीं दोषों को विषय-रूप में प्रयुक्त किया है जिनमें क्षति पहुँचाने की क्षमता अधिक मात्रा में नहीं रहती। कुछ दोष ऐसे भी हैं जो न तो उग्र रूप धारण करते हैं और न प्राण-हन्ता ही होते हैं ; और उनके समुचित प्रदर्शन द्वारा हास्य का सफल प्रकाश हो सकता है। कलाकार का उद्देश्य यही रहेगा कि इस हास्य द्वारा मनुष्य की मूल नैतिकता की भावना सुरक्षित रहे और उसके आचरण में संशोधन होता जाय। प्रायः लेखकों ने मद्यपान, पेटूपन, चोरी, असत्य भाषण, कायरता, पाखण्ड, दंभ इत्यादि ऐसे आचरण-संबंधी दोषों को ही हास्य प्रदर्शन के लिये प्रयुक्त किया है। साहित्य के माध्यम द्वारा, इन दोषों के प्रदर्शन से यह आशा की जाती थी कि इससे समाज शिक्षा-ग्रहण करेगा और अपने चरित्र का परिष्कार करने में सफल होगा। इन समस्त आचरण-संबंधी दोषों द्वारा आविर्भूत हास्य का कारण, प्रेम-व्यापार मार्ग में अवरोध को उपस्थिति माना जा सकता है। साधारणतः कदाचित् हम स्पष्ट रूप में इस सिद्धान्त का आरोप न भी कर पायें परन्तु इसमें सदेह नहीं कि अप्रत्याशित रूप में इस सिद्धान्त के अनुसार हास्य का प्रदर्शन संभवतः हुआ करेगा। यद्यपि बालकों के जीवन में इसके प्रमाण चाहे न्यून हों परन्तु वयस्कों तथा युवाओं के जीवन में इसके प्रमाण विशेष रूप में मिलेंगे।

असत्याचरण

प्रायः, बालक जब सड़क पर डगमगाते और मंडलाती चाल चलते हुये किसी शराबी को देखते हैं तो हंसने लगते हैं। कभी वह नशे की हालत में टोपी उलटी दे लेता है ; और उसके हाथ की छड़ी पकड़ते-पकड़ते दूर

जा गिरती है; वह फिसल कर चारो खाने चित्त गिरता है; और जितनी ही उठने की कोशिश करता है उतना ही गिरता पड़ता रहता है। अपने शारीरिक अवयवों पर से उसका सहज नियंत्रण हट जाता है और वह सरकस में कार्य करते हुये विदूषकों के समान गिरते-पड़ते, बालकों का मनोरंजन करता है। बड़े बालकों को हंसी इसी कारण आती है कि उनके प्रेम-व्यवहार मार्ग का अवरुंधन होने लगता है। प्रायः सभी गृहस्थ अपनी बाल-मण्डली को शराब से दूर रखते हैं: वे उसे बुरा तथा घृणित कह कर टाल देते हैं। जिस प्रकार सेक्स-संबंधों पर वे पर्दा डालते रहते हैं और उस विषय पर निषेध लगाकर उसकी चर्चा तक नहीं होने देते वैसे ही वे उन्हें मद्य-पान से दूर रखना चाहते हैं। इसका फल यह होता है कि बालक के मनस्तल में शराब के प्रति उन्हीं भावनाओं का उद्रेक होगा जो सेक्स-संबंधी विषयों पर निषेध लगाने के फलस्वरूप होता है। वह दोनों विषयों पर लगाये हुये निषेध को एक ही दृष्टि से देखेगा। शराबी की भाव-भंगी; उसकी वेश-भूषा; उसकी चाल-ढाल सभी के पीछे उसे सेक्स-संबंधी संकेतों के दर्शन होने लगेंगे। वे उन्हें अशिष्ट तथा अश्लील समझ कर उससे दूर रहने के प्रयत्न में, मानसिक क्षेत्र में, अवरोध का अनुभव कर हास्य प्रदर्शित कर चलेंगे। मद्य के शारीरिक संकेत अतिशय अश्लील होने के कारण बालक के मन में उन्हीं मनोवेगों को तरंगित करते हैं, जो अवरोध की भावना का अनुभव कर हास्य का सफल प्रदर्शन करेंगी।

कदाचित पेटूपन से सेक्स का संबंध अत्यन्त घनिष्ट नहीं; और यही कारण है कि लेखकों को इस विषयाधार द्वारा हास्य के प्रसार में अधिक सफलता नहीं मिली। जो भी हास्य यथासंभव प्रस्तुत हुआ, वह न तो व्यापक था और न स्थायी। साधारणतः जब बाल-मण्डली किसी पेटू व्यक्ति को भोजन पर टूटते देखती है तो उन्हें उस व्यक्ति की अमानुषिक क्षुधा तथा उसके तृप्त करने की चेष्टाओं में शिष्टाचार की अत्यधिक न्यूनता दिखाई देती है। यह भावना हमें उस पेटू व्यक्ति के प्रति समुचित रूप में आकृष्ट नहीं होने देती और इस अवरोध के फलस्वरूप हास्य की सृष्टि होने लगती है। बालक, पेटू व्यक्ति की स्थूलता, उसकी विशाल काया को प्रेमव्यापार का शत्रु समझने लगता है। उसको यह प्रतीत होने लगता है कि उसके सम्मुख खड़ा व्यक्ति मनुष्य न होकर मशक समान है: उसकी दृष्टि उसके शारीरिक अवयवों पर केन्द्रित हो जाती है; उसे उसकी स्थूलता पर सहानुभूति-मिश्रित हँसी आने लगती है और ज्यों-ज्यों उसकी स्थूलता द्वारा

प्रेम-व्यवहार में अवरोध की भावना का विकास होता जाता है त्यों-त्यों हास्य भी प्रस्फुटित होता जाता है। इसी अवरोध का अनुभव चोरों के अनेक कार्यों द्वारा भी होगा। चोरी करने के पहले जब चोर हमारी सहानुभूति प्राप्त कर लेता है तो हमारे प्रेम-व्यवहार में प्रयुक्त मनोवेगों को तरंगित कर देता है। तत्पश्चात् अतिरिक्त शक्ति द्वारा हास्य का प्रसार संभव हो जाता है। एक भूखा बालक जब हलवाई की दूकान पर, जहाँ एक दूसरा छोटा बालक बैठा मक्खियाँ उड़ा रहा है, जलेबियाँ खाना शुरू कर देता है और नाम पूछने पर बतलाता है कि वह भी मक्खी है तो हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं और जब वही रखवाली करता हुआ बालक घर के अन्दर बैठे हुये अपने पिता से शिकायत करता है कि 'एक मक्खी' सब जलेबी खाये जा रही है तो प्रत्युत्तर में पिता ज़ोर से आवाज़ लगाता है कि 'खाने दे' 'मक्खी कितना खायगी !' तो हम पुनः खिलखिला पड़ते हैं। चोर के प्रति विरोध की भावना शीघ्र ही सहानुभूति में परिवर्त्तित होने लगती है और सहानुभूतिप्राप्ति प्रेम व्यवहार की पहली सिढ़ी है। इसी सहानुभूति की मात्रा आनन्द में परिवर्त्तित हो जाती है। असत्यभाषण, कायरता, पाखण्ड, दंभ इत्यादि जहाँ कहीं भी हास्य प्रसार में प्रयुक्त हुये हैं, इसी उपर्युक्त सिद्धान्त के फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत करते रहे हैं। यद्यपि हम मिथ्याभाषण के प्रति विरोध की भावना सतत रखते हैं परन्तु जब उसका फल न तो विपत्ति को आवाहन देता है और न उसका परिणाम हमें व्यथित करता है तो सहजरूप में हास्य प्रकाशित होने लगता है। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जलेबी को इच्छापूर्वक खाता हुआ बालक अपना नाम बतलाने में असत्य भाषण कर रहा है और असत्य भाषण अनैतिक है। परन्तु इस असत्य भाषण से कोई ऐसी हानि नहीं हो रही है कि किसी का घर उजड़ जाय अथवा जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाय। बालक के प्रति हमारी सहानुभूति जागृत रहती है; उसके मिथ्याभाषण के प्रति हम उदासीन से हो जाते हैं; फलतः हम हास्य प्रदर्शित करते हैं। इसी सिद्धान्त का आरोप कायरता द्वारा प्रसूत हास्य पर भी संभव होगा। यद्यपि हम यह भली-भाँति जानते हैं कि कायरता मानवता की शत्रु है, वह मानवी सम्मान का हनन करती है परन्तु ऐसी मानवी कायरता जो नारी पर हाथ नहीं उठाती और उसके वज्रप्रहार को भी पुष्प-वर्षा समझती है; ऐसी मानवी कायरता जो फ़ौज के चले जाने के बाद एकाएक वीरता के नारे लगाना आरंभ कर देती है सतत् हास्य प्रदर्शित करेगी। तुमुल नाद करती हुई सेना जब जंगल से निकलती है

और सैनिक वेश-भूषा में सुसज्जित पेड़ की डाल से लटका हुआ विदूषक जब भयभीत हो एकाएक गिर पड़ता है और मृतक की मुद्रा बना कर चुप-चाप प्राणायाम कर लेट जाता है, और सेनापति उसे हिलाडुला कर छोड़ देता है, तो हमें विदूषक की कायरता पर क्रोध नहीं आता, वह हमारी सहानुभूति का पात्र बन जाता है; हम उस पर हँस पड़ते हैं। विदूषक की कायरता हममें न तो क्षोभ का संचार करती है और न हम उससे व्यथित ही होते हैं। हमारी नैतिक दृष्टि उस ओर देख कर भी नहीं देखती और व्यक्ति के प्रति हमारी श्रद्धा घटने की अपेक्षा बढ़ सी जाती है; हमें उसकी बुद्धिमानी प्रिय लगने लगती है और हमारी सहानुभूति-प्राप्ति के पश्चात् वह सफल रूप में हास्य प्रस्तुत करने लगता है। इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि हम विदूषक से वीरता की आशा भी तो नहीं करते; वह तो परिस्थितियों का शिकारमात्र है। इसलिये ऐसे व्यक्ति जिनसे हम किसी गुण विशेष की आशा नहीं करते परिस्थिति के चक्कर में पड़ कर हास्य प्रस्तुत करने लगेंगे। सेनापति से हम वीरता की आशा रखते हैं, प्रेमी में हम त्याग और अनुराग की भावना चाहते हैं, स्त्री में हम निस्वार्थ सेवा तथा आज्ञाकारिता अपेक्षित समझते हैं; परन्तु न तो विदूषक से, न पाखण्डी से और न स्वेच्छाचारिणी से हम क्रमशः वीरता, त्याग तथा आज्ञाकारिता की आशा करते हैं; और परिस्थिति के अनुसार जब वे अपने मूल गुण छोड़ कर दूसरे गुणों का प्रदर्शन करने लगेंगे तो हमें हँसी आही जायगी। प्रायः विरले लेखकों ने कायरता की भावना का आधार ले कर हास्य प्रदर्शित करने का प्रयास किया है और यह कार्य नितान्त कठिन भी रहा है। इसका मूल कारण यह है कि कदाचित ही कोई ऐसा सफल लेखक हो जो कायरता को गुण का आवरण पहना सके: वास्तव में उसका प्रदर्शन दोष रूप में ही हुआ है। और दूसरे जब से मानव-समाज सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित हुआ तब से मनुष्य से ही आशा की जाती है कि वह वीर कार्यों में सबसे आगे रहेगा; नेतृत्व ग्रहण करेगा और अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देगा। ऐसी मूल मानवी भावना के प्रतिकूल कायरता की प्रशंसा करने का साहस किसे होगा और उसे क्षम्य भी कैसे समझा जायगा। जिन लेखकों ने इस विषयाधार पर सफल हास्य प्रस्तुत किया है उन्होंने प्रायः यही दुहाई दी कि उनका पात्र कायर होते हुये भी कायर नहीं कहा जा सकता: उसके प्रति उन्होंने हमारी सहानुभूति जागृत की जिसके फल-स्वरूप कायरता थोड़े-बहुत अन्य गुणों का आवरण लेकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुई और इसी कारण हास्य

प्रदर्शन भी संभव हुआ। पाखण्ड की भावना द्वारा भी जिन लेखकों ने हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की उनमें कुछ ही को सफलता प्राप्त हुई। पाखण्ड जब हमारे सामाजिक आदर्शों में घुन की तरह लग जाता है तो उसके द्वारा हास्य-प्रदर्शन कठिन हो जायगा क्योंकि उसके प्रति हमारी घृणा ही जागृत होगी, और वे ही लेखक जो वाह्यवादी[1] रूप में, तटस्थ रह कर, पाखण्ड का हास्या-स्पद प्रयोग कर सकेंगे सफल होंगे। साधारणतः पाखण्ड द्वारा हास्य व्यंग्यपूर्ण रचनाओं में ही सफलरूप मे प्रस्तुत हो सका है: उसके द्वारा मानसिक हास्य की, जिसकी श्रेष्ठता से हम आगामी प्रकरणो में परिचित होंगे, सृष्टि नहीं हो सकेगी। धार्मिक जीवन में ही प्रायः हमें पाखण्ड के विराट तथा व्यापक दर्शन हुये है यद्यपि अन्य मानवी क्षेत्र भी अछूते नहीं रहे। अपने धर्माध्यक्षों के आदर्शों तथा उनके क्रिया-कलाप की विषमता एवं विपरीतता पर हम सतत हंसते आये हैं। परन्तु यह हास्य व्यंग्य-क्षेत्र का ही हास्य रहा है। कभी कभी धर्माध्यक्षों की छोटी-मोटी कमज़ोरियों और उनके आचार-विचार के छोटे-मोटे अवगुणों के प्रदर्शन द्वारा भी सफल हास्य की सृष्टि हुई है; परन्तु ऐसे दोष तथा अवगुण जिनसे धर्म की आत्मा को गहरी क्षति पहुचती कभी भी हास्यास्पद नहीं हो पाये : उनके प्रति हमारी घृणा तथा हमारा क्रोध ही प्रदर्शित हुआ करेगा।

प्रायः सभी हास्य प्रस्तुत करने वाले लेखकों ने दंभ को भी विषयाधार मान कर सफल हास्य-प्रदर्शित किया है। कदाचित यह विषयाधार बहुत पुराना भी है और सभी देशों के साहित्यकारों ने इसका अविरल प्रयोग किया है। मनुष्य का अहंभाव ही दंभ का जन्म दाता है। यद्यपि यह भावना जब तक अपने साधारण रूप तथा समुचित स्तर पर रहती है आवश्यक ही नहीं श्रेयस्कर भी रह सकती हैं क्यों कि इसी के द्वारा मनुष्य के चरित्र में दृढ़ता, वीरता, धैर्य, शौर्य इत्यादि गुणों की प्रगति होगी। परन्तु जब यह भावना अपने असाधारण तथा असंतुलित रूप में प्रकाश पाने लगती है तो उससे हानि की संभावना होने लगती है और इसी असंतुलित तथा असाधारण रूप में ही दंभ की भावना हास्य-प्रसारक लेखकों को रुचिकर रही है। जहाँ एक ओर अहंभाव कुछ श्रेष्ठ गुणों को प्रोत्साहित करता है दूसरी ओर वैर, उन्माद तथा अमानुषिकता कों भी जन्म दे सकता है। अहं की भावना, व्यक्ति को साधारण कार्यों से विमुख कर असाधारण कार्यों की ओर ले जायँगी और जो कुछ भी उस व्यक्ति से आशा की जाती है उसकी पूर्त्ति नहीं हो पायेगी। इसी कारण हास्य का प्रकाश होने लगेगा। दंभ, हमारे व्यक्तित्व को विचित्र रूप

१. देखिए—'काव्य की परख'

में कुरूप बना देता है और कुरूपता सदा से ही हास्य-प्रद रही है। इसके प्रति हमारे मानस में दो विरोधी भावों का संचार होता है; हमारा आकर्षण तथा हमारा विरोध समान रूप में जन्म लेता है। आकर्षण इसलिये होता है कि हमारी मूल भावनाओं में इसका स्रोत छिपा है और विरोध इसलिये कि हम उसका दूषित रूप समक्ष देख रहे हैं; और ज्योंही हमारी मूल भावना के प्रसार मे अवरोध प्रस्तुत होगा त्योहीं हास्य का प्रसार भी संभव हुआ करेगा।

अन्यान्य देशों के साहित्यकारों की हास्यपूर्ण कृतियों के अध्ययन के फल स्वरूप यह तर्करूप में कहा जा सकता है कि प्रायः भूत-प्रेत

भूत-प्रेत

इत्यादि से संबंधित विषयाधारों को चुन कर भी सफल हास्य प्रदर्शित किया गया है। सभी युगों के लेखकों ने इस विषय को अपनाया और यथेष्ठ सफलता भी पाई। साधारणतया आदिकाल से ही मनुष्य भूत, प्रेत, इत्यादि द्वारा अशुभ तथा अधर्म का संकेत पाता आया है; और जो कुछ भी उनके लिये हानिकर अथवा दुःखदायी होता था उसका संबंध प्रेत-जगत से सहज ही जोड़ दिया जाता था। इसीलिये जब कभी मनुष्य ने भूत-प्रेत इत्यादि का वर्णन किया उन्हें न तो समाज के लिये आनन्ददायी समझा और न उनका अस्तित्व ही लाभप्रद माना। समाज तथा सभ्यता के आदि काल में प्रायः जो भी अशुभ अथवा अहितकर अनुभव हुए होंगे उनसे भय का ही आविर्भाव हुआ होगा। मनोवैज्ञानिक रूप में भी जो कुछ भी अरुचिकर अथवा खेदपूर्ण होता है उसका प्रकाश पहले-पहल आन्तरिक रूप में ही होता है; और जब हमारी आन्तरिक अनुभूति वाह्य-रूप में प्रकट होती है तभी अरुचि भी कोई न कोई हानिप्रद आकार ले लेती है। इन भावनाओं के प्रति हमारे मानस में सतत अवरोध प्रस्तुत रहता है फलतः हमारे समस्त अनुभूत अवरोधों का वाह्याकार, भूत-प्रेत इत्यादि के रूप में अवतरित होता है। उदाहरणार्थ बालक के मस्तिष्क में भूत अथवा प्रेत केवल साधारण मनुष्य की आकृति लिये रहता है किन्तु वयस्कों में उनकी कल्पना अनेक जटिल रूप ले लेती है। मनस्तलशास्त्र के अनुसार, बालक के मस्तिष्क में, पिता से सम्बन्धित भावनाओं का प्रतिरूप शैतान का आकार ले लेता है और वह उसके मातृ-प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है। प्रायः भूत, प्रेत, इत्यादि द्वारा कुछ न कुछ ऐसी भावनाओं का जन्म होता है जिनका अस्पष्ट संबंध सेक्स से भी बना रह सकता है।

फलतः इसमें सन्देह नहीं कि भूतप्रेतादि के कार्यों द्वारा यदि केवल भय तथा घृणा की भावना जन्म लेती तो हास्य प्रदर्शन कभी भी संभव न होता। प्राचीन इसाईधर्म संबंधी नैतिक नाटकों में शैतान पात्र रूप रह कर सफल

मनोरंजन करता है। इससे वह प्रमाणित है कि शैतान केवल सशंकित ही नहीं करता वरन अन्य मनोरंजक भावनाओं का भी प्रसार करता है ; और यदि वह केवल आतंक फैलाता तो दर्शक वर्ग उसकी मृत्यु अथवा उसे क्षतिग्रस्त देख कर सन्तोष पाते। परन्तु ऐसा नहीं होता—दर्शक वर्ग का उनसे यथेष्ठ मनोरंजन होता है। इसका कारण यह है कि जब दर्शक वर्ग यह समझता है कि शैतान का चेहरा लगाये हुये वह केवल एक साधारण व्यक्ति है तो उन्हे घृणा न होकर उससे सहानुभूति होने लगती है और हास्य प्रस्फुटित होने लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कभी तो वह हमें आकृष्ट करेगा और कभी हम उसका विरोध करेंगे और दोनों विरोधी भावनाओं के प्रसार द्वारा अवरोध का जन्म होगा और हास्य का आर्विभाव होगा। मनस्तलशास्त्रानुसार शैतान हमारे मानस में निहित सेक्स-संबंधी मनोवेगों को प्रेरित करता है और हम उसके प्रति सहज अवरोध प्रस्तुत करने में संलग्न हो जाते हैं। आकर्षण और विरोध दोनों के संघर्ष के फलस्वरूप जब दोनों का शमन हो जायगा, हास्य प्रस्तुत होगा। शैतान की आकृति तथा उसके कार्यों में, अत्यंत गूढ़ रूप में, हास्य का स्रोत निहित रहेगा।

व्यंग्य तथा परिहास

व्यंग्य, साधारणतः, पारिवारिक अथवा सामाजिक वैमनस्वपूर्ण विवाद इत्यादि में सफल रूप में प्रयुक्त होता आया है। घृणा इसकी जननी है जो इसकी तीव्रता और भी बढ़ा देती है। परन्तु घृणा की भावना, प्रेम की भावना में निहित है; चाहे वह कुछ समय के लिये इस संबंध पर पानी फेर दे और उसकी ओर अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखती रहे। जब घृणा की भावना, प्रेम की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखेगी तब वह अपने मूल रूप में प्रकाशित होगी। यह भी प्रमाणित है कि साधारणतया घृणा की भावना नियंत्रित तथा परिमित रूप में ही प्रस्तुत रहती है और इसका नियंत्रण एवं नियमन एक ओर तो भय द्वारा और दूसरी ओर प्रेम की अन्तर्हित भावना द्वारा होता रहेगा जिसके फलस्वरूप दो विरोधी भावों का संयोग प्रस्तुत होकर हास्य का प्रसार सफल रूप में होने लगेगा। ज्यों ही विरोधी भावनाओं का संयोग सम्मुख आता है, घृणा करने वाला व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी पर हँसने लगता है और उससे विरोध नहीं ठानता। इसका फल यह होता है कि हमारे प्रेम-व्यवहार में निरंतर अवरोध प्रस्तुत होने लगता है और जहाँ इस अवरोध की भावना का थोड़ा सा भी शमन हुआ, हास्य प्रकाशित होगा। ऐसी परिस्थिति में हमारे मानस में एक

प्रकार का द्वन्द्व छिड़ जाता है और हमारे मानस का एक अंश यही चाहता है कि श्रेष्ठ भावना विजयी हो। ज्यों-ज्यों यह द्वन्द्व तीव्र होता जाता है और अवरोध का शमन होता है त्यों-त्यों हास्य का प्रसार भी होने लगता है।

यदि ऐतिहासिक रूप में देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि मनुष्य-समाज के आदि प्राणी भी द्वन्द्व युद्ध में हंसते थे और वही हास्य की भावना आधुनिक जीवन के अनेक द्वन्द्व पूर्ण स्थलों में रूपान्तरित होकर प्रस्तुत है। आधुनिक सभ्य समाज में जब व्यंग्य वाण एक दूसरे पर चलने लगते हैं तो वहां भी हमें वही दृश्य दिखलाई देते हैं; अन्तर केवल यह होता है कि हम प्रति द्वन्द्वियों के शारीरिक पौरुष को न देख कर उनकी वाणी का पौरुष देखते हैं। अनेक सामाजिक क्षेत्रों में जहां वादविवाद होता रहता है हम प्रति-द्वन्द्वियों के कभी तर्क-शक्ति से प्रभावित होते हैं और कभी उनके व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट होने लगते हैं। इन परिस्थितियों में हास्य तभी प्रस्तुत होता है जब हम व्यक्ति के कथन पर ध्यान न देकर, उसके शरीर, उसके इंगित इत्यादि को देखने लगते हैं। हमारे मनस्तल में यह भावना छिपी रहती है कि द्वन्द्व वाणी का नहीं परन्तु दो पुरुषार्थियों में हो रहा है। विवाद, सत्य के अनुसंधान के लिये नहीं वरन एक दूसरे को पराजित करने के लिये हो रहा है; और जहां हमारा ध्यान व्यक्ति की ओर एकाग्र हुआ हास्य का प्रसार अनिवार्य रूप से होने लगेगा।

सभ्यता तथा समाज की प्रगति के साथ-साथ, विवाद-क्षेत्र में, कुछ परिवर्तन भी होते गये। कालान्तर में श्रेतावर्ग विवाद की ओर उत्सुक न रह कर उसकी नैतिकता की ओर उत्सुक रहने लगा; उसको यह निर्णय करते रहना पड़ा कि किसका पक्ष उचित है; नैतिक है। इसके साथ-साथ उसे यह भी आशंका व्यथित करने लगी कि कहीं वह अनुचित रूप में पक्षपात तो नहीं करने लगा और उसका दृष्टिकोण संतुलित है अथवा नहीं। इस आशंका को मिटाने और अपने व्यंग्य को तीखा करने के लिये व्यंग्य-साहित्य के लेखकों ने कुछ सरल साधन ढूंढ निकाले। उन्होने निजी रूप में प्रस्तुत द्वन्द्व अथवा विवाद को सामाजिक अथवा सामूहिक रूप देना आरंभ किया। उनके लिये व्यक्ति, व्यक्ति न होकर किसी वर्ग विशेष का प्रतीक बन गया; वह अपने में उन सभी आचार-विचारों को प्रदर्शित करने लगा जो किसी-वर्ग विशेष के ही आचार विचार थे। वह अब नेता बन गया। यों भी, वस्तुतः, व्यक्ति साधारण समाज का शत्रु ही रहता है। और उसको देख कर साधारण वर्ग यही समझने लगता है कि वह किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि है इसलिये पक्षपात पूर्ण है:

स्वेच्छाचारी है और साधारण समाज का हितैषी नहीं। फलतः वह व्यक्ति व्यंग्य का सहज शिकार बनाया जा सकता है; और यही कारण है कि अनेक साहित्यकारों ने राजनीति तथा साहित्य-क्षेत्र के अनेक वर्ग विशेष के प्रतिनिधियों पर खूब ही व्यंग्य-वाण बरसाये और उन्हें हास्यास्पद रूप में प्रदर्शित किया।

व्यंग्य का सफल प्रयोग करने वाले साहित्यकारों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने चुने हुये शिकार को इतना हीन न प्रमाणित करें कि उसकी ओर हम उपेक्षा अथवा घृणा से देखने लगें। व्यंग्य-लेखक के हृदय में उस व्यक्ति के प्रति थोड़ी-बहुत श्रद्धा की भावना अपेक्षित होगी और जहाँ यथोचित श्रद्धा की भावना में न्यूनता हुई व्यंग्य विफल रहेगा। लेखक को उस व्यक्ति के गुणों को न भुलाना चाहिये और उन्हे भूमिका रूप में रख कर ही व्यंग्यवाण बरसाना चाहिये। गुणों की पृष्ठभूमि में अवगुणों का प्रकाश और भी तीव्र रूप में होने लगेगा और जहां इन दोनों विरोधी भावनाओं का संयोग प्रस्तुत हुआ त्योंही हास्य का भी प्रसार होगा। प्रायः व्यंग्य लेखकों का लक्ष्य हास्य प्रदर्शन नहीं रहता और जो श्रेष्ठ कलाकार होते हैं हास्य-प्रसार पर ध्यान भी नहीं देते। यदि उन्हे हास्य का प्रदर्शन अपेक्षित हुआ तो वे कुछ ऐसी घटनाओं का समावेश कर देते हैं जिनमे हास्य की भावना निहित रहती है; परन्तु इन घटनाओं का व्यंग्यात्मक भावना से कदाचित ही कोई संबंध रहता हो; वे स्वतः हास्यपूर्ण होती हैं।

ऐतिहासिक रूप में प्रायः धर्म तथा धर्माध्यक्षों का जीवन ही पहले-पहल व्यंग्य की परिधि में आया और लेखकों ने उन्हीं को विषयाधार मान कर व्यंग्य-साहित्य की रचना की। धर्म की आत्मा जब शिथिल तथा निर्जीव हो जाती है तो वह रूढ़ि, परम्परा, हठ तथा वितण्डावाद के रूप में ही अवतरित होती है; और जब धर्माध्यक्षों का जीवन धर्माचरण से विमुख हो जाता है तो असत्य, पाखण्ड, दंभ इत्यादि का बोल-बाला हो जाता है। और ये दोनों ही क्षेत्र व्यंग्य-लेखक के सम्मुख अनेक विषयाधार प्रस्तुत कर देंगे जिन्हें वह मनोनुकूल चुन कर व्यंग्य की सृष्टि कर सकता है। श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक में इनके प्रति विरोध की भावना के साथ-साथ एक प्रकार की करुण भावना भी रहती है। विरोध की भावना इसलिये रहती है कि वे पूर्णतः नैतिक नहीं और करुणा की भावना यह सन्तोष देती है कि आखिर वे मनुष्य ही तो हैं-भ्रम तो हमारा था कि हम उन्हे देव-तुल्य समझे बैठे थे।[1]

---

१. यूनानी व्यंग्य-लेखकों में यह सत्य स्पष्ट प्रस्तुत है। वे अपने देव-देवताओं की हँसी बड़ी सरलता से इसीलिये उड़ा सकते थे कि उनमें उनके

प्रायः चित्रकारों तथा कवियों ने क्रमशः व्यंग्य-चित्रों तथा अनुकरण-काव्य द्वारा भी सफल हास्य प्रस्तुत किया है। व्यंग्य-चित्रों का प्रधान गुण अतिशयोक्ति रहता है जिसके फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत होगा। व्यंग्य-चित्र, प्रायः, श्रेष्ठ व्यक्तियों, संस्थाओं तथा महत्त्वपूर्ण अथवा साधारण घटनाओं का आधार लेकर अपनी लक्ष्यपूर्ति करते हैं। व्यंग्य-रूप में प्रदर्शित व्यक्तियों के प्रति या तो हममें प्रेम की भावना रहेगी अथवा घृणा की; और प्रस्तुत प्रेम की भावना को थोड़ा बहुत उद्वेलित करने से ही हास्य प्रस्तुत हो जायगा; परन्तु यह ध्यान रहे कि चोट बहुत गहरी न लगे। इसी प्रकार अनुकरण-काव्य भी हास्य प्रस्तुत करेगा। साधारणतया अनुकरण-काव्य लेखक घृणा का प्रसार नहीं करता। जब किसी श्रेष्ठ कवि की कविता अनुकरण रूप में उसके सम्मुख आती है तो कवि, अनुकरण करनेवाले की हास्यप्रियता की प्रशंसा करता है और अनुकरण करनेवाले कवि को अपनी क्षुद्रता का अनुभव होने लगता है और दो विरोधी भावनाओं का संयोग प्रस्तुत हो जाता है। अनुकरण-काव्य लेखक यदि सफल हास्य प्रस्तुत करना चाहता है तो उसमें मूल कवि के प्रति वास्तविक अथवा झूठी श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। अनुकरण-काव्य को पढ़ते समय यदि पाठक के मन में मूल कवि की आकृति भी बनती जाय अथवा उसे उसका स्मरण हो आये तो हास्य की मात्रा दुगनी हो जायगी। यही कारण है कि जब कवि के समकालीन व्यक्ति अनुकरण-काव्य लिखते हैं तो उनकी लोकप्रियता कहीं अधिक रहती है। अनुकरण-काव्य में यद्यपि मूल की ओर संकेत विशेषरूप में रहता है, परन्तु जो कुछ भी हास्य प्रस्तुत होता है उसका मूल से आन्तरिक सम्बन्ध नहीं। यह हास्य अलग से, अपने विशेष रूप में प्रस्तुत रहेगा। प्रायः श्रेष्ठ अनुकरण-काव्य वही रहेगा जिसका हास्य, मूल से किंचित मात्र भी सम्बन्धित नहीं होगा।

व्यंग्य-चित्र तथा अनुकरण काव्य

साहित्य-क्षेत्र में, प्रायः अनेक कवियों ने व्याजोक्ति के अन्तर्गत व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा द्वारा सफल हास्य प्रदर्शित किया है और व्यंग्य-काव्य की तुलना में उसका हास्य अधिक तीव्र तथा सन्तोषजनक रहा है। व्याजोक्ति में दो विरोधी अर्थों अथवा भावनाओं का समन्वय रहेगा और दोनों ही अर्थों की

प्रति श्रद्धा एवं विश्वास की कमी नहीं; वे उन पर दो चार मानवी चोट कर भी बैठते हैं। इन चोटों से उनके देवी-देवता तिलमिला तो उठते हैं परन्तु उनकी करुणा भी तो अपार है। इन चोटों से उनके देवत्व में कमी नहीं आती।

ओर श्रोतावर्ग आकृष्ट होगा जिसके फलस्वरूप हास्य का जन्म होगा। परन्तु

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति लेखक को अविरल रूप में हास्य प्रदर्शित करने में सफलता नहीं मिलेगी; दो चार व्याजोक्तियों के उपरान्त पाठक-वर्ग ऊब उठेगा। पाठक यह भी जान लेगा कि लेखक बहुत देर तक हमको भ्रम में रखना चाहता है और वह हास्य के प्रति विमुख हो जायगा। पाठक-वर्ग इसीलिये आनन्दित होता है कि उसके मानस में भ्रामक रूप लिये दो विरोधी भावनायें प्रस्तुत हो जाती हैं; "अच्छा! तो आप समझते थे कि वह बुरा आदमी है!! क्या खूब!!! वह बेचारा तो सीधासाधा अपनी राह लगने वाला आदमी है; जिसने आज तक सिवाय अपने स्वार्थ वश किसी का भी नुक़सान किया हो; अपने निजी कामों को छोड़, झूठ तो वह कभी बोला ही नहीं।"

कभी-कभी अपने दैनिक जीवन में हम तीक्ष्ण हास्य के शिकार हो जाते हैं और संभवतः इसका कारण जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं मानसिक-क्षेत्र में अवरोध की उपस्थिति है। जब हमारे मानसिक-व्यवहार में अवरोध प्रस्तुत होता है और जब हम उस पर शीघ्र विजय पा जाते हैं तो हँसी फूट पड़ती है। प्रेम और घृणा, इन दो मूल विरोधी भावनाओं के संयोग द्वारा संभवतः सतत हास्य प्रस्तुत हुआ है। प्रेम-व्यवहार में अवरोध द्वारा प्रसूत हास्य सरल तथा आनन्ददायी होगा; घृणा की भावना के अवरोधस्वरूप जो हास्य प्रस्तुत होगा उसमें तीक्ष्णता होगी; तिलमिलाहट होगी। उसका वार अचानक होगा; हम उसका शीघ्र तथा यथोचित प्रत्युत्तर नहीं दे पायेंगे।

संस्कृत साहित्य के अलंकार-शास्त्रियों समान पाश्चात्य विचारकों ने भी वक्रोक्ति का समुचित अध्ययन इसलिये किया कि इसके द्वारा भी अनेक लेखकों

वक्रोक्ति

ने सफल हास्य-प्रदर्शन किया है। पाश्चात्य लेखकों ने साधारणतया वक्रोक्ति के दो वर्ग बनाये। पहले वर्ग का वक्रोक्ति, जिसे हम सरल वक्रोक्ति कह सकते हैं केवल आनन्द और उल्लास की सृष्टि करेगा। उसमें शब्दों अथवा विचारों का ऐसा उलट फेर तथा उत्फुल्ल प्रयोग रहेगा कि बरबस हँसी आयेगी। उसका ध्येय केवल आनन्द-प्रदान रहेगाः उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं। दूसरे वर्ग का सांकेतिक वक्रोक्ति यद्यपि शब्दों तथा विचारों के उलट-फेर द्वारा हास्य प्रदर्शित तो करेगा परन्तु उसके साथ-साथ कुछ सेक्स-सम्बन्धी गूढ़ संकेत भी देगा। प्रायः सांकेतिक वक्रोक्ति किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को ही अपना लक्ष्य बनायेगा।

प्रायः वक्रोक्ति का प्रयोग कुछ न कुछ मात्रा में किसी रहस्य के उद्घाटन के लिये ही हुआ करेगा। वह किसी न किसी के मुँह पर पड़े हुये आवरण को नीचे गिराने का प्रयत्न करेगी। सामाजिक नियमों तथा आचार-विचार की परिधि में घूमता हुआ व्यक्ति अपने अनेक विचारों तथा भावनाओं को अपने मन में छिपाये फिरता है और उस पर समाज की आत्मा नियन्त्रण रखती है। जिन जिन भावनाओं को हम रहस्यपूर्ण रूप में अपने हृदय के कोने में सुरक्षित रखना चाहते हैं उन्हीं की ओर वक्रोक्ति अपनी तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा संकेत दिया करती है। सरल वक्रोक्ति के तत्वों का स्पष्ट विश्लेषण असम्भव ही होगा क्यों कि अब तक हम उसकी रहस्यपूर्ण तथा प्रफुल्लित आत्मा का साक्षातकार नहीं कर सके। कुछ साहित्यकारों ने उसे शब्दों की जादूगरी समझा; कुछ ने उसको मानसिक शक्ति की तीक्ष्णता द्वारा प्रेरित प्रमाणित किया और कुछ ने वैषम्यपूर्ण विचारों के द्वन्द्व के फलस्वरूप किसी विशेष समानता को परिलक्षित करने में ही उसकी सफलता देखी। इन लेखकों ने वक्रोक्ति की तुलना में श्लेष को हेय समझा क्योंकि केवल ध्वनि-चातुर्य द्वारा हास्य-प्रसार श्रेष्ठ रूपमें नहीं हो सकेगा। परन्तु वक्रोक्ति की आत्मा अपने सफल प्रकाश के लिये कुछ विशेष साधनों का प्रयोग करेगी। साधारणतः वक्रोक्ति का रूप जितना ही संक्षिप्त होगा उतनी ही वह अर्थपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण होगी; उसके लिये विस्तार अथवा विस्तृत कथन घातक होगा। काव्य रूप में, अपने प्रभावपूर्ण उत्कर्ष के लिये उसे उन्हीं छन्दों को चुनना होगा जिनका विस्तार अतिशय संकुचित अथवा संकीर्ण हो। सवैया, कवित्त, तथा अन्यान्य काव्य में प्रयुक्त छन्द उसकी प्रभावोत्पादकता को घटा देंगे। दोहा, सोरठा अथवा अंग्रेजी के द्विपंक्ति के छन्द[1] ही उसके लिये फल-प्रद होंगे। परन्तु इस साधन द्वारा भी जो हास्य प्रस्तुत होगा उस पर भी वही पुराना सिद्धान्त आरोपित किया जा सकता है। जब हमारे प्रेमव्यवहार में अवरोध प्रस्तुत होगा अथवा जब हमारी घृणा की भावना क्षणिक अवरोध का अनुभव करेगी और शीघ्र ही उसका शमन हो जायगा तो हास्य का प्रसार होगा। वक्रोक्ति, केवल किसी हास्यपूर्ण परिस्थिति का शब्द-चित्र प्रस्तुत करती है; वह इस शीघ्रगति से शब्द-चित्र खींच देती है कि हमें उसके आधाररूप परिस्थिति का ध्यान ही नहीं आता। और जहाँ परिस्थिति होगी : भावनायें भी होंगी; अवरोध भी होगा; उस पर विजय के लिये शक्ति संचय की आवश्यकता भी पड़ेगी और अनायास ही, संचित अतिरिक्त शक्ति, हास्यरूप में प्रदर्शित हो जायगी।

---

१. 'कपलेट्' 'देखिये 'काव्य की परख'

हास्य के व्यापकक्षेत्र में, परिहास की आत्मा भी विचित्र है और वह हमारे जीवन में अत्यन्त गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण रूप में निहित रहती है। कभी वह हम पर मुस्कुराती है, कभी अनायास ही चुटकी ले लेती है; कभी साश्रु हो देखती है; कभी करुणा से भर उठती है; कभी हमें स्नेहपूर्ण इंगितों से दुत्कार देती है, कभी इठलाती हुई पास बुलाती है और पास आते ही लुप्त हो जाती है। श्रेष्ठ परिहास में नवोढ़ा का-सा स्नेह परिलक्षित रहता है। परिहास की आत्मा जब हमें मानसिक एवं स्फूर्त्तिपूर्ण आनन्द प्रदान करती है तो उसकी पराकाष्ठा पहुँचती है। परन्तु इस आनन्द में जब मानवी दुःख की भावना झलक मार जायगी तो वह आनन्द सर्वव्यापी एवं हृदयग्राही हो जायगा। परिहास की आत्मा हमारी आँखों को एक नवीन ज्योति दे देती है जिसके द्वारा हम जीवन का पर्यवेक्षण करते रहते हैं और आनन्द की प्राप्ति करने चलते हैं।

परिहास

यों भी मनुष्य का साधारण स्वभाव हास्य-प्रेमी होता है क्यों कि ज्योंही हम किसी हास्यपूर्ण व्यक्ति से मिलते हैं अथवा कोई हास्यास्पद घटना अथवा परिस्थिति देखते हैं तो अनायास हँस पड़ते हैं; और कभी-कभी अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा भी मानसिक आनन्द उठाते हैं। यही कारण है कि हास्य के संबंध में कोई व्यापक अथवा सन्तोषजनक सिद्धान्त नहीं बन पाया। कुछ विचारकों ने उसे मनुष्य के मानसिक-क्षेत्र का बन्दी बना दिया और कुछ ने भावना-क्षेत्र में ही उसके दर्शन किये।[1] जिन दर्शनज्ञों[2] ने मानसिक-क्षेत्र ही हास्य का क्रीड़ा-स्थल समझा उनका विचार था कि सफल हास्य प्रदर्शन के लिये हमें अपने मानवी भावों को सुप्त कर देना होगा: मानवी भावों की उपस्थिति में हास्य प्रदर्शित न हो पायेगा; भावना जगत में उसका जन्म तथा विकास असंभव होगा।[3] कदाचित यह विचार भ्रामक होगा क्योंकि हम मनुष्य होने के नाते दोनों क्षेत्रों को अलग-अलग नहीं रख सकते; उनका विच्छेद असंभव होगा। हमारे लिये किसी भी परिस्थिति में

---

१. ऐतिहासिक रूपमें अंग्रेज़ जाति ही संस्कार वश हास्य प्रेमी रही है। यद्यपि किसी भी श्रेष्ठ अंग्रेज़ लेखक ने श्रेष्ठ सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया परन्तु वे श्रेष्ठ हास्य की आत्मा से सतत परिचित रहे। फ्रांस तथा जर्मनी ने इसके श्रेष्ठ व्याख्याताओं और विश्लेषकों को जन्म दिया।

२. बर्गसां

३. 'विचारशील व्यक्ति को संसार सुखदायी है, भावनाशील के लिये दुःखदायी।'

यह कहना असंभव होगा कि अब हम अपने विचार-क्षेत्र में हैं और भावना-क्षेत्र से हमारा कोई भी संबंध नहीं अथवा अमुक समय हम अपने भावना-क्षेत्र में हैं और विचार-क्षेत्र पर ताला डाल दिया गया है। इसका प्रमाण यह है कि अनुभव करते समय हम सोचते भी हैं और सोचते समय अनुभव भी करते हैं। फलतः दोनों क्षेत्रों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं; दोनों एक दूसरे में घुले-मिले रहेंगे। ज्योतिषी समान हम चाहे नक्षत्रों की गति पहिचानें अथवा साधारण मनुष्य के समान अपनी जीविका कमाने में व्यस्त रहें हम दोनों परिस्थितियों में सोचेंगे और अनुभव करेंगे। इस तथ्य का दूसरा प्रमाण यह है कि जब हम सोचते हैं तो शून्य में नहीं सोचते; हमारा कोई न कोई विषयाधार अवश्य रहेगा; हम किसी व्यक्ति अथवा विषय में ही सोचेंगे फलतः विचार-क्षेत्र तथा भावना-क्षेत्र एक दूसरे से पृथक नहीं रह सकते। जब हम किसी व्यक्ति अथवा विषय के संबंध में सोचते हैं तो भी हमारे विचारों का, एक मूल स्रोत से, संबंध बना रहता है। हमारे मनोवेग ही हमारे विचारों की रूप रेखा बनायेंगे; उन्हें जन्म देंगे; वे शून्य से अवतरित नहीं होंगे। हमारे मनोवेग ही हमारे विचारों की सृष्टि करते हैं और हमें कार्य-शील बनाते हैं। उदाहरण के लिये जब माता अपने शिशु को दुलारती है अथवा वात्सल्य पर विचार करती है तो क्या यह संभव है कि उसके ये दोनों कार्य एक दूसरे से संबंधित नहीं। विचार तथा भावना क्षेत्र में ऐक्य निहित है; दोनों का विच्छेद असंभव होगा। उपर्युक्त तर्क से यह प्रमाणित है कि भावनाओं के निष्क्रमण के फलस्वरूप ही हास्य नहीं प्रस्तुत होता और दोनों क्षेत्रों की सीमायें निर्धारित करना भी असंभव होगा।

सफल हास्य प्रसार के लिये कुछ दर्शनज्ञों[1] ने प्रायः दो साधनों की ओर विशेष रूप में संकेत किया है। हास्य प्रसारक लेखकों के लिये यह आवश्यक बतलाया गया है कि वे दर्शक-वर्ग के भावना-संसार को सुप्त कर दें। यह कार्य तब सफल होगा जब लेखक, हास्यास्पद अवगुणों को व्यक्ति से पृथक कर उन-पर विचार करेगा और दूसरे जब वह व्यक्ति के कार्यों की ओर ध्यानाकर्षण न कर उनके जड़वत् इंगितों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करेगा। कदाचित ये विचार भी भ्रामक हैं। इसका कारण यह है कि हास्यास्पद व्यक्ति कोई ऐसा मूर्त्त पदार्थ नहीं जो जड़ तथा स्थाई रूप में हमारे सम्मुख खड़ा रहे और हम उसके शरीर के हिस्से काटते चले जायँ। वह तो सतत गतिशाल रहता है; जब तक हम उसके एक अंग को छूयें-छूयें तब तक वह आगे चल पड़ता है

---

१. बर्गसां

और हम उसकी ओर देखते ही रह जाते हैं। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को हम उसकी गतिशीलता के कारण देख भी नहीं पाते; फलतः उसके व्यक्तित्व तथा उसके अवगुणों अथवा गुणों पर बाह्य अथवा पृथक रूप में विचार असंभव ही होगा। हास्य-प्रसारक लेखक अपनी रुचि के अनुसार हास्यपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व की दो एक ही झाँकी देख पाता है और उसी से सन्तुष्ट हो जाता है। वह साधारणतः सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करना भी नहीं चाहता।

हास्य का वास्तविक प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न पर विचारशील लेखकों में बहुत मत-भेद है। कुछ साहित्यकारों का कथन है कि हास्य द्वारा कभी भी संसार का कल्याण नहीं हुआ।[1] इसी विचारधारा में हास्य का प्रयोजन बहने वाले अन्य लेखकों का विश्वास है कि हास्य जैसे थोथे साधन से मानव-चरित्र के संशोधन का गंभीर कार्य कैसे सिद्ध हो सकेगा?[2] स्पष्ट है कि इन विचारों के पोषकों में नैतिकता की भावना अधिक है और वे हास्य को निरर्थक तथा प्रयोजन-हीन समझते हैं। प्रायः ऐसा विचार एकांगी ही होगा। कदाचित ये लेखक हास्य द्वारा किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति चाहते थे और उस कार्य में हास्य सहयोग न दे सका; और यही कारण है कि उन्होंने हास्य को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि हास्य प्रयोजन हीन नहीं; मानव-चरित्र संशोधन के लिये उसका सफल प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है और इसका महत्त्व आधुनिक युग में भी आज तक कम नहीं हुआ। हास्य ने हमें आचरण की ओर सतर्क किया और सतत उसके दोषों से बचने का आदेश दिया। उसके द्वारा हमारी सामाजिक भावना दृढ़ हुई और उसने हमें ऐसे कार्य करने का निषेध किया जिससे सामाजिक जीवन को क्षति पहुँचती। कुछ लोगों का विचार है कि हास्य, प्रायोगिक रूप में, समाज की सहायता नहीं करता। परन्तु यह विचार न तो कला के लिये हितकर होगा और न कलाकार के लिये। हास्य लेखक तो वैयक्तिक तथा सामाजिक त्रुटियों की ओर संकेत मात्र करता चलेगा; इसी संकेत में ही उसकी कला है। यदि किसी कलाकार ने इससे अधिक उससे कुछ भी आशा की तो वह अपने श्रेष्ठ स्तर से गिर जायगा। सुधार अथवा संशोधन हास्य का स्पष्ट लक्ष्य नहीं; संकेत मात्र ही उसका लक्ष्य रहेगा। कलाकार इतने में ही संतोष पा जायगा कि उसने सामाजिक एवं वैयक्तिक त्रुटियों की ओर संकेत कर दिया। उस संकेत को समझ कर उसके

---

१. रूसो।

२. विक्टर द लाप्राद।

द्वारा निर्दिष्ट संशोधन करना न करना समाज सुधारकों का क्षेत्र होगा—कला का नहीं।

इस विचारधारा के विपरीत कुछ दर्शनज्ञों[1] की धारणा यह है कि हास्य, व्यक्ति को हीन प्रमाणित कर उसके चरित्र और इच्छा-शक्ति का संशोधन करेगा। परन्तु यथार्थतः ऐसा नहीं भी हो सकता है। व्यक्ति को हीन प्रमाणित करने का कार्य तथा उसकी इच्छा-शक्ति का संशोधन प्रायोगिक क्षेत्र की वस्तुयें हैं और हास्य इन दोनों कार्यों से विमुख रह सकता है; उसके लिये दो में से एक भी आवश्यक नहीं।

साधारणतः यह असंदिग्ध है कि हास्य रस का श्रेष्ठ कलाकार वही होगा जो जीवन क्षेत्र का श्रेष्ठ निरीक्षक होगा और जिसकी दृष्टि व्यापक होगी। वह मानवता से प्रेम करेगा; वह साश्रु हो जीवन का नाटक देखेगा और दिखायेगा; जीवन का कोई भी सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा गूढ़ से गूढ़ तत्त्व उसकी आँखों से छिपा न रहेगा। उसमें असीम चेतना शक्ति होगी; उसका भावना-संसार सतत सजग तथा सतर्क रहेगा। वह जीवन के दुःखों के आवरण में आनन्द की झांकी दिखायेगा; और आनन्दपूर्ण जीवनाकाश में दुःख के बादलों को मंडलाता हुआ प्रदर्शित करेगा। उसके हास्य में सुख-दुःख की अठखेलियों का आभास मिलेगा।

तर्क की दृष्टि से स्पष्ट है कि हास्य-प्रसारक लेखक प्रेम एवं करुणा के युगुल संयोग द्वारा सफल तथा व्यापक हास्य प्रस्तुत करेगा। जब प्रेम की भावना, सहानुभूतिपूर्ण अप्रसन्नता द्वारा अवरुद्ध होती है तो करुणा को जन्म देती है और जैसे-जैसे इस अवरोध पर विजय प्राप्त होगी वैसे ही वैसे हास्य का भी आविर्भाव होगा। और श्रेष्ठ हास्य प्रसारक कलाकार वही होगा जो जीवन की विषमताओं को अविचल दृष्टि से देखेगा और जिसका मानव-प्रेम अपार, अगाध तथा अनन्त रहेगा।

हास्य के उपर्युक्त विवेचित सिद्धान्त के आधार पर हम यह प्रमाण सहित कह सकते हैं कि जिस मूल रूप में बालक का हास्य प्रदर्शित होता है उसी मूल रूप की छाया सभी अन्य रूपों में प्रदर्शित हास्य में भी हम पायेंगे। हास्य का मूल स्रोत हमारे मानस में ही छिपा है और जब-जब हमारा प्रेम-व्यवहार अवरोध का

उपसंहार

---

१. बर्गसां।

क्षणिक अनुभव करने के उपरान्त अपनी संचित शक्ति के प्रयोग द्वारा उस पर विजय पाता है तो अतिरिक्त शक्ति हास्य रूप में प्रस्फुटित होने लगती है। प्रेम ही मानव समाज को सहज तथा आदि अनुभूति है; घृणा की अनुभूति गौण तथा बहुत बाद की अनुभूति है इसीलिये साधारणतया प्रेम द्वारा आर्विभूत हास्य अधिक आकर्षक तथा हृदयग्राही होता है। हास्य, प्रेम तथा घृणा की गोद में सतत रहेगा। अगले प्रकरणों में हम हास्य-प्रदर्शन के दूसरे विशिष्ट सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे।

प्रकरण—४

साधारणतया यह देखा गया है कि लम्बी-चौड़ी सड़कों या गलियों में चलता हुआ एक स्थूलकाय व्यक्ति एकाएक फिसलता है और चारो खाने चित गिर पड़ता है, उसी समय यह दृश्य देखने वाले अट्टहास करने लगते हैं। कदाचित यह दृश्य देखकर दर्शक-वृन्द कभी भी न हँसता यदि उसको विश्वास हो जाता कि उस व्यक्ति की इच्छा सड़क पर बैठने या लेटने की हो गई थी इसलिये वह बैठ या लेट गया। दर्शक-वृन्द इसी कारण हँसे कि उस व्यक्ति का कार्य विवशतापूर्ण था : उसने अपनी स्वतन्त्र इच्छा इसमें प्रयुक्त नहीं की; उसकी इच्छा न तो बैठने की थी न लेटने की। उस व्यक्ति की चाल में एकाएक परिवर्त्तन होने तथा उसकी मानसिक स्थूलता और बेढंगे कार्य के फलस्वरूप हास्य प्रस्तुत हुआ। यदि गिरने वाले व्यक्ति के पैरों के सामने कोई कंकड़ी थी (जिस पर वह फिसला) तो उसे सावधान रहना चाहिये था; अपने चलने की गति को परिवर्त्तित कर उसे बचा जाना चाहिये था। इसके विपरीत उसने यह किया कि न तो वह सावधान रहा और न उसने अपने पैरों की गति पर ही नियन्त्रण रखा। उसने अपने शरीर को जड़वत बना लिया और असावधान रहा। जो सहज लचीलापन हमारे शरीर में रहता है; जो गति-परिवर्त्तन की शक्ति हममें प्रस्तुत रहती है उसका उसने कोई भी उपयोग न किया। उसकी गति जड़वत अथवा मशीन के समान थी जिसमें न तो यथेष्ट लोच था न समुचित सावधानी। जब कि उस परिस्थिति में पड़ने वाले के लिये यह आवश्यक था कि वह अपनी गति परिवर्त्तित करना वह जड़वत रहा; सावधानी से देखने के विपरीत वह असावधान रहा। उसकी मांस-पेशियाँ अपनी पुरानी चाल पर रहीं; उनकी गति मशीन-समान लचावहीन रही। फलतः वह व्यक्ति गिरा और हास्य प्रस्फुटित हुआ।

हास्य के अन्य मनोवैज्ञानिक कारण : जड़वत कार्य

कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि कोई व्यक्ति अपना दैनिक कार्य जड़वत रूप में करता जाता है; किसी समय विशेष पर, वह किसी विशेष स्थान पर, विशेष मुद्रा बना कर बैठता है और लिखता है। एक दिन ऐसा होता है कि कोई हास्यप्रिय मित्र उस व्यक्ति की गतिविधि बिगाड़ देता है। वह चार पैर की कुर्सी के स्थान पर तीन पैर की टूटी कुर्सी रख देता है; उसकी दावात

में कीचड़ से सना हुआ कपड़े का एक टुकड़ा रख देता है और क़लम में एक टूटी हुई, झुकी सी निब लगा देता है। वह व्यक्ति, जो कुछ भी परिस्थिति में परिवर्त्तन कर दिये गये हैं उनसे अनभिज्ञ है। वह आयेगा और स्वाभाविक रूप में तीन टाँग की कुर्सी पर बैठेगा और उसके गिरते ही दर्शक-वृन्द हँसेगा, ज्योंही वह दावात में क़लम डुबायेगा टूटी हुई निब, कीचड़ से सने हुये कपड़े को उसके कपड़ों पर गिरा देगी और फिर दर्शक-वृन्द हँसेगा। इस हास्य का भी वही कथित सिद्धान्त होगा। उस व्यक्ति को चाहिये था कि वह देख-भाल कर कुर्सी पर बैठता; देख कर दावात में क़लम डुबोता और सावधानी से लिखता! परन्तु उसने किया क्या? उसकी गति जड़वत् रही; उसके दैनिक क्रिया-कलाप में, परिस्थिति परिवर्तित होने पर भी, कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। उसको अपने क्रिया कलाप में परिवर्त्तन लाना चाहिये था; उसको अपनी कुर्सी को झाड़-पोंछ कर देख लेना चाहिये था और संभाल कर क़दम बढ़ाना चाहिये था। परन्तु यह सब उसने कुछ न किया और उसका जड़वत् कार्य हास्य का कारण बना। यदि उस व्यक्ति में मानसिक लचाव होता; परिस्थिति के अनुकूल अपने को परिवर्त्तित करने की शक्ति अथवा सावधानी होती तो वह हास्यास्पद नहीं बनता। उसके जड़वत् क्रिया-कलाप ने ही हास्य प्रस्फुटित किया; सड़क के यात्री से हमें आशा थी कि वह शायद अपने शरीर में यथेष्ठ लचाव रखेगा, अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना लेगा। इसमें विफल होने पर उसके कार्य हास्यास्पद ही रहे। पिछले उदाहरण तथा उपर्युक्त उदाहरण में विभिन्नता केवल इतनी ही है कि पिछले उदाहरण में परिस्थिति सहज रूप में अपने आप बन गई थी और दूसरे में कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा वह कृत्रिम रूप में प्रस्तुत कर दी गई। परन्तु फल दोनों का एक ही रहा। इससे यह प्रमाणित होगा कि हास्य, केवल वाह्य उपादानों पर ही निर्भर है और व्यक्ति से उसका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं। यदि वह सिद्धान्त सत्य है तो फिर हास्य का प्रस्फुटन आन्तरिक उपादानों द्वारा किस प्रकार सम्भव होगा?

आन्तरिक उपादानों द्वारा हास्य का प्रस्फुटन तभी संभव होगा जब हम वाह्य उपादानों तथा कारणों को निकाल फेंकें और ऐसे स्वाभाविक उपादानों का निर्माण कर लें जो हास्य प्रस्फुटित करें। ये उपादान हमारे मानसिक गुण अथवा अवगुण होंगे जिन पर उन्हीं पिछले सिद्धान्तों का आरोप होगा। उदाहरण के लिये हमें एक ऐसा व्यक्ति मिलता है जो सदैव यह सोचता है कि वह भूतकाल में क्या-क्या कर चुका है और यह कभी नहीं सोचता कि वर्त्तमान में वह क्या कर रहा है। इसी प्रकार हम अनेक व्यक्तियों की कल्पना कर

सकते हैं जिनके मस्तिष्क में न तो आवश्यक लचीलापन रहेगा और न यथेष्ट सावधानी; जिसके फल-स्वरूप वह उन चीज़ों को प्रत्यक्ष देखेगा जो प्रस्तुत नहीं; और उन चीज़ों को नहीं देखेगा जो प्रस्तुत होंगी। वह उन चीज़ों की आवाज़ सुनेगा जो वाणीहीन होंगी और बोलती-चालती चीज़ों को मूकवत् समझेगा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने मन और मस्तिष्क को जड़वत् बना लेगा और वर्त्तमान में न रहकर भूत अथवा भविष्य का स्वप्न-संसार बसाकर अपने को उसी का प्राणी समझने लगेगा, सहज ही हास्य प्रस्फुटित करेगा। ऐसे व्यक्ति को, वर्तमान न तो यथार्थवत् होगा और न सत्य : उसको तो भूतकाल में रहने में ही आनन्द आयेगा और वह अपनी मानसिक जड़ता के कारण उसकी परिधि से न निकल सकेगा। ऐसी परिस्थिति में, हास्य, व्यक्ति के मानस में अन्तर्हित हो जायगा और वाह्य उपकरणों पर निर्भर न रहेगा। व्यक्ति ही के कार्यों, विचारों, भावों द्वारा हास्य का प्रकाश होगा। व्यक्ति ही उसका कार्य, कारण, रूप और अवसर प्रस्तुत करेगा। ऐसे व्यक्ति को हम विस्मरणशील कहेंगे और इस वर्ग के व्यक्तियों को साहित्यकारों ने हास्य के प्रस्फुटन में सहज ही पात्र-रूप रखा और सफलता भी अपूर्व-रूप में पाई है। मानवी विस्मरणशीलता, वास्तव में, हास्य की अपूर्व निर्झरिणी रहेगी।

प्रायः जब हास्य का मूल स्रोत किसी कारण में निहित रहेगा तो जितना ही स्वाभाविक वह कारण होगा उतनी ही प्रकाशमान हास्य की छटा होगी। यों भी, स्वभावतः, हम विस्मरणशील व्यक्ति पर हँसते हैं; और जब ऐसे व्यक्ति की विस्मरणशीलता हमारे सम्मुख ही जन्म लेगी, प्रगति करेगी और अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचेगी और जब हम उसके सम्पूर्ण चित्र को देखेंगे तो हमें बरबस और भी हँसी आयेगी। उदाहरण द्वारा यह बात और भी स्पष्ट होगी। एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिये जो केवल प्रेम विषयक काव्य अथवा उपन्यास पढ़ा करता है। उपन्यासों के प्रेमी नायकों की भाव-भंगी, उनके आचार-विचार, उनकी कल्पना-प्रियता उस पर इतना गहरा प्रभाव डालते हैं कि वह स्वयं भी उसी जगत का प्राणी बन बैठता है। उन्हीं का जीवन वह अपना लेता है; उसकी अलग अपनी कोई सत्ता नहीं रहती। ऐसे आचरण वाला व्यक्ति जब साधारण समाज में विचरता है तो विलक्षण प्रतीत होने लगता है; प्रेम-जगत और यथार्थ-जगत में कोई साम्य न होने के कारण वह खोया-खोया सा दिखाई देगा। हमें ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे कोई स्वप्न देखता हुआ हमारे बीच खड़ा है। उसके सभी कार्य हमारे यथार्थ-जगत के

प्राणी-समान न होकर एक स्वप्न-जगत के प्राणी समान होंगे। और इन कार्यों का मूल-स्रोत उस व्यक्ति की विस्मरण-शीलता नहीं; कुछ और ही है। यह कारण उस व्यक्ति की ऐसे यथार्थ जगत में उपस्थिति है जो उसके स्वप्न-जगत से परे और पृथक है। अपने कल्पनापूर्ण जगत की अवतारणा वह यथार्थ जगत में किये हुये चल रहा है और जहाँ दोनों का वैषम्य स्पष्ट हुआ वहीं हास्य भी प्रस्फुटित होने लगेगा। चलते-चलते कुयें में एकाएक अनचित्ते में लुढ़क जाना तो और बात है; मगर चाँद की ओर देखते हुये, विरह के गीत गाते हुये, कुयें में फिसल जाना दूसरी बात है।[1] इस कोटि के व्यक्ति, अपने रोमांचक चरित्र तथा एकांगी आदर्श से प्रेरित दृष्टि-कोण द्वारा, प्रत्येक क्षण हास्य प्रस्तुत करते रहेंगे। वास्तव में, उनकी विस्मरण-शीलता ही उन्हें किसी हास्यास्पद वर्ग विशेष का प्राणी बना देती है। प्रायः वे अपनी असाधारण कार्य-शैली द्वारा ही हास्य प्रस्फुटित करेंगे। हमारे मानस में, इन कार्यों के प्रति जो भावनायें होती हैं उन्हें तरंगित कर वे हमें सतत हँसने का आवाहन देंगे। बरसाती सड़क पर फिसलता हुआ स्थूलकाय व्यक्ति; अथवा वह व्यक्ति जो दूसरों की हास्यप्रियता का शिकार बन जाता है और ये सरल गति के रोमांचक व्यक्ति जो सब कुछ भूल कर एक विचित्र आदर्श के पीछे पड़ जाते हैं, इन सबको यथार्थ जीवन की परिस्थितियाँ, हास्यास्पद बना कर हास्य प्रस्तुत करती रहती हैं। मूलतः इन तीनों वर्गों के व्यक्तियों की एक ओर लगी हुई उनकी मानसिक एकाग्रता ही हास्य का कारण बनती है। एक विचित्र लक्ष्य निर्धारित कर वे उसकी ओर चल पड़ते हैं और यथार्थ जीवन उन्हें पग-पग पर हास्य-पूर्ण ठोकरें खिलाया करता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उनके कार्य हास्यपूर्ण तभी होंगे जब वे बार-बार यथार्थ जीवन से विमुख हो अनेक बार गिरते-पड़ते रहेंगे।

इस सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या मानवी चरित्र के अन्य दोष भी हास्य प्रस्तुत कर सकेंगे? अनेक चरित्र-दोष ऐसे भी होते हैं जिनकी पुनरावृत्ति होती रहती है और जो यथार्थ जीवन से होड़ लेने

---

१. अंग्रेज़ी साहित्य की प्रसिद्ध पुस्तक 'डॉन किहोटी' का नायक इसी वर्ग का व्यक्ति है और इसी कारण उसकी सर्व-प्रियता आज तक बनी हुई है। यह व्यक्ति एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि है। विस्मरणशीलता तो उसमें है ही, मगर इसके अतिरिक्त वह कुछ और भी है। वह आदर्शवादी है जो यथार्थ जगत से अपना साम्य नहीं बैठा पाता।

पर नहीं हिचकते। ऐसा दोष पूर्णतः मस्तिष्क पर छा सकता है और एक ही प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा भी दे सकता है। क्या ये दोष हास्य प्रस्तुत करने में विफल रहेंगे? इस कोटि के दोष वास्तव में आत्मा को दूषित करते हैं; उसे पंगु बनाते हैं और मानव-चरित्र में इस गहराई तक पहुंच जाते हैं कि व्यक्ति को उनसे त्राण ही नहीं मिलता और यदि मिलता भी है तो मृत्यु को अपना कर—उनकी मृत्यु चाहे अपने हाथों हो अथवा दूसरे ही उसके जीवन का अन्त कर दें।

वस्तुतः ऐसा दोष जो हास्य प्रस्तुत करेगा और हास्य-क्षेत्र में विचरण करेगा दूसरी ही कोटि का होगा। उसका अस्तित्व मानव मस्तिष्क के अन्दर न होकर बाहर रहेगा और वह समयानुसार और मनोनुकूल वाह्य उपकरणों द्वारा प्रस्तुत हो कर मनुष्य को कुछ देर के लिए अपने पाश में जकड़ लेगा। वाह्य-रूप में ही वह एक शिकंजे के रूप में आयेगा और हमारे लचीले व्यक्तित्व से वह केवल यही चाहेगा कि वह उसमें पैर रख भर दे। खरगोश के कथनानुसार स्वातन्त्र्य-प्रेमी सिंह जब अपनी परछाईं को दूसरा शेर, समझकर कुंयें में कूदता है तो हमें बरबस हँसी आती है और यह होता इसलिये है कि वाह्य उपकरण का शिकंजा सम्मुख आया और शेर उस कठिन परिस्थिति को कठिन न जान कर उसमें बन्दी हो गया।

यह तथ्य नाटक-क्षेत्र के उदाहरणों से अधिक स्पष्ट होगा। जब एकांगी[१] मानवी प्रवृत्तियों तथा आवेश-पूर्ण आग्रह अथवा दुराग्रह का प्रदर्शन नाटकों में होने लगता है तो वे प्रवृत्तियां—आग्रह, दुराग्रह इत्यादि—अपना वाह्य अस्तित्व मिटा देती है; ये नायक में तथा अन्य पात्रों में इतनी घुलमिल जाती हैं कि हमें नायक पहले दिखाई देता है, उसकी दोषपूर्ण प्रवृत्तियां कहीं बाद में स्पष्ट होती हैं। नायक और विनष्टकारी दुराग्रह एक रूप हो जाते हैं। इसीलिये प्रायः समस्त दुःखान्तकीयों के नामकरण नायक के नाम[२] पर ही हुये हैं; उनके कार्यों के नाम पर नहीं।

इसके विपरीत सुखान्तकियों का नामकरण शायद हो किसी नायक के

---

१. देखिये 'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड।

२. उदाहरण के लिये अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर के सभी श्रेष्ठ दुःखान्तकी नायक के नाम पर हैं। 'मेकबेॅथ' उच्चाकांक्षा की विफलता के प्रतीक हैं; ओथेलो' पारिवारिक ईर्ष्या के प्रतीक। दुःखान्तकीयों की छाया लिये हुये, 'नहुष', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'अभिज्ञान शाकुन्तल' संस्कृत साहित्य के उदाहरण हैं।

नाम पर हुआ हो। नायक अथवा नायिका के कार्यों द्वारा ही उनका नामकरण होता है। इसका कारण यह है कि जो भी दोष अथवा अवगुण हास्य प्रस्तुत करेंगे अपनी स्थिति नायक के व्यक्तित्व से अलग रखेंगे। नायक के चरित्र में प्रकाश पाते हुये भी उनकी अलग सत्ता बनी रहेगी। वे अव्यक्त रूप में नायक का कार्य करेंगे और नायक निमित्त मात्र अथवा माध्यम मात्र रह जायगा। कभी-कभी ये दोष नायक को अपने चपेट में बुरी तरह जकड़ लेंगे और नायक वैसा ही नाच नाचेगा जैसा ये नचायेंगे। नायक, नायक न रह कर दोष के हाथों कठपुतली समान हो जायगा। और इस परिस्थिति में श्रेष्ठ सुखान्तकी नाटककार का यही प्रधान कार्य रहेगा कि वह हमें दोष का परिचय पूर्णरूप में दे; हमसे उसका स्पष्ट साक्षात्कार कराये। हम उसे इतनी अच्छी तरह पहि-चान ले कि हमें कभी भी भ्रम न हो और नाटककार समान हम भी दोष-ग्रस्त नायक को अपने हाथ की कठपुतली बना लें; उससे आनन्द उठायें और उसका मूलरूप स्पष्टतः समझ लें। जब नाटककार, दोष-पूर्ण नायक को, दोष के प्रांगण में नग्नरूप में नृत्य करने पर बाध्य करता है तो दर्शक-वर्ग नाटककार के पाये हुये आनन्द में साझेदार हो जाता है: उसे भी उसी आनन्द की अनुभूति होने लगती है जो नाटककार को हो रही थी और एक क्षण ऐसा भी आता है कि दर्शक स्वयं नाटककार के समान ही दोष का नग्नरूप देखने लगता है। इस नाटकीय प्रसंग में हमें यह न भूलना चाहिये कि यह परिस्थिति भी वही है जिसने जड़वत् कार्य करने वाले व्यक्ति को जन्म दिया अथवा उस विस्मरणशील व्यक्ति को हास्यास्पद बनाया जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। दोष-ग्रस्त नायक, अविचल रूप से, दोष से प्रेरित कार्य किया करता है; उसे यह आभास ही नहीं मिलता कि कहीं असंगति प्रस्तुत हो रही है और वह हास्यास्पद बन रहा है।

परन्तु हास्य-पूर्ण पात्र के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह प्रस्तुत परि-स्थिति ही नहीं वरन अपने को भी उसी में भुलाये रखे। और जितनी सफलता पूर्वक पात्र अपने को भुलाये रखेगा उतनी ही तत्परता से हास्य प्रस्फुटित होगा। हास्यपूर्ण पात्र अपने से, अपनी परिस्थिति से, अपने व्यक्तित्व से अलग रह कर ही हास्य प्रस्तुत कर सकेंगे। प्रहसन और सुखान्तकी के पात्रों के निजी व्यक्तित्व की अनभिज्ञता ही हास्य की जननी है। परन्तु वह केवल अपने लिये अनभिज्ञ है; दूसरों के लिये नहीं। अपने लिये तो वह पूर्णतः अदृश्य है परंतु दर्शकों के सम्मुख अपने सम्पूर्ण रूप में उपस्थित रहेगा।

इसके विपरीत दुःखान्तकी का नायक अपने तथा अपनी परिस्थिति से

कदापि भी अनभिज्ञ नहीं रहता : वह अपनी कार्य शैली परिवर्तित नहीं करता ; उसे सतत यह ध्यान बना रहता है कि दूसरों की आँखें उस पर एकाग्र हैं और वह पूर्ण रूप से सचेत रहता है ; और इसी में उसकी प्रभावोत्पादकता भी है। वह अपनी कार्य-शैली द्वारा जिस त्रास-पूर्ण भावना का निर्माण करेगा अथवा जो घटना घटित करना चाहेगा उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा देगा और सफलरूप में दर्शक-वर्ग को प्रभावित करेगा। प्रहसनात्मक पात्र अपनी आँखों में बिलकुल अदृश्य रहते हैं ; उन्हें दूसरे ही देखते हैं ; वे स्वयं अपने को देखने की चेष्टा ही नहीं करते। प्रहसनात्मक पात्र को कोई भी दोष अपने से समक्ष में नहीं आता ; और यदि वह कहीं समक्ष में आ जाय तो प्रहसन नितान्त विफल रहेगा और हास्य की आत्मा कहीं दूर रहेगी। फलतः यदि प्रहसनात्मक पात्र यह समझ लें कि वह कोई हास्यास्पद कार्य कर रहा है तो प्रहसन अथवा सुखान्तकी कभी भी अपने ध्येय की पूर्ति नहीं कर पायेगी : अनभिज्ञता ही में हास्य का प्राण निहित है। उदाहरणार्थ जब संस्कृत साहित्य का विदूषक अपनी भोजन-प्रियता के प्रमाण में ढेर की ढेर मिठाई खाता जाता है तो वह यह कभी भी नहीं समझता कि यह भी कोई दोष है अथवा यह भी कोई हास्यास्पद कार्य है ? क्या मनुष्य भोजन न करे ? यदि करे भी तो क्या पेट भर न करे और यदि वह सूक्ष्म-भोजी नहीं तो इसमें उसका क्या दोष : इसमें पेट का दोष हो सकता है जिसे बहु-भोजी होने की आदत सी पड़ गई है ; परन्तु पेट के आँखें कहाँ ! और यदि कहीं वह यह जान गया कि बहु भोजन अशिष्ट कार्य है और भोजन के लिये उतावली और भी अशिष्ट है, तो वह अपनी भोजन-शैली बदल देगा और हास्य हमसे दूर हो जायगा। पात्र की आँखें अपने से दूर ही रहें तभी हास्य प्रस्फुटित होगा। फलतः सिद्धान्त रूप में यह कहा जाता है कि हास्य अशिष्ट व्यवहार का संशोधन करना है। इस विवेचन से कदाचित यह स्पष्ट होगा कि बरसाती नाले के पास फिसलता हुआ नायक, दूसरों की चतुराई का शिकार सरल-हृदय पात्र, विस्मरण-पूर्ण व्यक्ति ; अतिशय उत्तेजनापूर्ण मनुष्य, अनेकानेक दोष-पूर्ण पात्र—सभी इसीलिये हास्य-पूर्ण रहते हैं कि उनके व्यक्तित्व में लोच नहीं ; वे परिवर्त्तित परिस्थिति में अपने को परिवर्त्तित न कर जड़वत् कार्य किया करते हैं जिसके द्वारा हास्य की सतत सृष्टि हुआ करती है।

उपरोक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि मानवी समाज तथा मानवी जीवन का यह सतत आग्रह रहता है कि हम सदा सचेत रहें; कहीं ऐसा न हो कि अनचित्ते ही हमें कुछ हो जाय। प्रत्येक परिस्थिति का

हमें पूर्ण ज्ञान होना चाहिये और उसकी परिवर्तनशीलता के प्रति हमें सदैव सतर्क रहना चाहिये। हमारे लिये केवल शारीरिक चेतनता नहीं वरन मानसिक सतर्कता भी अत्यन्त आवश्यक होगी। भयंकर आंधी आते ही बड़े बड़े विशाल वृक्ष गिर पड़ते हैं : वह इसीलिये धराशायी होते हैं कि वे सिर उठाये जड़वत रहते हैं परन्तु वे वृक्ष नहीं गिरते जो अपनी शीश झुका झुका कर अपने ऊपर से आंधी की भयंकरता निकल जाने देते हैं। उनमें लोच रहता है; उनमें परिस्थिति को पहिचानने की शक्ति रहती है; वे सतर्क रहते हैं। उसी प्रकार परिवर्तित परिस्थिति की आँधी आते ही यदि व्यक्ति ने अपने व्यक्तित्व को परिवर्तित नहीं किया तो उसकी कमर टूट जायगी और वह हास्यास्पद हो जायगा। यदि बिजली का बटन छूते ही करेंट ज़ोर से मारता है तो हमें उसे नहीं छूना चाहिये और उसको ठीक कराने के पश्चात् ही उसे छूना ठीक होगा। परन्तु उसे बार-बार छूते रहना और करेन्ट की चोट सहते रहना हास्यास्पद ही होगा। व्यक्ति, परिस्थिति से सचेत नहीं; वह अपनी मूर्खता से भी अनभिज्ञ है। हास्य तो प्रस्फुटित होगा ही। हास्य प्रदर्शन का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

वैज्ञानिक रूप से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि प्राकृतिक जीवन में प्रायः तनाव तथा लोच दो शक्तियाँ एक दूसरे से होड़ लेती रहती हैं। पीपल का वृक्ष अपने तनाव के कारण आँधी में धराशायी होता है और बांस का पेड़ अपने लोच के कारण भयंकर से भयंकर आँधी सह लेता है और उसे क्षति नहीं पहुँचती। उसी प्रकार हमारे भौतिक जीवन की तनाव शक्ति हमारे मानसिक लोच की शक्ति से द्वन्द्व ठाना करती है। इसी कारण हम अवांछित घटनाओं के शिकार हुआ करते हैं; सड़क पर फिसलते हैं। यदि यह लोच हमारे मानसिक क्षेत्र में न हुआ तो हम उन्माद तथा प्रमाद के शिकार होंगे : आत्म-हत्या करेंगे। यदि यह लोच हमारे चरित्र में न हुआ तो हम अनेक असंगतिपूर्ण कार्य करेंगे और हास्यापद बन जायेंगे।

इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज से अलग उसका अस्तित्व है ही नहीं और है भी तो अत्यन्त कठिन।

समाज तथा हास्य

अपनी स्वेच्छा तथा परिस्थितियों के आग्रह से उसने समाज का निर्माण किया और उसकी रक्षा उसे सतत करनी चाहिये। इसलिये जब कोई व्यक्ति भौतिक शक्तियों के तनाव तथा अपने मानसिक, शारीरिक अथवा चारित्रिक लोच-दोनों में समन्वय नहीं प्रस्तुत कर पाता तो वह केवल

अपना ही नहीं वरन् समाज का भी अहित करता है, क्योंकि वह समाज का अंग भी तो है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है; फलतः यह कैसे सम्भव है कि किसी एक व्यक्ति का जीवन दूसरे को प्रभावित न करे। जीवन में एक अदृश्य सामाजिक शक्ति सबको एक सूत्र में बाँधे रहती है और किसी एक व्यक्ति की लोच-हीनता दूसरे सामाजिक प्राणी को भी दुःखदायी बनाने की क्षमता रखती है। समाज यह चाहता है कि उसका कार्य सुचारु रूप से चलता रहे; उसका एक भी अंग न तो दूषित हो और न ऐसा बन जाय जो सामाजिक संगठन में बाधक हो। जो भी व्यक्ति दोषपूर्ण अथवा असाधारण कार्यों में संलग्न होता है समाज एक-स्वर से उसका विरोध करता है, उसे बहिष्कृत करना चाहता है और यह चेष्टा करता है कि वह पुनः समाज का सुचारु अंग बन जाय। यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है तो सामाजिक शक्ति न्याय-रूप ले उसे कारावास देती है; यदि कोई हत्या करता है तो वही न्याय-रूप शक्ति पुनः उसे फांसी के तख्ते पर झुला देती है। किसी भी असामाजिक अथवा अनैतिक कार्य के लिये वह समुचित दण्ड देती है और वह केवल इसलिये कि ऐसे व्यक्ति का कार्य समाज-संगठन में घातक होगा। परन्तु व्यक्ति में कुछ ऐसे भी दोष दिखाई दे सकते हैं जिनका न्याय रूप में समाज कुछ भी दण्ड नहीं दे सकता। ये दोष न तो घातक हैं और न अमानुषिक; ये केवल ऐसे दोष हैं जो समाज को रुचिकर नहीं और यदि किसी को कोई वस्तु रुचिकर नहीं तो उसके लिये फाँसी तो दी नहीं जा सकती : उसके लिये तो कुछ और ही विधान बनाना होगा, कोई ऐसा साधन ढूँढ़ना होगा जिससे सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। समाज ने यह कार्य हास्य द्वारा सम्भव किया है। हास्य, समाज की आत्मा का संकेत है। इस संकेत के फलस्वरूप मनुष्य अपना दैनिक आचरण, सामाजिक आचार-विचार की रक्षा करते हुये, करता है। समाज सतत सतर्कता पूर्वक असंगतियों की ओर संकेत करता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति उनके प्रति सचेत रहकर जीवन-यापन करता है और भूल नहीं होने देता। हास्य, मानव के शारीरिक तथा मानसिक एवं चारित्रिक लोच का पर्य्यवेक्षक है; यह समाज की आत्मा का संरक्षक है : मानव जाति का सुधारक है।

इस विश्लेषण के फलस्वरूप यह निष्कर्ष सहज ही निकल सकता है कि हास्य हमारे सौन्दर्यात्मक क्षेत्र का अंग नहीं; वह हमारे प्रायोगिक जीवन में ही कार्यरत रहेगा और उसके द्वारा मनुष्य के व्यापक प्रायोगिक जीवन का सफल सुधार तथा संशोधन होगा। हास्य, समाज की संगठित शक्ति का

निर्माता है। परन्तु इतना होते हुए भी हास्य, कुछ न कुछ सौन्दर्यात्मक क्षेत्र में आ ही जाता है। जब व्यक्ति तथा समाज हास्य के प्रायोगिक रूप से प्रेरित नहीं होते तो वे कला के माध्यम-स्वरूप हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि जब समाज इस चिन्ता से मुक्त रहता है कि उसे सुधार हेतु हास्य को प्रयुक्त नहीं करना है तो वह कला-क्षेत्र में सहज ही आ जायगा। मनुष्य की अनेक-रूपेण शक्तियों की लोच-हीनता ही हास्य का मूल मनोवैज्ञानिक है; इस लोचहीनता का हास्य ही सफल सुधारक है। हास्य, जीवन और कला दोनों से समन्वित है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हास्य की विशिष्ट आत्मा, अपने आदिरूप में, अनेक माध्यमों द्वारा प्रकाशमान होती रही है। कभी वह किसी दृष्टिकोण विशेष एवं शारीरिक संकेत द्वारा प्रकाशित हुई और कभी किसी घटना, कार्य अथवा अभिव्यक्ति-विशेष के कारण प्रस्फुटित हुई। परन्तु इनकी अपूर्व अभिव्यक्ति मानवी-चरित्र द्वारा ही संभव हुई और मानव-चरित्र ने इसकी अलौकिक अभिव्यक्ति के अनेक साधन भी प्रस्तुत कर दिये। यह तो सर्वथा प्रमाणित है कि हास्य की आत्मा सतत मानवी समाज से संबंधित रहती है और जब जब मानवी समाज के किसी भी अंग ने अपनी जड़ता के कारण असंबद्ध अथवा प्रतिकूल आचरण किया और सामाजिक व्यवस्था में असंगति आई तब तब अवश्यमेव हास्य की सृष्टि हुई। प्रायः यह भी कहना असंगत न होगा कि मानवी चरित्र अथवा मानवी समाज से दूर रह कर हास्य का प्रकाश असंभव होगा। उसका सहज प्रकाश तभी संभव होगा जब मानव-समाज से उसका घनिष्ठ संबंध बना रहेगा। परन्तु हास्य का सम्पूर्ण अनुभव हमें एक विचित्र व्यवस्था द्वारा ही होगा।

प्रायः नाटकीय-क्षेत्र में यह देखा गया है कि कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनको देखकर हम शीघ्र ही प्रभावित होते हैं। कुछ आनन्द के क्षण, कुछ दुःख की घड़ियाँ, कुछ क्लेश और कुछ पीड़ायें ऐसी होती हैं जो समयानुसार हमें द्रवित किया करती हैं। वे हमारे मानस में करुणा तथा भय[1] का संचार कर हमारे मानवी चरित्र का संशोधन तथा परिष्कार करती हैं: अतिरिक्त भावनाओं तथा उनकी तीव्रता का शमन कर वे चरित्र में संतुलन लाती हैं। संक्षेप में, मनोभावों की विस्तृत अनुभूति ही जो एक दूसरे में निरन्तर होती रहती है दुःखप्रद भावनाओं तथा सहानुभूति का सचार करती है। परन्तु

१. देखिये—'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड

हास्य का प्रभाव ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक नहीं। हास्य का सफल प्रसार तभी होगा जब हम तटस्थ हो जायँ और हमारे पड़ोसी की अनुभूति हमें छू भी न सके। और ज्योंहि हम तटस्थ हुये त्योंही हास्य प्रस्फुटित होगा, परन्तु ज्योंही हममें सहानुभूति का जन्म हुआ त्योंही हास्य की आत्मा विदा ले लेगी। सामाजिक तटस्थता में ही हास्य का पूर्ण-प्रकाश सम्भव होगा। कोई भी व्यक्ति जो समाज की ओर से विमुख होकर अपना कार्य मशीन-वत करता जायगा हास्य का कारण बनेगा। हास्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस व्यक्ति की इस विमुखता तथा उसके सामाजिक उत्तरदायित्व की विस्मरण-शीलता का परिष्कार करे और उसे स्वप्नलोक से उतार कर पार्थिव जगत पर ला खड़ा करे। साधारणतया किसी नये घोड़े को बग्गी अथवा तांगे में जोतने के पहले 'निकाला' जाता है और अच्छे घुड़सवार को उसे थका-थका कर, उसके आवेश को नियन्त्रित कर इस योग्य बनाना पड़ता है कि वह नियन्त्रण-शील हो जाय और जैसा साधारण भाषा में कहा जाता है—भड़कना छोड़ दे। ऐसी ही परिस्थिति व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में भी दृष्टिगत होगी। सुव्यवस्थित समाज ज्योंही कोई ऐसा नया व्यक्ति देखता है जो उस स्थिर व्यवस्था में विच्छृंखलता लाता है; असंगतिपूर्ण व्यवहार करता है; एक ही ओर एक ही गति से चलता रहता है और अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति विमुख तथा विस्मरणशील होकर व्यवहार करता है त्योंही वह हास्य रूपी अस्त्र से उसे नियंत्रित करने का उद्योग करता है। सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति व्यक्ति को जागृत करने का हास्य सफल अस्त्र है।

वास्तव में, समाज की आत्मा अत्यन्त सजीव, गतिशील तथा सजग रहती है: यह उसका जन्मजात गुण है। इसी प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहना पड़ेगा, उसे अपने को सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाना पड़ेगा उसे अपनी मनोवृत्ति, अपने चरित्र, अपनी कार्य-शैली में कोई ऐसी असंगति न दिखलानी होगी जो सामाजिक व्यवस्था का विरोध करे। समाज की आत्मा, सजग रूप में, प्रत्येक प्रतिकूल आचरण करने वाले के प्रति अपनी उँगली उठाती रहती है और हास्य के सफल सहयोग द्वारा अपनी व्यवस्था में विच्छृंखलता नहीं आने देती। हास्य, सामाजिक जीवन की विच्छृंखलताओं का सफल प्रतिकार करेगा। इस विवेचन से स्पष्टतः यह संकेत मिलेगा कि हास्य की आत्मा न तो केवल जीवन से और न केवल कला से संबंधित है: उसका दोनों से ही कुछ न कुछ संबंध दृष्टिगत होगा। जीवन से संबद्ध होते हुये भी वह कला-क्षेत्र में आने का प्रयत्न करती है।

और करे भी क्यों न ! तर्क रूप में कला भी तो जीवन से संबंद्ध है। और कला का प्रदर्शन जिस रूप में हम रंगमंच पर देखते हैं उसी रूप में जब हम जीवन के पात्रों को, सामाजिक रंगमंच पर कार्य करते देखेंगे तभी हास्य का प्रादुर्भाव होगा। वे हास्यपूर्ण तभी होंगे जब वे नाटकीय पात्र रूप में, हमसे दूर और अछूते रहकर, जड़वत् कार्य करेंगे।

इस संबंध में हमें यह भी न भूलना चाहिये कि रंग-मंच पर प्रस्तुत कार्य का देखना न तो हमारे लिये पूर्णतः सौंदर्यात्मक होता है और न हम पूर्णतः तटस्थ ही रहते हैं। हम समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से ही हास्यप्रद पात्रों को देखते हैं : हमारे मानस'में इसका सतत आभास मिला करता है कि किसी अव्यक्त रूप में समाज ने हमारे ऊपर व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में, यह उत्तरदायित्व रख दिया है जिसकी हम पूर्त्ति कर रहे हैं। हास्य प्रदर्शन में सतत किसी न किसी के दर्प-मर्दन की भावना मिलेगी और इसी भावना में संशोधन अथवा परिष्कार कर लक्ष्य प्रस्तुत रहेगा। हो सकता है कि हास्य द्वारा हम उसके गर्व के मूल स्रोत का परिष्कार न कर पायें परन्तु उस गर्व के फलस्वरूप प्रदर्शित कार्य का परिष्कार तो हम अवश्य कर लेंगे। हमारी सहज कार्य-शक्ति उससे प्रभावित हो अथवा न हो परन्तु प्रदर्शित कार्य अवश्य प्रभावित हुआ करेगा। इसीलिये हम यह सदा सिद्धान्त रूप में मानते आये हैं कि सुखान्तकी हमारे जीवन के अधिक सन्निकट इसीलिये रहती है कि वह हमारे जीवन में अन्तर्हित हास्य की आदि भावना के बहुत समीप है। जीवन तथा सुखान्तकी में नैसर्गिक सामीप्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दुःखान्तकी हमारे जीवन के सन्निकट नहीं ? इसका मनोवैज्ञानिक उत्तर यह है कि दुःखान्तकी जितनी ही श्रेष्ठ होगी ; जितनी ही गहराई से उसने मानवी आत्मा के द्वन्द्व का परिचय दिया होगा उतनी ही वह भव्य होगी ; आदर्शवत् पात्रों का निर्माण करेगी और जीवन से अविभूंत होते हुये भी जीवन से ऊपर रहेगी। परन्तु सुखान्तकी तथा प्रहसन तो हमारे नित्यप्रति के जीवन से अपनी सामग्री सहज ही जुटा लेते हैं और हास्य की आत्मा जितनी ही ऊँचे उठती है उतनी ही वह जीवन के सन्निकट आती जाती है। हास्य की आत्मा यथार्थ से आविर्भूत है।

प्रकरण—५

यदि हम मानव-समाज में स्वच्छन्द होकर विचरण करें तो हमें कभी-कभी ऐसे व्यक्तियों के दर्शन होंगे जिनकी मुखाकृति देख कर हमें बरबस हँसी आयेगी। ईश्वर ने उनके शरीर अथवा उनके मुख का निर्माण करते समय कदाचित् अपना पूरा ध्यान उस ओर नहीं लगाया और मुखाकृति अथवा शरीर में कहीं न कहीं न्यूनता बनी रह गई। उदाहरण के लिये जब हम किसी कुबड़े व्यक्ति को देखते हैं तो हँसी आ जाती है परन्तु जब हम किसी अंधे व्यक्ति अथवा नासिका-विहीन स्त्री को देखते हैं तो हममें करुणा तथा भय का संचार होने लगता है; हँसी नहीं आती। इसका कारण यह है कि आकृति तभी हास्यपूर्ण होगी जब वह करुणा तथा भय का संचार न करे। उसे प्रकृति अथवा ईश्वर ने ऐसा बनाया ही हो कि हम मुस्कुरा पड़ें। अथवा प्राय आकृति तभी हास्य-पूर्ण होगी जब साधारण व्यक्ति उसका सहज ही अनुकरण कर लें। एक ही मुख पर पूरब-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण देखने वाली पुतलियाँ, बैठी हुयी नाक, ठेढ़ी मेढ़ी रीढ़ों वाली गर्दन, अत्यन्त छोटा मस्तक और अत्यन्त मोटा शरीर, हास्य इसीलिये प्रस्तुत करते हैं कि उनका साधारणतः अनुकरण हो सकता है।

जड़वत् कार्य-सिद्धान्त के अन्य आधार: (१) मुखाकृति

यदि हम पूर्व-निश्चित सिद्धान्त को इन परिस्थितियों पर आरोपित करें तो हमें यह प्रतीत होगा कि कदाचित कुबड़ा ऐसा व्यक्ति है जो अपने शरीर को ठीक से खड़ा नहीं कर सकता; उसकी पीठ ऊँट समान हो गई है और उसकी चाल साधारण व्यक्तियों ऐसी नहीं। उसके शरीर का लोच खो गया है और उसका शारीरिक तनाव किसी भी परिस्थिति में परिवर्त्तित नहीं होता; वह साधारण व्यक्तियों समान पीठ के बल न सोकर पेट के बल सोता है। जहाँ साधारण व्यक्ति पाँच या छः फुट लम्बे होते हैं वहाँ वह केवल बौना हैं; फलतः हास्य प्रस्फुटित होता है। शारीरिक कुरूपता अथवा विकृति जो हास्य प्रस्फुटित करती है, कभी-कभी अपने थोड़े बहुत संशोधित रूप में, सुखान्तकीयों में भी प्रयुक्त हो सकती है। वहाँ वह एक विचित्र प्रकार का हास्य प्रस्तुत करेगी। हास्यास्पद आकृति जब-जब हम देखेंगे तब-तब यह सोचेंगे कि आकृति का साधारण लोच लुप्त हो गया है; उसमें एक

विचित्र तनाव आ गया है जो परिवर्तित होता ही नहीं; और यह अपरिवर्तन-शील आकृति हमारे लिये सदैव हास्यास्पद रहेगी। कुछ आकृतियाँ ऐसी होती हैं जो रुआसी सी रहती हैं, कुछ ऐसी कि मुँह चिढ़ा रहीं हैं, और कोई कोई ऐसी कि मानो बीन बजाते-बजाते गालों में हवा भरी रह गई है। इन सबको देखकर इसी कारण हँसी आयेगी कि वह आकृति साधारण, लोचपूर्ण, परिवर्त्तनशील आकृति न होकर केवल एक विशेष प्रकार के मांसल शिकंजे में जकड़ दी गई है जिससे उसे छुटकारा नहीं। आकृति, आकृति नहीं वह प्रश्न-सूचक चिन्ह समान बन जाती है।

आकृति द्वारा प्रसूत हास्य के संबंध में यह भी आवश्यक है कि व्यंग्य-चित्रों द्वारा प्रस्तुत हास्य का भी अनुसंधान किया जाय।

(२) व्यंग्य-चित्र इस तथ्य का हम सब ने अपने दैनिक जीवन में सतत अनुभव किया है कि शायद ही कोई मुखाकृति ऐसी हो जो आदर्श मुखाकृति हो। कहीं न कहीं हमें व्यतिरेक अवश्य दिखाई दे जायगा। कहीं मुख के साथ नासिका का साम्य नहीं बैठेगा, कहीं होठों के साथ नासिका ठीक मेल नहीं खायगी और कहीं मस्तक और मुख में कोई साम्य नहीं होगा। इसके यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति कुरूप है; तात्पर्य केवल यही है व्यक्ति की सम्पूर्ण आकृति में किसी अंग विशेष की लम्बाई-चौड़ाई कुछ अधिक हो गई है। ऐसा प्रतीत होगा कि प्रकृति ने आकृति बनाते-बनाते अपना हाथ ढीला या तेज़ कर दिया है जिसके फलस्वरूप या तो आँखें ज़रा ज़्यादा गोल हो गईं अथवा नासिका थोड़ी छोटी हो गई। और यही अंग, व्यंग्य चित्रकार की दृष्टि में समा जाता है और वह उन्हीं[1] व्यतिरेक पूर्ण अंगों को ज़रा और बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित करता है। व्यंग्य-चित्र-कला अतिशयोक्ति पर ही निर्भर है।

चित्रकार की पैनी आँखों में व्यक्ति की मुखाकृति के किसी भी अंग विशेष का व्यतिरेक चुभ जाता है। वह आकृति के उस तत्व को अतिशयोक्ति पूर्ण रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है जिसे प्रकृति ने कुरूप होते-होते बचा लिया था। व्यंग्य चित्रकार, अन्तर्हित कुरूप संकेत को वहिर्जगत में स्पष्टतः प्रकाशित करता है; और कुछ व्यंग्य चित्र तो जीवित व्यक्ति से कहीं अधिक सजीव होते हैं। उस चित्र में हमें उस तत्व विशेष के दर्शन होते हैं जिसके

---

१. मिस्टर चर्चिल के फूले गाल; उनका लम्बा सिगार; पंडित नेहरू की लम्बी नासिका तथा निचला होठ; स्टालिन की मूँछ तथा छोटी आँखें; प्रेसिडेन्ट ट्रूमन की तीखी दृष्टि सभी ऐसे अंग है जिन्हें व्यग्य चित्रकारों ने सफलतापूर्वक अपनाया है।

कारण ही आकृति का महत्त्व है और उसकी सजीवता है। ऐसे व्यंग्य-चित्रों में, जो श्रेष्ठ कलाकार द्वारा ही खींचे जा सकेंगे, अतिशयोक्ति की कुछ मात्रा होते हुये भी नहीं के बराबर होगी। आकृति तो वही होगी मगर दो एक संकेत ऐसे स्पष्ट कर दिये गये होंगे कि व्यंग्य चित्र और भी अधिक सजीव हो उठेगा।

कलाकार को व्यंग्य चित्र में, अतिशयोक्ति का प्रयोग नियंत्रण-पूर्वक करना होगा; और यह कार्य सरल नहीं। निम्न कोटि के कलाकार जो प्रतिभा-विहीन ही होंगे अतिशयोक्ति का इतना अधिक प्रयोग करेंगे कि कुरूपता का संकेत, संकेत मात्र न रहकर वीभत्स रूप ग्रहण कर लेगा। लम्बी नाक अत्यधिक लम्बी कर दी जाती है; छोटा सिर छोटे गेंद समान व्यक्त किया जाता है। श्रेष्ठ चित्रकार अतिशयोक्ति का प्रयोग केवल अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये करते हैं; अतिशयोक्ति उनका लक्ष्य नहीं; लक्ष्य तो है हास्य-प्रदर्शन; अतिशयोक्ति तो केवल एक साधन है। और जब तक यह साधन, साधन रूप में प्रयुक्त होगा लक्ष्य की सिद्धि होगी। कलाकार को अत्यन्त संयत रूप में, विकृति के एक अंश विशेष को ही नियंत्रित अतिशयोक्ति द्वारा व्यक्त करना होगा। हमारी दृष्टि में वही विकृति हास्यपूर्ण और इसीलिये महत्त्वपूर्ण भी होगी। हमें अतिशयोक्ति से न तो कोई प्रयोजन है और न उस विकृति से; प्रयोजन केवल है विकृति में अन्तर्हित कुरूपता के संकेत मात्र से जो हास्य का कारण बन जाती है। व्यंग्य चित्रकारकी सफलता प्रायः इसी में है कि वह प्रकृति द्वारा सांकेतिक मांसल भाषा के माध्यम से झलकाई हुई विकृति-संकेत को को ज़रा और स्पष्ट कर दे: प्रकृति का उद्देश्य पूरा कर दे; उससे सहयोग कर ले।

प्रायः शारीरिक चाल-ढाल, चेष्टा तथा वेष-भूषा द्वारा नाटककार तथा लेखक हास्य की सफल सृष्टि करते आये हैं। और यहाँ पर भी हमारा पूर्वोक्त विवेचित सिद्धान्त स्पष्ट होगा जिसके आधार पर

(३) शारीरिक इंगित

हम यह कह चुके हैं कि शरीर के जड़वत् कार्य करने के फल-स्वरूप ही हास्य की सृष्टि होगी। साधारणतः वही शारीरिक चाल-ढाल तथा चेष्टा हास्य-प्रद होगी जो जड़वत् होने का भ्रम प्रस्तुत करेगी और हास्य भी उसी मात्रा में प्रस्तुत होगा जितनी मात्रा में चेष्टा अथवा चाल-ढाल जड़वत् रूप में कार्य करेगी। इस भ्रम के अन्तर्गत हमें मनुष्य कुछ हड्डियों पर आधारित मांस-पेशियों का जड़वत् कार्य करता हुआ पुतला मात्र दिखाई देगा। उस व्यक्ति को देख कर हमें उसके ढाँचे की ओर बरबस देखना पड़ेगा; परन्तु इस बात का

सतत आभास हमें मिलता रहना चाहिये कि ढांचे पर आधारित मांस-पेशियां व्यक्ति की हैं ; वह कोरा ढांचा नहीं। इस परिस्थिति में कभी हम ढांचे के पीछे व्यक्ति के दर्शन करेंगे कभी व्यक्ति के आधार-रूप ढांचे का स्मरण हमें आयेगा और जब तक हम इन दोनों विपरीत परिस्थितियों के बीच झूला झूलते रहेंगे, हँसते रहेंगे और हास्य की आत्मा विकसित होती रहेगी। और जितनी स्वाभाविकता तथा सहज रीति से दोनों विरोधी परिस्थितियां एक दूसरे में घुलती मिलती रहेंगी उतने ही श्रेष्ठ कोटि का हास्य भी प्रदर्शित होगा। श्रेष्ठ कलाकर की श्रेष्ठता तथा मौलिकता इसी में है कि वह कितनी अधिक मात्रा में कठपुतली में जीवन फूँकता है और वह कठपुतली कहाँ तक व्यक्ति होने का भ्रम प्रस्तुत करती है। भ्रम और यथार्थ दोनों की एकरूपता में ही हास्य की आत्मा निहित रहेगी।

इस विवेचन को उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा। कल्पना कीजिये कि एक समाज सुधारक किसी जन-समूह के सम्मुख वक्तृता दे रहा है। जिस विषय पर वह वक्तृता दे रहा है उसके आधार कुछ विचार होंगे जो निरन्तर उसके मस्तिष्क में प्रगति करते हुये, विभिन्न विचार प्रदर्शित करते हुये, समाप्त हो जायगे। कभी वह तर्क करेगा, कभी सहानुभूति प्रदर्शन करेगा, कभी क्रोध प्रदर्शित करेगा, कभी कटूक्ति का सहारा लेगा और कभी उसे आवेशपूर्ण भाषा का प्रयोग करना वांच्छित होगा। अपने विचारों तथा भावों के प्रदर्शन में जिस भाषा तथा शब्दावली का वह प्रयोग कर रहा है उसमें गति है, विभिन्नता है, प्रगति है परन्तु आश्चर्य यह है कि जिस प्रकार वह अपने हाथों का संकेत देता है अथवा अपनी भ्रूभंगिमा बदलता है उसमें किंचितमात्र भी परिवर्तन नहीं। तर्क करते समय वह अपनी उंगली अपने मस्तक की ओर उठाता है; सहानुभूति के लिये भी वही उंगली उठती है और मस्तक के पास पहुँच कर गिर पड़ती है; क्रोध में फिर वही इंगित और आवेश में भी उसी की पुनरावृत्ति। विचार तो कहीं के कहीं पहुँचते हैं परन्तु संकेत जड़वत् वहीं बना रहता है: वही उंगली उठती और गिरती है और श्रोतावर्ग के लिये हास्य प्रस्तुत करने लगती है। श्रोतावर्ग किसी विचार विशेष के समर्थन के लिये उंगली उठती देखता है; उसके बाद फिर वही इंगित और फिर उसी की पुनरावृत्ति ! वह प्रतीक्षा करने लगता है कि अब इंगित होने वाला है; और क्षण भर के पश्चात वही संकेत मिलता है; वह पुनः उसकी प्रतीक्षा करता है और पुनः उस प्रतीक्षा की पूर्ति होती है; और इस आनन्द को पाकर श्रोतावर्ग खिलखिला कर हंस पड़ता है। परन्तु इस परिस्थिति से वक्ता महोदय नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं उन्हें

यह आभास ही नहीं मिलता कि उनका हाथ मशीन के समान कार्य कर रहा है; वे बार-बार एक ही संकेत, एक ही इंगित का प्रयोग करते चले जा रहे हैं चाहे विचारों की पुष्टि उनके द्वारा होती हो अथवा न होती हो उस पर उनका ध्यान ही नहीं। वक्ता एक जीता-जागता व्यक्ति न होकर कठ-पुतला होने का आभास देने लगता है। अपने जड़वत् कार्य करने के फलस्वरूप वह हास्यास्पद होता है। मानवी-कार्य जड़वत होते ही हास्याधार बन जायेंगे।

इसी कारण ऐसे शारीरिक संकेत अथवा इङ्गित भी हास्यास्पद हो जायेंगे जिन पर हँसने का हमारा कभी भी विचार न था। इन इङ्गितों का अनुकरण जब हम दूसरे व्यक्तियों द्वारा देखते हैं तो हमें स्वतः हँसी आने लगती है। यदि हमारे परिवर्त्तनपूर्ण विचारों के साथ-साथ हमारे इङ्गित भी परिवर्त्तित होते चलते; यदि हमारे मानसिक विचारों और शारीरिक संकेतों में साम्य प्रस्तुत होता रहता; यदि हमारे विचारों के समान हमारे इङ्गित भी सजीव तथा गति पूर्ण होते तो न तो उनकी पुनरावृत्ति होती, न उनका अनुकरण हो पाता, न वे जड़वत् होने का आभास देते और न वे हास्यास्पद ही बनते। संकेतों तथा इङ्गितों की अपरिवर्त्तनशीलता में ही हास्य का अंकुर रहेगा।

कुछ शारीरिक इंगित ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वतः हास्यास्पद हों; परन्तु उन्हें हास्य प्रस्तुत करने के लिये जीवन के साधारण कार्यों से संबंधित रहना पड़ेगा। और जब वे जीवन के साधारण कार्यों से संबंधित हो जायँगे तो वे और भी अधिक मात्रा में हास्य प्रस्तुत कर सकेंगे। पाठशाला में अपनी प्राचीन-सज-धज से पढ़ाते हुये पंडितजी अथवा मौलवी साहेब, अनेक व्यवसायों से संबंधित कार्य करने वाले मनुष्य, साधारण से साधारण कार्य करने वाले व्यक्ति, अपने जड़वत् कार्य करने के फल-स्वरूप हास्य प्रस्तुत करेंगे। इस विवेचन से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि कदाचित् कुछ अशिष्ट कार्यों के फल-स्वरूप ही हास्य प्रस्तुत होगा : यह विचार असंगत तो नहीं परन्तु पूर्णतया प्रमाणित न हो सकेगा। अशिष्ट व्यवहार में हास्य की मात्रा रह सकती है मगर हास्य अशिष्टता द्वारा नहीं प्रसूत होता वह जड़वत् कार्य के फलस्वरूप ही प्रस्तुत होता है; और इसी कारण हास्य-प्रदर्शन के लिये अशिष्टता केवल एक निकृष्ट माध्यम ही रहेगी। उदाहरण के लिए चंचल बालक पाठशाला में सोते हुये पंडित जी को जगाने की चेष्टा में उनके केश-विहीन सिर पर मोर-पंखी द्वारा गुदगुदी पैदा करता है और मच्छर अथवा मक्खी का आभास पाकर पंडित जी बार-बार अपने सिर पर हाथ लगाते जाते हैं। प्रत्येक गुदगुदी पर उनका हाथ मशीन-समान उनके सिर पर चलता रहेगा और हास्य का प्रस्फुटन होता

रहेगा। यदि उनका हाथ सजीव और तर्कपूर्ण व्यक्ति का सजग हाथ होता तो हँसी कदापि भी नहीं आती। परन्तु वह हाथ तो कुछ समय के लिये सुप्त शरीर का ही हाथ है; उसमें परिवर्त्तन-शीलता नहीं, इसीलिये वह हास्यास्पद भी होगा। विदूषक इस तथ्य को पूर्ण रूप से समझता है और इसीलिये वह हास्य प्रस्तुत करने में सफल रहता है। शारीरिक इंगितों की पुनरावृत्ति द्वारा सफल हास्य की सृष्टि होगी।

सच तो यह है कि जीवन के सजीव तथा परिवर्त्तन शील स्थलों में हमें पुनरावृत्ति के दर्शन नहीं होंगे। सजीव तथा परिवर्त्तनशील कार्यों में गति होगी, सजीवता होगी और उनका अनुकरण दुष्कर ही नहीं असम्भव भी होगा। और जहाँ हमें अपरिवर्त्तनशील कार्य के पुनरावृत्ति का आभास मिलेगा वहाँ हँसी अवश्य आयेगी। हमें भ्रम हो जाता है कि व्यक्ति कोई मशीन है जो बिना देखे सुने अपना हाथ अपने सिर पर मारता चल रहा है। यदि वह सजग तथा सजीव प्राणी होता तो यह देखता कि इस गुदगुदी का कारण आखिर क्या है जो एक बार हाथ चलाने पर भी नहीं हटा और बार-बार प्रस्तुत हो जाता है। व्यक्ति जड़वत् हो गया; उसका कार्य परिवर्तन-विहीन रहा; फलतः, हास्य का प्रस्फुटन भी संभव हुआ।

इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि जब हम केवल एक कठपुतली का नाच देखते हैं तो हमें हँसी आती तो है परन्तु उतनी नहीं जितनी दो अथवा तीन कठपुतलियों को एक साथ नाचते देख कर आती है। इसका कारण भी वही है। जब हम दो मानवी आकार आमने-सामने देखते हैं तो हमें यह आभास मिलता है कि दोनों आकार एक दूसरे के अनुकरण मात्र हैं: दोनों ही एक दूसरे समान जड़वत् हैं; एक ही चित्र की दो प्रतिलिपियां हैं फलतः हमारा हास्य भी द्विगुणित हो जाता है। यदि हम एक दो नहीं वरन कई कठपुतलियाँ एक साथ नाचते देखें तो हमारा हास्य और भी अधिक बढ़ जायगा। प्रत्येक कठपुतली एक दूसरे के आकार से इतनी मिलती जुलती होगी कि हमें जड़वत् व्यक्तियों का मेला सा लगा ज्ञात होगा। कठपुतलियों का नचाने वाला व्यक्ति प्रत्येक को अपनी उंगलियों पर नचाता रहेगा; एक प्रणाम करेगी, तो एक चरण छूयेगी, तो तीसरी ताल देगी और चौथी नाच उठेगी। कोई अपना घूंघट सँभालेगी; कोई पगिया सँवारेगी; कोई हिल-मिल ताली बजायेगी। सबके कार्यों में इतनी विभिन्नता होते हुये भी समानता का इतना आभास मिलेगा कि हमें समस्त कठपुतलियाँ जड़वत् ज्ञात होंगी; वे एक दूसरे की अपरिवर्त्तित मूर्ति जान पड़ेंगी; और हमें हँसी आती रहेगी।

इन समस्त उदाहरणों में हमें जड़वत् कार्य करने वाले व्यक्ति का ही आभास मिलता रहेगा। कठपुतलियों के कार्य में हमें मनुष्य के प्रत्येक जटिल कार्य की प्रतिरूपता दिखाई देगी और यही समस्त प्रहसन तथा सुखान्तकी नाटककारों का मूल विषयाधार रहा है। वे पात्रों द्वारा कभी शब्द-विशेष अथवा वाक्य-विशेष की पुनरावृत्ति[1] करायेंगे; कभी एक दूसरे के बोले हुये वाक्य अनेक प्रकार से दुहरायेंगे, कभी किसी प्रहसनात्मक घटना की पुनरावृत्ति करेंगे और अन्यान्य प्रकार के साधनों को प्रयुक्त कर हास्य प्रस्तुत करते रहेंगे। परन्तु नाटककार की प्रहसनात्मक कला इसी में रहेगी कि वह सब पात्रों के कार्यों के पीछे जड़वत् कार्य करने वाले व्यक्ति की झाँकी दिखलाये। वाह्यरूप में देखने से यह जान पड़े कि ये व्यक्ति निर्जीव हैं परन्तु हों वे सजीव और मानव के प्रतिरूप। और इस कार्य में नाटककार को जितनी ही अधिक सफलता मिलेगी उतना ही सफल तथा व्यापक उसका हास्य होगा।

---

१. देखिये—'नाटक की परख'—प्रहसन खण्ड

प्रकरण—६

मानवी वेष-भूषा

साधारणतया हास्य-प्रसारक नाटककारों ने वेष-भूषा के माध्यम द्वारा भी हास्य प्रस्तुत किया है और उसमें यथेष्ठ सफलता भी पाई है। प्रायः यह कहना युक्ति संगत होगा कि प्रत्येक वेष-भूषा का नवीनतम फैशन कभी न कभी हँसी अवश्य लाता है और उसको पहले पहल अपनाने वाले इस संशय में अवश्य रहते हैं कि कहीं उनकी वेष-भूषा दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद तो नहीं हो रही है। इधर दर्शक-वर्ग प्रचलित फैशन देखते-देखते अपनी ऐसी मानसिक अवस्था बना लेता है कि उसे व्यक्ति और वेष दोनों में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई देता; व्यक्ति और वेष उसकी दृष्टि में एक दूसरे के पर्याय हो जायेंगे। अपने कल्पना जगत में वह दोनों का ऐक्य देखता है; दोनों का अन्तर नहीं और एक का स्मरण दूसरे का चित्र तत्काल प्रस्तुत कर देगा। दर्शक को यह ध्यान में ही नहीं आयेगा कि एक केवल वेष है और उसको पहनने वाला चलता-फिरता जीवित व्यक्ति; दोनों में महान अन्तर है। इसीलिये ऐसी परिस्थिति में हास्य अन्तर्हित रहता है और उसका प्रकाश तभी होता है जब हम दोनों का अन्तर स्पष्टतः जान लेते हैं। उस समय हमें एक विचित्र अनुभव होता है। हम यह समझने लगते हैं कि वह व्यक्ति वेष-विशेष से अपने को छिपाने का प्रयत्न कर रहा था। यदि कोई सनकी व्यक्ति पुराने युग की वेष-भूषा पहनकर आककल की सड़कों पर चलने लगें तो हमें तत्काल हँसी इसीलिये आतो है कि हम यह समझने लगते हैं कि वह व्यक्ति अपने को छिपाने के प्रयास में एक विचित्र प्रकार का वेष बनाये है। कल्पना-जगत का ऐक्य, वाह्य जगत में विभिन्नता का रूप ग्रहण करते ही हास्य प्रस्तुत करने लगता है।

इसका क्या कारण है कि हम अत्यन्त काले व्यक्ति को भी देखकर बरबस हँसने लगते हैं? यदि किसी की नाक अत्यन्त लाल हुई अथवा किसी के सिर के बाल बिलकुल नीले हुये अथवा किसी की शकल चूने से भी अधिक सफेद दिखाई दी तब भी हमें क्यों हँसी आने लगती है? कारण यह है कि हमें यह आभास मिलने लगता है कि अमुक व्यक्ति काले रंग का चेहरा लगाये है अथवा अपनी नाक को उसने बेतरह रंग लिया है और अपने बालों को उसने नीले रंग में डुबाया है अथवा मुँह पर क़लई पोत कर अपने को छिपाने का प्रयत्न किया

है। व्यक्ति है तो कुछ और मगर कुछ और बनने का प्रयास कर रहा है। हमारे मस्तिष्क में यह बात घर बना लेती है कि उसका वेष, छद्म वेश है और यदि छद्म-वेश नहीं भी होता तो भी हमें छद्म-वेश का ध्यान तो हो ही आता है। व्यक्ति और वेष, दो न होकर एक हो जाते हैं, व्यक्ति और रंग एक होते हुये भी विभिन्न हो जाते हैं। कल्पना का क्षेत्र भी विचित्र क्षेत्र है और कुछ रहस्यपूर्ण नियमों से परिचालित है। वह अत्यन्त काले व्यक्ति को, काला चेहरा लगाये हुये समझती है और अत्यन्त सफेद रंग को छद्म वेष समझती है। तर्क की दृष्टि से तो इसका उत्तर दूसरा होगा परन्तु कल्पना के विचित्र क्षेत्र में दूसरा उत्तर मिलेगा ; तर्क और कल्पना का द्वन्द्व आज का नहीं वरन बहुत पुराना है। फलतः छद्म वेश पहने हुये व्यक्ति हँसी लाते हैं और वे भी व्यक्ति हास्य प्रस्तुत करते हैं जिन्हें हम समझते हैं कि वे छद्म-वेश बनाये हुये हैं। सिद्धान्त रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी प्रकार का छद्म-वेश चाहे वह मानव-समाज में, प्रकृति के जीवन में अथवा पशु-वर्ग मे हो, सतत हास्य की सृष्टि किया करेगा। यही कारण है कि जब हम किसी कुत्ते का एक कान बिलकुल कटा हुआ देखते हैं अथवा उसे पूंछ-विहीन पाते हैं तो हँसने लगते हैं। हमारी कल्पना हमसे यह कहती है कि उसने अपने शरीर के दोनों आवश्यक अंगों को छिपाकर छद्म-वेश धारण करने का प्रयास किया है। कुछ छोटे-छोटे पेड़ों पर, चुनाव के समय उम्मीदवार अपने नाम के बड़े-बड़े विज्ञापन चिपका देते हैं ; 'हमें वोट दीजिये'! 'यही आपके पथ-प्रदर्शक हैं!' जिन्हें पढ़कर हमें हँसी आती हैं और वह इसीलिये कि हमारे मन में यह विचार उठता है कि ये पेड़ जिन पर पोस्टर चिपके हैं छद्म-वेश धारण किये हुये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकृति के जीवन को मानों किसी ने कृत्रिम वेश पहना दिया हो; उनकी सजीवता को किसी ने शिकंजे मे जकड़ दिया हो; चेतनापूर्ण प्रकृति को किसी ने जड़वत् बनाने की चेष्टा की हो। कहा जाता है कि किसी एक महान ज्योतिषि ने किसी राजमहिषी को अपनी वेध-शाला में सूर्य-ग्रहण देखने के लिये निमन्त्रित किया परन्तु राजमहिषी तीन चार घन्टे देर करके पहुंचीं; और देर से आने की क्षमा माँगते हुये कहा, यदि आप को कष्ट न हो तो पुनः सूर्य-ग्रहण प्रदर्शित करनें की कृपा करें!' राजमहिषि ने प्रकृति को जड़वत् समझा और उसे पुनः राज्यज्ञा द्वारा सूर्य-ग्रहण प्रस्तुत करने का आदेश दिया। हास्य का प्रस्फुटन सहज ही संभव हो गया। इसी प्रकार एक प्रसिद्ध दर्शन-वेत्ता किसी ऐसे ज्वालामुखी को देखने गये जो बहुत दिनों से शान्त हो गया था और उसे देखते ही बोले—'यहाँ के मनुष्य भी विचित्र हैं! एक

ज्वालामुखी था—उसे भी शान्त कर दिया !' कदाचित उनके लिये प्रकृति दूसरों के हाथ की खिलौना थी ; उसका अपना कोई नियम नहीं ! परिस्थिति हास्य के अनुकूल हो गई ।

इसी तथ्य का प्रमाण हमें समाज में भी मिलेगा । हम सभी सामाजिक प्राणी हैं, समाज के अंग हैं और इसीलिये समाज एक जीवित व्यवस्था है ; और सभी जीवित वस्तुयें छद्म-वेष का आभास समयानुसार दे सकती हैं । सामाजिक जीवन का कोई भी स्थल अथवा अंग जहाँ यह आभास देना आरंभ करेगा कि वह छद्म-वेष-धारी है हास्य प्रस्तुत करने लगेगा । यह आभास हमें तभी मिलेगा जब हम कोई ऐसा स्थल अथवा अंग देखेंगे जो सजीव तथा गतिशील होते हुये भी निर्जीव तथा निश्चेट ज्ञात हो अथवा जिसे निश्चेष्टता का वेश पहना दिया गया हो ; गतिहीन तथा निर्जीव अथवा जड़वत् बनाने की चेष्टा की गई हो । यहाँ भी हमें चेतनापूर्ण तथा गतिशील अंग अथवा स्थल को किसी जड़वत् व्यवस्था में जकड़ देने का प्रयास दृष्टि-गत होगा । सामाजिक रस्म-रिवाज, समाज के जीवन में वही स्थान पायेंगे जो वेष का स्थान व्यक्ति के जीवन में होगा । या यों कहिये कि रस्म-रिवाज ही समाज की वेश-भूषा है ; सजीव समाज इसी में सजधज कर आकर्षक रूप में प्रदर्शित होता है । ये रस्म-रिवाज हमें गुरुत्वपूर्ण इसलिये जान पड़ते हैं कि युग-युगान्तर से हमारे मन में उनके प्रति श्रद्धा बनी हुई है । हमारे लिये समाज तथा रस्म-रिवाज एक रूप हो गये हैं । और जब कल्पना उनका अन्तर और उनकी विभिन्नता हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने लगती है तो उनकी गुरुता का आभास लुप्त हो जाता है ; वे हास्य के क्षेत्र में आ जाते हैं ।

साधारणतया जब-जब हम समाज के रस्म-रिवाज को समाज से पृथक् कर के देखेंगे तब-तब हास्य की सृष्टि होगी । उदाहरण के लिये जब हम कभी कोई ऐसा उत्सव देखते हैं जिसमें रंग-रलियाँ हों अथवा कोई ऐसा महोत्सव देखें जिसमें धार्मिकता हो तो भी ऐसी परिस्थिति ज्योंही हमें समाज के वाह्य-रूप में प्रदर्शित उत्सव के रूप में दिखाई देगी और हम समाज का स्वतः ध्यान भूल जायँगे त्योंही हमें जड़वत् कार्यों का भ्रम होंने लगेगा और हम हँसने लगेंगे । न्यायालयों, पाठशालाओं, मन्दिरों, मस्जिदों तथा गिरजाघरों के प्रधान को प्रायः हमें देखकर हँसी इसीलिये आयेगी कि हम उन्हें कुछ जड़वत् कार्य करते देखेंगे और उनकी समस्त महत्ता हमारे लिये हास्य में परिवर्तित हो जायगी । क्योंकि ज्योंही हम

उन श्रेष्ठ व्यक्तियों को कठपुतली समान कार्य करते देखेंगे हमें हँसी आये बिना न रहेगी। जीवन पर जड़वत् कार्यों का आभार हास्य का अमर स्रोत रहेगा।

प्रायः यह भी देखने में आयेगा कि संस्थाओं के प्रधानाध्यक्षों के कार्यों द्वारा ही हास्य विशेष रूप में प्रस्तुत होगा। जब न्यायाधीश बार-बार शान्त रहने का आदेश देगा, जब स्कूलों के प्रधान बार-बार आकरण ही अपना चश्मा आँखों से ऊपर मस्तक पर लगायेंगे; जब मुल्ला नमाज़ तथा अज़ान देने की आकृति बनायेगे तथा पंडित और पादरी गम्भीर मुद्रा बनाकर अपने आशीर्वादक कार्य में सलग्न होंगे तो हमें निरंतर उन्हें जड़वत् समझने की इच्छा हुआ करेगी और इसी में हास्य निहित रहेगा। डूबते हुए यात्रियों को पानी से निकाल कर यदि चुंगीघर का प्रधान उन्हीं से यह पूछे कि जो कुछ भी चुंगी का समान तुम्हारे पास है हाज़िर करो—तो उसके इस आदेश पर हँसी ही आयेगी। वह मनुष्य व्यक्ति न रहकर अपनी आदत के कारण जड़वत् हो गया है और वही प्रश्न जो वह सभी से पूछने का अभ्यस्त है, सभी परिस्थितियों में पूछ बैठता है। प्रायः यही परिस्थिति, प्रकृति संबंधी जीवन के अध्ययन में भी दिखलाई देगी; वह हास्यास्पद तभी होगी जब प्रकृति के गति-शील जीवन को, मानवी व्यवस्था अपने हाथ की कठपुतली बनाना चाहेगी। प्रकृति का अपना अगल जीवन है; अपनी अलग गति है; अपनी अलग मर्यादा है और जब मनुष्य अपने मानवी समाज की मर्यादा से उसे नियंत्रित करना चाहेगा तो हमें निश्चय ही हँसी आयेगी। पूर्व से निकलते हुए सूर्य को जब विद्यार्थी पश्चिम से इसलिये निकलता हुआ बतलाये कि उसने अमुक पुस्तक में पढ़ा है अथवा उसकी दादी ऐसा ही कहती थीं तो हमें मुस्कराहट आयेगी। फलतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि जहाँ कहीं भी मानव-शरीर के जड़वत् कार्य अथवा मानवी-स्वभाव के जड़वत् आदेश तथा प्रकृति पर जड़वत् मानवी-नियंत्रण के दर्शन होंगे हास्य सहज ही प्रस्फुटित होगा।

जब हमने यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया कि जीवन के जड़वत् व्यवहार द्वारा ही हास्य प्रादुर्भूत होगा तो हमने स्पष्टतया तथा तर्क रूप में यह भी मान लिया कि मनुष्य का चेतनाशील शरीर, शरीर रूप में ही कार्य कर रहा है और उसने अपनी चेतना उस समय-विशेष के लिये सुप्त कर दी है। चेतनाशील शरीर को सतत सजग और सचेत रहना चाहिये था। उसे अपना लोच, अपनी सजीवता, अपनी कोमलता खोना न चाहिये था। उसे आत्मा तथा शरीर का समन्वय भुलाना न चाहिये था। वास्तव में चेतना तथा सजीवता

शारीरिक-क्षेत्र के तत्व न होकर आत्मिक-क्षेत्र के ही तत्व होंगे। आत्मा ही शरीर को सचेत तथा सजीव बनायेगी। दीप-शिखा समान यह शरीर-दीप को आलोकित रखेगी और हम शरीर के माध्यम से ही उसके दर्शन कर पायेंगे। जिस प्रकार युवती की आरसी उसके शरीर अथवा उसकी आकृति का प्रतिबिम्ब उसके सम्मुख प्रस्तुत कर देती है उसी प्रकार उसका शरीर उसकी आत्मा प्रतिबिम्बित कर देगी। और अब हम शारीरिक सुकुमारिता, मधुरता, कोमलता इत्यादि सौन्दर्यात्मक गुणों का ध्यान करते हैं तो हम आधारभूत शरीर को भुला देते हैं। हम यह नहीं सोचते कि शरीर कितना स्थूल अथवा कितना कृश है; उसका तोल क्या है; उसकी ऊँचाई क्या है। संक्षेप में हम शरीर के आधार को भुला कर कुछ अमूर्त्त तत्वों का ही ध्यान रखते हैं। और ज्यों ही हम शरीर की ओर ध्यान देते हैं बहुत से अमूर्त्त तत्व विदा हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर एक ऐसा पार्थिव अंग है जो आत्मा को बंदी रूप रखता है; आत्मा तो ऊँचे चलने को प्रस्तुत है परन्तु शरीर की पार्थिवता उसके पैरों में बेड़ियाँ पहना रही है। शरीर आत्मा का वेष है। जिस प्रकार व्यक्ति कोई वेष भूषा विशेष धारण करता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर का वेष धारण कर लेती है। पार्थिव शरीर अपने जड़वत् जीवन द्वारा आत्मा को घेरे रहता है; अपने जड़वत् कार्यों द्वारा उसे पनपने नहीं देता; अपने मशीन-वत कार्यों द्वारा उसे कुण्ठित किया करता है। फलतः वह कार्य अथवा परिस्थिति अथवा घटना सदैव हास्य प्रस्तुत करेगी जो बार-बार हमारा ध्यान आत्मा से हटा कर पार्थिव शरीर पर एकाग्र किया करेगी। आध्यात्म पर आवेश-पूर्ण वक्तृता देते हुये सज्जन एकाएक छींक बैठते हैं और दर्शक-वर्ग खिलखिला उठते हैं। गिर्जे के अन्दर प्रधान पादरी ईश्वर का स्वरूप समझाने के लिये अत्यन्त भावपूर्ण भाषा में कहते हैं कि—'परमपिता परमात्मा ने हज़रत मूसा को अपने सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दी और स्वर्गीय स्वरों में आदेश दिया'... और इतने ही में...बाहर सड़क से ज़ोर से आवाज़ आती है—"ले ताज़ी भुनी मूंगफली!" कहाँ तो आध्यात्म का विवेचन और कहाँ मूंगफली समान पार्थिव जगत की वस्तु का विक्रय! हास्य प्रस्तुत होना अनिवार्य होगा। अज़ान लगाते समय मुल्ला के नक़ली दांत गिरकर लुढ़कते हुये सड़क पर खोंमचेवाले के कचालू पर जा पड़ते हैं और आरती के समय पुजारी की धोती पांव में फँस कर उन्हें दण्डवत् करा देती है। इन सब परिस्थितियों में हास्य का प्रस्फुटन अवश्यमेव इसीलिये होगा कि आध्यात्मिक वातावरण से हम एकाएक पार्थिव वातावरण में आ पहुँचते हैं। आत्मिक जगत पर,

पार्थिवता का बोझ सतत हास्य की सृष्टि करेगा। अत्यधिक स्थूल-काय पादरी, पंडित तथा मुल्ला हमें अपने सूक्ष्म आध्यात्मवादी जीवन की ओर आकर्षित न कर अपने पार्थिव शरीर की ओर ही पहले हमें आकर्षित करते हैं और हास्य की सहज सृष्टि होती चलती है। यही कारण है कि दुःखान्तकी[1] के नायक, रंगमंच पर, न तो भोजन करते हैं और न जलपान ही करते हुये प्रदर्शित किये जाते हैं। उनके आत्मिक जीवन से संबंधित दुःखान्तकी जहाँ उनकी पार्थिव आवश्यकताओं को सम्मुख लायेगी अपने गम्भीर स्तर से गिर कर सुखान्तकी अथवा प्रहसन-क्षेत्र में पदार्पण करने लगेगी। प्रायः दुःखान्तकी के नायक यथासंभव बैठते भी कम हैं क्योंकि उनका बैठ जाना हमारा ध्यान उनके शरीर की ओर एकाग्र करेगा और गंभीर वातावरण को क्षति पहुंचेगी। जब दुःखान्तकी का नायक अपनी प्रेयसी के सम्मुख अपनी वीरता, अपने त्याग, अपने अमर प्रेम की प्रशंसा करते हुये एकाएक अपनी पीठ खुजलाने लगता है तो हास्य का प्रस्फुटन होने लगता है। शारीरिक पार्थिवता तथा आत्मिक सूक्ष्मता के द्वन्द्व स्वरूप हास्य सतत प्रस्तुत होगा।

कुछ ऐसे साधारण व्यवसाय भी हैं जिन्हें हास्य की आत्मा सदा-हास्य प्रस्तुत करने की प्रेरणा दिया करती है। वकील, डाक्टर, शिक्षक, धर्म-प्रचारक सभी यथासंभव हास्य प्रस्तुत किया करते हैं और यह तभी होता है जब हम उनके व्यवसाय के सूक्ष्म तथा अमूर्त तत्वों को भुला कर उस व्यवसाय के वाह्य आकार पर ही अपनी दृष्टि लगाये रखते हैं। अमूर्त तत्व सजीव होंगे; वाह्य आकार जड़वत्। फलतः वकील की वेषभूषा; धर्म-प्रचारक की सज-धज, डाक्टर की भाव-भंगी, जिनका उनके आन्तरिक जीवन से संबंध नहीं अपने वाह्य-रूप में मशीन समान एवं जड़वत् ज्ञात होंगी और हास्य प्रदर्शित करेंगी। एकांगी रूप में सोचने के फलस्वरूप मानव मस्तिष्क, जड़वत् होने के कारण शरीर, पार्थिवता का बोझ संभालती हुई हमारी आत्मिकता यथास्थान हास्य का प्रसार करेगी।

साहित्य रचना क्षेत्र में, लेखक जब हास्य का प्रसार करना चाहते हैं तो कभी-कभी चुटकुलों तथा हास्य-पूर्ण घटनाओं की कल्पना कर लेते हैं। यह कार्य है तो सरल परन्तु यह आवश्यक है कि चुटकुले ऐसे हों जो मनगढ़न्त होते हुये भी सत्यता का थोड़ा बहुत संकेत अवश्य दें। वे ग्राह्य हो; वे किसी दृष्टिकोण विशेष के परिचायक हों अथवा हास्यपूर्ण घटना सेउ नका आन्तरिक

१. देखिये 'नाटक की परख'

संबंध हो। प्रायः बहुत से हास्य-प्रद स्थल अथवा कहावतें किसी सिद्धान्त विशेष के अन्तर्गत न आयेंगी और उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कठिन ही नहीं वरन असंभव होगा। परन्तु यह सही है कि उनका सफल प्रकाश तभी होगा जब वे एक या अनेक घटनाओं अथवा स्थलों की ओर संकेत देती चलें और वे ऐसी हों जिनसे हम सब परिचित हों। किसी भीमकाय व्यक्ति को छोटे बालक जब 'जै हनुमान' कह कर संबोधित करते हैं और ज्यों-ज्यों हम उस व्यक्ति विशेष के नाक, कान, गर्दन, आँख चाल-ढाल में उस उपमा का संकेत पाते चलते हैं त्यों-त्यों हास्य की भावना तीव्र होती रहती है। जब मोटा बन्दर अपनी प्रेयसी के सिर से चीलर बीन कर अपनी नन्ही उँगलियों पर कुटुक देता है तो हमें बरबस हँसी इसीलिये आती है कि यह स्थल विशेष अनेक समरूप मानवी कार्यों का स्मरण कराता है। वास्तव में हास्य की आत्मा अत्यन्त व्यापक है और वह समाज के क्षेत्र में ही अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित होती है।

प्रकरण—७

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हम यह सहज ही कह सकते हैं कि जिस किसी आनन्द की अनुभूति हमें होती है उसका मूल-स्रोत हमारे स्मृतिकोष में छिपा रहता है; और यदि हम अपने आनन्दानुभूति के क्षणों का विश्लेषण करें तो उसमें बिरले ही ऐसे निकलेंगे जिनका संबंध हमारे स्मृति-भाण्डार से न हो। प्रायः आनन्दानुभूति के क्षण स्मृति-रूप में ही प्रदर्शित होंगे। परन्तु उनकी एक विशेषता यह होगी कि उनमें कुछ न कुछ मात्रा में हमारे शैशव-काल की स्मृति अवश्य प्रस्तुत रहेगी। जब हम युवावस्था पार कर चौथेपन में पदार्पण करते हैं तो उस समय से हमारे आनन्दानुभूति के नवीन क्षणलुप्त-प्राय हो जाते हैं; प्रायः पुरानी बाल्यावस्था की अनुभूतियाँ ही फिर-फिर कर आती हैं और हमें नवीन अनुभव नहीं होते। उस काल की आनन्दमयी अनुभूतियाँ समयानुसार आ-आ कर हमें अपनी झलक दिखा जाती हैं और हम उन्हीं मधुर स्मृतियों को बार-बार दुहराना चाहते हैं। यदि ऐसा हो सकता कि अपनी आनन्दानुभूति से हम स्मृति-तत्व को निकाल सकते तो कदाचित कुछ भी शेष न बचता; हमारे आनन्द थोथे होते! परन्तु इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि हमारे जीवन की चारो अवस्थाओं में कोई पृथकत्व नहीं। सब एक ही व्यवस्था के अंग हैं। बाल्यकाल सहज ही युवावस्था में परिणत हो हमें प्रौढ़ बनाता हुआ वृद्धावस्था पर आसीन कर देता है और युवा तथा प्रौढ़ को प्रायः वे ही वस्तुयें स्वभावतः, आनन्द देती हैं जिनका आनन्द वह बाल्यकाल में उठा चुका है; बुड्ढे दादा छोटे बालक के लिये घोड़ा बनने में कहीं अधिक आनन्द पायेंगे।

मानवी परिस्थिति

मूलतः हास्यपूर्ण नाटक तथा सुखान्तकी भी एक प्रकार के खेल-स्वरूप हैं जिनमें हम जीवन का अनुकरण देखेंगे। जिस प्रकार छोटे बालक अपने खिलौनों तथा गुड्डे-गुड़ियों से खेलते हैं और उन्हें मनोनुकूल हँसाया, रुलाया करते हैं उसी प्रकार सुखान्तकी की आत्मा भी घटनाओं को एकत्र कर, हमें बालकों समान हँसाती, रुलाती रहती है। जीवन की अनेक हास्यपूर्ण घटनायें, खिलौने का रूप धारण कर, सुखान्तकी की आत्मा द्वारा कठपुतली का नाच नाचा करती हैं। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों उसकी दृष्टि में

उसके खिलौने भी बड़े होते जाते हैं ; उनमें नवीन रूप से जीवन का संचार होता है और यद्यपि वे खिलौने रहते तो खिलौने ही हैं मगर वे बालक के लिये सजीव-मूर्तियों के समान हो जाते हैं। बालक उन्हें नव-जीवन दिया करता है। यही हास्य-पूर्ण नाटकों के पात्रों के जन्म का मूल स्रोत है। सुखान्तकी के पात्र प्रवृत्ति-विशेष अथवा चरित्र-विशेष के ही प्रतिनिधि होंगे। साधारणतः उन मानवी कार्यों अथवा घटनाओं के सहज एकत्रीकरण में सुखान्तकी की आत्मा निहित रहेगी जो यथार्थ जीवन का भ्रम-जाल प्रस्तुत करते हुये पात्रों के जड़वत् होने का आभास देती रहेगी। इस सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन कुछ वास्तविक उदाहरणों के आधार पर सम्भव होगा।

अपने बाल्य-काल में सबने जापानी बबुओं से बहुत खेला होगा। वह बबुआ अत्यन्त चमत्कारी था। उसे हम जितना ही गिराने की कोशिश करते वह चुपचाप उठ बैठता। हमारी मार का उस पर कोई प्रभाव ही नहीं होता ; उसे लिटाते, वह उठ बैठता ; उसे गिराते वह पुनः उठ बैठता ; उसे कस कर नीचे दबाते परन्तु छोड़ते ही वह उछल कर अपने पुराने स्थान पर आ खड़ा होता। हम जितना ही अधिक ज़ोर लगाते वह उसी ज़ोर के साथ उछलता हुआ अपने स्थान पर आ लगता। इस प्रकार के बबुये से प्रायः सभी देशों के बालकों ने अपने बाल्यकाल में खेला है, जिसमें दो विपरीत शक्तियों का द्वन्द्व सहज ही प्रदर्शित है और इसमें निहित सिद्धान्त के आधार पर अनेक हास्य-पूर्ण पात्रों का निर्माण, प्रहसन लेखकों ने, सफलतापूर्वक किया है। बिल्ली तथा चूहे का खेल भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रदर्शित होगा ; मृत्यु का ग्रास बनाने के पहले बिल्ली चूहे को उछालती है ; उससे खेलती है। चूहा भी उछलता है, धराशायी होता है, फिर उछलता है। रंग-मंच पर, शराब के नशे में चूर व्यक्ति तथा पुलिसमैन दोनों की मारपीट भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्यपूर्ण प्रतीत होगी। शराबी पर मार पड़ती है और फिर वह अपनी जगह आ खड़ा होता है; ऐसा लगता है मानों उसके शरीर में कोई ऐसी मशीन लगी है जो उसे बार-बार उछालती है और वह जितना भी ज़ोर लगाता है उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह पुनः उतने ही ज़ोर से उठ बैठता है। दो समान शक्तियों की द्वन्द्वपूर्ण प्रतिक्रिया में हास्य की आत्मा सहज ही निहित रहेगी ; और इस द्वन्द्व की पुनरावृत्ति के ही कारण सफल हास्य प्रस्तुत होगा। प्राचीन युग के लेखकों ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अनेक हास्यपूर्ण नाटकों की रचना की है। मानवी कार्यों की जड़वत् पुनरावृत्ति हास्य क्यों प्रस्तुत करती है उसका रहस्य अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका। परिभाषायें भी बहुत सी

बनी ; विश्लेषण भी बहुत व्यापक रूप में हुये परन्तु इसका ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक कारण ज्ञात नहीं हो सका। पुनरावृत्ति द्वारा हास्य के प्रसार में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि स्वतः पुनरावृत्ति द्वारा हास्य नहीं प्रस्तुत होता; हास्य इसलिये प्रस्तुत होता है कि वह कुछ विशेष नैतिक तत्वों का प्रतीक रहती है और उसके प्रदर्शन के फलस्वरूप हास्य का प्रसार करती है। हास्यास्पद व्यक्ति, समय-असमय कुछ विशेष शब्दावली का प्रयोग बार-बार किया करते हैं और उसके फलस्वरूप हमें उनके जड़वत् होने की भावना तीव्र होती रहती है और हम हँसते रहते हैं। वे व्यक्ति न होकर प्रवृत्ति विशेष के प्रतिनिधि मात्र हो जाते हैं।

कभी-कभी ऐसे दृश्यों द्वारा भी हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है जहाँ एक ही पात्र दो पात्रों का कार्य सम्पन्न करता है। प्रायः यह आन्तरिक द्वन्द्व[1] के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकेगा। एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में अशिष्ट तथा शिष्ट व्यक्ति का आचरण निहित रखता है; दूसरा अपने व्यक्तित्व में कृपण तथा समाजसेवी की प्रवृत्ति छिपाये रखता है; तीसरा आदर्शवाद की दुहाई देता हुआ समस्त संसारी कार्यों की प्रायोगिकता अपने चरित्र में सुरक्षित रखता है। इस प्रकार के व्यक्ति भी साधारणतः हास्य-प्रधान नाटकों में पात्र-रूप प्रयुक्त हुये हैं। और सूक्ष्म रूप से देखने पर यह स्वतः स्पष्ट होजायगा कि उपरोक्त परिस्थितियों पर जापानी बबुए वाला सिद्धान्त ही आरोपित होगा। कृपणता तथा समाज-सेवी-प्रवृत्ति दोनों की लाग-डाट रहेगी, एक दूसरे का विरोध करेगा; द्वन्द्व प्रस्तुत करेगा। कभी कृपणता बाज़ी ले जायगी और तत्काल ही समाजसेवी भावना उभर आयेगी; आदर्शवाद तथा प्रायोगिकता पुलीस तथा शराबी के समान एक दूसरे को गिराते-पड़ाते रहेंगे। जितनी शक्ति से एक भावना अपनी आवाज़ ऊँची करेगी उतनी ही तीव्र शक्ति द्वारा दूसरी भावना उसकी प्रति-क्रिया प्रस्तुत करेगी और हास्य का प्रकाश सहज ही हुआ करेगा। यह इसीलिये होगा कि सजीवता जड़वत होने का भ्रम प्रस्तुत करेगी। हास्य की आत्मा, जड़वत पार्थिवता को नैतिकता में परिणति करने का प्रयास करती हुई हास्य की सृष्टि करती चलेगी।

नाटक-कारों ने कठपुतली के नाच में निहित उपरोक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भी अनेक हास्यास्पद पात्रों की सृष्टि कर सफल हास्य प्रस्तुत किया है। बालक जब कठपुतली में लगी हुई डोरी का मनोनुकूल संचालन

---

१. देखिये—'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड

करता है तो उसी के मनोनुकूल कठपुतली, सलाम करती है, ताली बजाती है, नाचती है। कठपुतली यह समझने के लिये स्वतन्त्र है कि वह किसी के हाथों की कठपुतली नहीं और वह अपनी स्वेच्छा से सलाम करती है; ताली बजाती है; नृत्य करती है। इसी प्रकार अनेक हास्य-प्रधान नाटक ऐसे भी हो सकते हैं जहाँ पात्र यह समझते हैं कि वे अपनी स्वेच्छा से कार्य कर रहे हैं परन्तु वस्तुतः होते वे किसी दूसरे की हाथ की कठपुतली ही हैं। दो विपरीत परि-स्थितियों में पड़ कर पात्र कभी एक ऐसी कहता है और कभी दूसरे जैसी और दोनों हास्यास्पद परिस्थितियों से अनभिज्ञ रहता है। दरबारी दृश्यों के पात्रों में यह सत्य सहज ही दृष्टिगत होगा क्यों कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन में जो कुछ भी हमने महत्वपूर्ण समझ कर हृदयंगम किया, जो कुछ भी श्रेष्ठ आचार-विचार अपनाये अथवा जो भी गंभीर प्रश्नों का हल ढूंढा उनका मूल-स्रोत हमारी मानसिक स्वतन्त्रता में ही था। स्वतन्त्र आत्मा ने ही जीवन को गुरुता प्रदान की है; उसको श्रेष्ठ बनाया है। और यदि थोड़ी देर के लिये हम यह समझने लगें कि हमारी स्वतन्त्रता तो भ्रम-मात्र थी; हम तो भाग्य के हाथ की कठपुतली मात्र थे तो समस्त कार्य-शैली सहज ही हास्यास्पद हो जायगी। जीवन की शायद ही कोई ऐसी गुरुतापूर्ण भावना हो हास्यास्पद न बनाई जा सके!

बाल्य-काल में खेले हुये कुछ खेल विशेष के फलस्वरूप भी जो हास्य प्रस्तुत होता है उसके अन्य उदाहरण भी हास्य की आत्मा को समझने में फलप्रद होंगे। जैसा कि हम कह चुके हैं बाल्यावस्था की स्मृतियों में ही हास्य का अक्षय कोष प्रस्तुत रहेगा। शिशिर ऋतु में, हमने पहाड़ों पर बर्फ़ से खेलते हुये बालकों को देखा होगा। वे बर्फ़ का एक छोटा सा गेंद बनाते हैं और थोड़ी देर उसे बर्फ़ पर ढुलकाते रहते हैं और जब वह अपने चारो ओर बर्फ़ लपेट कर और बड़ा हो जाता है तो उसे एक बड़े बर्फ़ के चौकोर ढेर पर रख देते हैं। थोड़ी ही देर में मनुष्य की आकृति उसमें बनाई जाने लगती है: बर्फ़ के हाथ, पैर और बर्फ़ का ही धड़। उँगलियाँ गड़ा कर उसकी आँख और थोड़ी बर्फ़ और जमाकर उसकी नाक निर्मित कर दी जाती है और धीरे धीरे मनुष्य का विशाल आकार सम्मुख खड़ा हो जाता है और उसे देखते ही सब बालक खिलखिला कर हँसने लगते हैं। इस हास्य का कारण भी वही बाल्या-वस्था का स्मृति-कोष होगा जो अपने में धीरे-धीरे बढ़ते हुये मनुष्य की आकृति छिपाये रखती है और जब हम मशीन समान उस मनुष्य का निर्माण कर लेते हैं तो वह हास्य प्रस्तुत करने लगता है। जब हम बड़े हो जाते हैं

तब भी एक सम्पूर्ण चित्र के समान हमारी बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक की प्रगति की स्मृति हममें सुरक्षित रहती है और उसी प्रगति का बाह्य तथा जड़वत् अनुकरण हमें हँसी लाता रहता है। उसी प्रकार एक पंक्ति में सजे हुये खिलौने जब एक के बाद एक गिरने लगते हैं तब भी हमें हँसी आती है। कभी-कभी एक यात्री दूसरे से झगड़ता है, दूसरा तीसरे से और तीसरा चौथे से और धीरे-धीरे शोर का ज़ोर बढ़ जाता है और हमें हँसी अनायास आ जाती है। प्रायः यह भी हुआ है कि रात में आए किसी अतिथि के बिस्तर पर ठोकर खाकर नौकर गिरता है, फिर मोटी मालकिन गिरती है, तत्पश्चात् अतिथि स्वयं उन पर लुढ़क पड़ता है। इन परिस्थितियों में भी हँसी इसी कारण आती है कि हमारे मस्तिष्क में अंकगणित के गिनती के सिद्धान्त अमूर्त रूप में स्थित रहते हैं; और जब कोई एक कार्य इसी सिद्धान्त पर आधारित रहकर, धीरे-धीरे गतिशील होकर, एक ऐसा फल दृष्टिगत कर देता है जो अनिवार्य तो है परन्तु उसकी प्रतीक्षा हमें कल्पना में भी न थी तो हास्य प्रस्तुत हो जाता है। पहले खिलौने ने दूसरे को गिराया; हमें यह आशा न थी कि हाथी भी अन्त में गिर जायगा और धीरे-धीरे अंकगणित की गिनती समान सभी खिलौने गिरते हुये, हाथी को भी धराशायी कर, ऐसा फल दृष्टिगत कराते हैं जो अनिवार्य होते हुये भी अनपेक्षित था। प्रहसनों में, इस सिद्धान्त पर आधारित अनेक हास्यपूर्ण दृश्य मिलेंगे। बैठक में चाय के बर्तन लाते हुये नौकर के सिर पर, पास में खेलते हुये बालक का गेंद एकाएक गिरता है; उसके हाथ से केतली छूट कर सड़क पर जाती है; सड़क पर गिरते-गिरते वह एक दही-बेचने वाले की हाँडी से टकराती है और सारा दही पास से निकलती हुयी बारात पर गिर पड़ता है और उसका अधिक भाग दूल्हे के मुँह पर लिपट जाता है; और ज्यों ज्यों वह उसे पोंछने की कोशिश करता है उसमें और भी सनता जाता है। इस हास्य-पूर्ण परिस्थिति का आधार भी वही पुराना है; और इसीलिये हास्य की सृष्टि भी अनिवार्य रूप में होगी।

उपरोक्त विवेचित हास्य-सिद्धान्त के अधार पर, जैसा हम कह चुके हैं, नाटककारों ने अनेक रूप में हास्य-प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है और यह सिद्धान्त अनेक श्रेष्ठ विचारकों तथा दर्शनज्ञों को भी मान्य रहा है। इसी दृष्टिकोण को प्रधानत्व देकर उन्होंने हास्य की परिभाषा भी बनाई है। 'किसी भी मानवी प्रयत्न की अनपेक्षित तथा सहसा विफलता में हास्य निहित है'।[1]

---

१. कौंट।

'हास्य इस प्रयत्न का संकेत हैं जो एकाएक विफलता का द्योतक है।'[1] कदाचित इन दोनों परिभाषाओं से यह भ्रामक अर्थ निकल सकता है कि कार्य और उसके फल के असंतुलित होने के कारण ही हास्य प्रस्तुत होगा। ऐसा नहीं है। हास्य तो तभी प्रस्तुत होगा जब इस कार्य-कारण संबंध की भूमिका में हमें उसी पुराने सिद्धान्त का दर्शन होगा जिसे हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं। जीवन-क्षेत्र में जड़वत् कार्यों की पुनरावृति का सिद्धान्त यहाँ भी दृष्टिगत होगा; कार्य-कारण संबंध उसकी भूमिका मात्र हैं। हम इस जड़वत् व्यवस्था को देखते ही इसलिये हँसते हैं कि हमें यह आभास मिलता है कि चेतनापूर्ण जीवन की गति पर कोई जड़वत् व्यवस्था आरोपित कर दी गई है और कदाचित जीवन की चेतना (मनुष्य के समान) विस्मरणशील हो गई है। यदि ऐसे कार्य, जिन पर हम हँसते हैं, निरंतर सचेत रह कर अपनी प्रगति तथा पूर्ति करते रहते, तो न तो उनमें अनुरूपता आती न विफलता होती। यदि एक पंक्ति में खड़ा हुआ सैनिक-रूप खिलौना यह जान लेता कि उसके पीछे दूसरा सैनिक खड़ा है और दूसरा यह जान लेता कि उसके पीछे घोड़ा खड़ा है और घोड़ा यह भलीभांति समझ लेता कि उसके पीछे हाथी ध्यानमग्न है तो इनमें से एक भी एक दूसरे पर न गिरता और हाथी भी धराशायी न होता। पूरा खिलौना-वर्ग एक दूसरे का ध्यान रखता; जड़वत् होने की भावना उत्पन्न न होती; फलतः हास्य प्रस्तुत न होता। मगर खिलौनों की पंक्ति ने निश्चय रूप से यह प्रदर्शित कर दिया कि कठपुतली समान वे सब किसी वाह्य शक्ति से परिचालित हैं; उन सब में कोई उन्हें उछालने और लुढ़काने वाली मशीन सी लगी है। हास्य का प्रादुर्भाव इसलिये हुआ कि व्यक्ति विशेष (अथवा खिलौने विशेष) ने जड़वत वस्तु के अनुरूप कार्य किया। उसमें न तो चेतना थी और न वांछित सजीवता; और न मानवी गति और न सतर्कता। यह एक प्रकार का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक दोष था जिसका निराकरण आवश्यक था और शीघ्र होना भी चाहिये था। यह हास्य द्वारा ही संभव होगा जो स्वतः प्रस्तुत हो जाता है। हास्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक विस्मरणशीलता द्वारा प्रस्तुत होकर, जीवन का परिष्कार किया करता है।

इस तथ्य को भली भाँति समझने के लिये हमें जीवन तथा उसकी गति पर दर्शनज्ञ की तरह विचार करना होगा। समय के क्षेत्र में विकास अथवा स्वप्रगति का नाम जीवन है; इसके अन्तर्गत हमें सदा अवस्था की प्रगति दृष्टिगत होती रहती है जो न तो कभी स्थायी रहती है और न कभी पीछे ही

---

१. हर्बर्ट स्पेंसर।

क़दम उठाती है। वह सतत आगे बढ़ेगी इसके साथ-साथ वहां पुनरावृत्ति के दर्शन कभी नहीं होंगे; प्रगति में पुनरावृत्ति कहां ! पार्थिव एवं भौतिक दृष्टि से जीवन अनेक सहवर्ती तत्वों की समष्टि ही होगा। ये तत्व अन्योन्याश्रित और एक दूसरे में संलग्न होंगे और उनमें किसी भी रूप में पृथकत्व लाना संभव न होगा। इसके साथ-साथ तत्व विशेष अपनी विशेष परिधि मे ही रहेगा वह दूसरे तत्व-विशेष की परिधि में न तो जायगा और न इस अनाधिकार चेष्टा की प्रवृत्ति ही उसमें होगी। वह दूसरे तत्वों के कार्य में हस्तक्षेप कभी नहीं करेगा; उसका केवल यही आग्रह रहेगा वह अपनी परिधि में रहे और अन्य तत्व-विशेष भी उसे उसी परिधि में रहने दें और हस्तक्षेप न करें। इस दृष्टि से जीवन की विकासपूर्ण परिवर्त्तन की चेष्टा; घटना-क्रम की अनिवार्यता; तथा तत्व-विशेष का मर्यादित स्थान—ऐसे तत्व हैं जो जीवन को जड़-जगत से पृथक रखते हैं। परन्तु जहाँ हमें विकासपूर्ण परिवर्त्तन की चेष्टा के स्थान पर जड़ता, स्थायित्व और पुनरावृत्ति की भावना; घटना-क्रम की अनिवार्यता के स्थान पर व्यतिरेक अथवा व्युत्क्रम और तत्व-विशेष के अमर्यादित कार्य के दर्शन होंगे वहाँ हास्य की सहज सृष्टि होगी।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि घटनाओं का संयोग, अपने मूल-रूप में, अनेक बार अपनी पुनरावृत्ति करने लगता है। जहाँ उनका क्रमिक विकास होना चाहिये वहाँ उनकी पुनरावृत्ति दिखाई देगी और जीवन की परिवर्त्तन-शीलता एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास प्रस्तुत करने लगेगी। ऐसी परिस्थिति में हास्य की अवश्य सृष्टि होगी। हमें यदि कोई अपना पुराना मित्र रास्ते में मिल जाता है तो हम उससे कुशल-क्षेम पूछते हैं और फिर मिलने का आग्रह करते हैं; और यदि वही मित्र उस दिन दस बार बाज़ार में मिलता है तो हमें अनायास हँसी आ जाती है। इसका कारण यही है कि अनुरूपता अनेक बार प्रदर्शित हुई। और नाटकीय-क्षेत्र में तो यह अनुरूपता जितने अधिक स्वाभाविक अथवा जटिल रूप में तथा पुनरावृत्ति के साथ प्रदर्शित होगी, हास्यप्रद होगी। अनेक काल्पनिक घटनायें हम ऐसी सोच सकते हैं, जो जीवन की यथार्थता का भ्रम विद्यमान रखें और साथ-साथ पात्र के कार्य अथवा दृश्य-विशेष की पुनरावृत्ति होती जाय। आधुनिक प्रहसन लेखकों ने इस सिद्धान्त को अनेक रूप में प्रयुक्त कर हास्य का निर्माण किया है। उन्होंने, प्रायः एक पात्र समूह को बार-बार परिवर्त्तित वातावरण तथा परिवर्तित घटनाचक्र में उलझा कर अनेक दृश्यों में हास्य का सफल प्रदर्शन किया है।

व्यतिरेक तथा व्युत्क्रम द्वारा तो हमें पग-पग पर हास्य प्रदर्शित मिलेगा।

ज्योंही हम उन घटनाओं की कल्पना करेंगे जो उलट-पलट दी जायँ और ऐसे पात्रों पर ध्यान रखें जो उल्टा कार्य करें त्योंही अनेक हास्यपूर्ण परिस्थितियाँ सम्मुख आ जायँगी। पति-पूजा में संलग्न कर्कशा स्त्री; गुरु को पढ़ाता हुआ बालक; एक की गिरह काटता हुआ दूसरा गिरहकट; अपने द्वारा बनाये हुये चक्र में फँसता हुआ पाखण्डी इत्यादि अनेक परिस्थितियाँ सोची जा सकती हैं जो सफल हास्य प्रस्तुत करेंगी।

प्रायः ऐसी घटनाएँ भी हास्य का प्रसार करने लगती हैं जो एक साथ ही किसी दो विभिन्न तथा स्वतन्त्र घटना-समूहों से संलग्न हो जाती हैं और उस विभिन्नता के कारण विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन एक साथ करने लगती हैं। प्रायः संदिग्ध घटनाओं के दो अर्थ रहेंगे—एक तो वास्तविक और दूसरा संभाविक। हम तो वास्तविक अर्थ जानते हैं; परन्तु पात्र-विशेष को तो एक ही अर्थ ज्ञात है इसलिये वह भूल करता है; उसका निर्णय हास्यप्रद होता है। कुछ दर्शनज्ञों ने इसी आधार पर हास्य की दूसरी परिभाषा नवीन रूप में बनाई है; 'दो विभिन्न परिस्थितिओं के द्वन्द्व अथवा अनुरूपता के फलस्वरूप विभिन्नार्थ द्वारा हास्य रस की सृष्टि होती है।' फलतः नाटककारों ने प्राचीन पर आधुनिक विचारों का आरोप कर अथवा आधुनिक विचारों पर प्राचीन का आरोप कर अनेक कल्पनात्मक परिस्थितियाँ सोच निकाली हैं जिनसे हास्य प्रस्तुत किया जा सकेगा। हिन्दी प्रहसनों में विशेषतः नई रोशनी की बहू तथा प्राचीन रूढ़िवादी सास के हास्यप्रद झगड़े इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य का प्रसार करेंगे।

साधारणतया पाठक वर्ग का यह अधिकारपूर्ण आग्रह रहा करता है कि उन्हें प्रत्येक देश के हास्य और उसके आधारों का परिचय दिया जाय और हो सके तो उदाहरणों का भी उनकी भाषा विशेष में अनुवाद हो जाय। यह आग्रह न्याय-संगत तो है परन्तु इसमें कठिनाइयाँ भी कम नहीं। प्रत्येक देश के हास्य के उदाहरणों का अनुवाद हो तो जायगा परन्तु जैसा हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं उसके बहुत कुछ अर्थ लुप्त हो जायँगे। प्रत्येक देश के समाज, उसकी रूप-रेखा, उसकी आत्मा, और उसके आचार विचार, सब में बहुत विभिन्नता रहती है और एक देश का हास्य दूसरे देश में जाते-जाते अपनी बहुत कुछ शक्ति खो देगा। अनुवादक चाहे कितना भी विद्वान तथा सिद्ध-हस्त क्यों न हो एक देश का हास्य दूसरे देश की भाषा में अनूदित होते ही अपना बहुत कुछ सौन्दर्य और अपनी बहुत कुछ तीव्रता खो देता है। इसका

मानवी भाषा: वक्रोक्ति

कारण है भाषा की विशेषता तथा शब्दों का विशेष अर्थ। यह तो स्पष्ट ही है कि हास्य भाषा के माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकेगा। वह वाक्यों पर, वाक्य-विन्यास पर तथा शब्दों के चुनाव पर ही निर्भर रहेगा। जैसा हम प्रमाणित कर चुके हैं, भाषा के प्रयोग विशेष द्वारा अथवा भाषा की भूल द्वारा बहुधा हास्य की सफल सृष्टि है। हमें अनेक कहावतें भी हास्य-प्रद ज्ञात होंगी और हम सहज ही यह न कह सकें कि वहाँ हास्य का कारण क्या है। हाँ, हमें यह अस्पष्ट रूप में आभास मिलता रहेगा कि कोई व्यक्ति विशेष ही येह कहावत कहकर हमें हँसाने का प्रयत्न कर रहा है।

पाठकों के लिये वे ही शब्द हास्य-पूर्ण होंगे और हम प्रायः उस व्यक्ति पर ही हँसेगे जिसने उनका प्रयोग किया होगा। वक्रोक्ति के प्रयोग पर या तो हम किसी दूसरे व्यक्ति अथवा अपने पर हँसेगे; परन्तु अनेक उदाहरणों के अध्ययन पश्चात् यह कहना कठिन होगा कि हम वास्तव में किस पर हँस रहे हैं। हम केवल यही कह पायेंगे कि हास्य प्रस्तुत तो हुआ ; परंतु उसका शिकार कौन था ? कौन जाने। प्रायः वक्रोक्ति का विश्लेषण नहीं हो सकेगा और यदि हम उसका विश्लेषण करेंगे तो संभव है कि हमारे कुछ हाथ लगे ही नहीं। इसका कारण यह है कि वक्रोक्ति का प्रयोग नाटकीय रूप में होता है; वह अपने विचारों को चित्र अथवा प्रतीक रूप में नहीं देखता—वह उन्हें प्रत्यक्ष देखता है; उनकी वाणी सुनता है और उनसे उसी तरह संवाद करता है जैसे कोई दो व्यक्ति संवाद कर रहे हों। वह उन्हें नाटकीय रूप से प्रदर्शित करने के साथ स्वतः अपने भी उसी में घुला मिला रहता है। और इसीलिये जो मानवी-समाज वक्रोक्ति का बहुल प्रयोग करता है नाटक-प्रेमी होता है। रंग-मंच उसे विशेष रूप में प्रिय होगा। वक्रोक्ति-वक्ता में नाटककार की आत्मा अन्तर्हित रहती है।

जैसा कि हम पहले सिद्धान्त-रूप में कह चुके हैं कि जड़वत् आचरण, विस्मरण-शीलता इत्यादि ही हास्य के कारण-स्वरूप होंगे वही सिद्धान्त हम फल-प्रद रूप में भाषा द्वारा प्रस्तुत हास्य पर भी आरोपित कर सकेंगे। भाषा का प्रयोग भी तो जड़वत रूप में हो सकता है। वहाँ पर भी बने-बनाये वाक्यांश अथवा वाक्य रहते हैं जिनसे सजीवता कहीं दूर रहती है : वे इतने प्रयोग-ग्रस्त रहते हैं कि उनकी मार्मिकता उनसे दूर हो जाती है और जो भी व्यक्ति समय-असमय उनको प्रयुक्त करते रहते हैं हास्य का निर्माण करेंगे। कभी रूढ़िगत वाक्यों के बीच निरर्थक अथवा विपरीत अर्थ के शब्द-प्रयोग हास्यप्रद होंगे; कभी दो या तीन रूढ़िगत वाक्यों के असंबद्ध प्रयोग द्वारा

भी हास्य प्रस्तुत होगा और कभी शब्दार्थ अथवा लक्ष्यार्थ द्वारा हास्य की सृष्टि होगी। सड़कों पर बालकों के मुख से हम सुनते हैं कि—'खेलोगे-कूदोगे होगे नवाब : पढ़ोगे-लिखोगे होगे खराब'; अथवा 'ईश्वर ने आपकी नाक बहुत फुर्सत के साथ बनाई है'; अथवा 'आपकी पत्नी आपकी पूजा किस समय करती हैं ?' पूर्वोक्त सिद्धान्तों के क्रमशः उदाहरण रूप होंगे। वक्रोक्ति के उदाहरण तो हमें सतत संवाद में मिला करते हैं जो हास्य-पूर्ण होंगे। जब माता बालक से कहती है कि वह उसे कल मिठाई देगी तो बालक सहसा कह उठता है कि 'मा !' तुम्हीं ने तो सिखाया था कि 'काल करे सो आज कर'; अथवा अमेरिका के प्रेज़िडेन्ट ऐब्रहाम लिंकन का सुविख्यात संवाद—'क्या अपने जूतों पर आप स्वयं पालिश करते हैं ? जी हाँ ! आप किनके जूतों पर पालिश करते हैं ?' इन उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि जब हम किसी घटना को असाधारण दृष्टिकोण से देखते हैं; अथवा परिस्थिति उलट कर देखते हैं; अथवा दो परिस्थितियों को असंबद्ध रूप में जोड़ देते हैं तो हास्य का सहज प्रसार होने लगता है।

शब्दों अथवा वाक्यांशों के व्युत्क्रम अथवा उलट पलट देने अथवा दो विभिन्न वर्गों के विचारों को अन्योनाश्रित कर देने के फलस्वरूप भी सहज ही हास्य प्रस्तुत किया गया है और इसकी भी गणना वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही होगी। "क्या आप समझते हैं कि मैं एक मूर्ख के लिये रास्ते से हट जाऊँगा ? नहीं ! नहीं ! आप क्यों मैं ही हट जाता हूँ" अथवा "आपने मेरे सिर पर चपत क्यों मारी ?" भूल हुई क्षमा कीजियेगा ! बता दीजिये और कहाँ चपत रसीद करूँ" अथवा 'आपको मेरे पैरों को कुचलने का क्या अधिकार था ? आपके पैरों को मेरे पैरों तले आने का क्या अधिकार था।' इस प्रकार के अनेक उदाहरण इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हास्य का यह स्रोत अक्षय है और प्रायः सभी देश के वक्ताओं तथा लेखकों ने इसके द्वारा सफल हास्य प्रस्तुत किया है। कभी-कभी गम्भीर संदर्भ में तुच्छ अथवा अत्यन्त साधारण विचारों के प्रयोग द्वारा भी हास्य का सफल निर्माण हुआ है—"इस जीवन में कुछ कर न सका; रोटी चूल्हे पर धर न सका" 'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई'; जो देखा बाहर जाकर था खड़ा हुआ हलवाई"। इन उदाहरणों से यह भ्रामक विचार प्रस्तुत हो सकता है कि 'हास्य का प्रसार अधोगति की भावना द्वारा ही संभव होगा'[1]। फलतः हमें केवल वही वस्तु हास्यास्पद जान पड़ेगी जो पहले तो महत्वपूर्ण थी और बाद में अपनी समस्त गुरुता खो

१. ऐलेक्ज़ाण्डर बेन।

बैठी। जैसा कि हम अनेक सिद्धान्तों के प्रतिपादन द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं यह सिद्धान्त केवल एक विशेष प्रकार के ही हास्य का प्रस्फुटन करेगा।

लेखकों ने प्रायः अतिशयोक्ति द्वारा भी हास्य की सफल सृष्टि की है और उसके भी अनेक उदाहरण हमें प्रत्येक हास्य प्रसारक साहित्यकार की रचना में मिलेंगे; 'जोजन चार लौं जीभ निकारि कै सोखि लियो दधि की मटियारी'। कभी-कभी हीन अथवा निकृष्ट तथा साधारण विचार को गम्भीर भाषा तथा गुरुत्वपूर्ण शैली में व्यक्त करने के फल-स्वरूप हास्य का आविर्भाव हुआ है—

'जयति, जयति, हे! पदत्राण !!
जय हो! जय हो! हे महाप्राण!
चरणारविन्द रक्षक महान्!
कण्टकाकीर्ण मार्गों के तुम—
त्राता! भ्राता! माता सुजान!
जय पदत्राण !!!

शाब्दिक हास्य के अन्तर्गत व्यंग्य का भी विशेष महत्त्व रहेगा। प्रायः इच्छित कार्य की पूर्त्ति देखते हुये जब हम यह धारणा बनाने लगते हैं कि वही तो हो रहा है तभी व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण का जन्म होता है। और इसके विपरीत जब हम किसी होते हुये कार्य का विस्तृत वर्णन करते हुये यह धारणा बनाये रखते हैं कि यही तो इच्छित कार्य था तो परिहास का जन्म होता है। व्यंग्य तथा परिहास दोनों एक दूसरे की पूर्त्ति करते हैं परन्तु वस्तुतः परिहास व्यंग्य का ही अंग है। और दोनों की गणना उपहास के अन्तर्गत ही होगी। व्यंग्य, साधारणतः, वक्तृत्व से तथा परिहास वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संबंद्ध रहता है। व्यंग्य का प्रादुर्भाव तब होता है जब हम किसी शुभ विचार की प्रेरणा के बल पर उन्नत भावना धारण करेंगे जो आगे चल भव्य वक्तृता का रूप ग्रहण कर लेगी; परिहास का अविर्भाव तब होगा जब किसी प्रस्तुत दोष के अन्तरतम में पहुँच कर अत्यन्त निरपेक्ष रूप में हम उसके विस्तृत वर्णन का प्रयास करेंगे। परिहास स्वभावतः मूर्त्तता के क्षेत्र में ही विकास पावेगा। परिहासज्ञ अत्यन्त नैतिक व्यक्ति होगा; उसमें विज्ञानज्ञ की आत्मा छिपी होगी। और जब-जब वह नैतिक भावना विज्ञान क्षेत्र में लायेगा तब-तब परिहास प्रस्तुत होगा।

उपसंहार रूप में हम कह सकते हैं कि अनेक लेखकों ने घटनाओं, विचारों तथा वक्तव्यों और शब्दों तथा वाक्यों के व्युत्क्रम द्वारा हास्य प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। प्रायः पहले-पहल शब्दों द्वारा ही हास्य प्रस्तुत हुआ होगा और चरित्र में अन्तर्हित हास्य की सृष्टि सभ्यता के विकास के ही साथ-

साथ संभव हुई है। भाषा केवल इसीलिये हास्य प्रस्तुत करती है कि वह मानव का आविष्कार है; वह उसके जीवन से संबंधित है और उसकी रूपरेखा भी मानवी मस्तिष्क के आकार पर बनी है। उसमें हमारे जीवन का कुछ न कुछ अंश निहित है। यदि कहीं भाषा में आदर्श परिपक्वता होती, यदि वह साधारणतया जड़वत् अथवा अपूर्ण होने का आभास न देती और उसमें सर्वाङ्गीण पूर्णता होती तो कदाचित हास्य कदापि प्रस्तुत न होता। संसार में शायद ही ऐसी कोई सरिता हो जिस पर सूखे पत्ते पेड़ों से गिर-गिर कर विश्राम न करते हों उसी प्रकार शायद ही कोई मानवी आत्मा हो जिस पर (कुछ वाह्य कारणों से) जड़वत् कार्यों ने अपनी छाप न डाल ली हो; और जिसके फलस्वरूप आत्मा का बहुत कुछ अंश जड़वत् न हो गया हो। सक्षेप में, प्रायः, कोई भी भाषा इतनी सूक्ष्म, सजीव तथा गतिशील न होगी जिसके प्रत्येक भाग विभाग में जड़ता का आभास न मिले; जड़वत् अर्थ ग्रहण करने और उसी समान अर्थ प्रदर्शित करने की संभावना न हो। फलतः जड़ता तथा सजीवता; गतिशीलता तथा गतिहीनता, रूढ़ि तथा आधुनिकता एवं विस्मरण-शीलता के विरोधाभास द्वारा सतत हास्य का प्रस्फुटन होगा। इन्हीं मानवी दोषों का निराकरण हास्य द्वारा हुआ करता है। हास्य मानवी जीवन का संशोधक है।

प्रकरण—८

यदि हास्य को परिभाषित करने का आभार हम पर रखा जाय तो हम सहज रूप में यह कह सकते हैं कि जीवन के वैषम्य पर सुमधुर चिन्तन तथा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति ही हास्य का रूप लेगी।

हास्य-प्रदर्शन के अन्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त: वैषम्य-भावना

एक प्रसिद्ध दर्शन-वेत्ता[1] ने हास्य को परिभाषित करते हुये यह कहा था कि हमारे मानस में जब किसी मधुर प्रतीक्षा की विफलता का एकाएक अनुभव होता है तभी हास्य प्रस्फुटित होगा। एक श्रेष्ठ यूनानी आलोचक[2] के विचार के अनुसार हास्य-प्रद वही होगा जो कुरूपता का अंग होगा। परन्तु उसमें दुःख अथवा कष्ट की भावना किंचित मात्र भी नहीं होगी। स्पष्ट है कि इन परिभाषाओं की परिधि में हास्य की आत्मा को बन्दी कर देना सम्भव नहीं और न हास्य के किसी तत्व विशेष को ही ध्यान में रखकर समुचित परिभाषा बन सकेगी। हाँ केवल यह अवश्य सम्भव होगा कि उसके मूल तत्वों की ओर संकेत कर दिया जाय जिससे उसकी पहिचान सरलतापूर्वक हो सके। संक्षेप में हम अनेक उदाहरणों के आधार पर साधारणतया यह कह सकते हैं कि जीवन के वैषम्य की भावना का मधुर चिन्तन ही हास्य की अभिव्यक्ति का आधार रहेगा और कलारूप में वह शब्दों, चित्रों अथवा नाटकीय भाव-भंगी के द्वारा ही प्रस्तुत होगा।

जीवन-क्षेत्र के अनेक उदाहरणों से यह सहज ही प्रमाणित होगा कि वैषम्य अथवा विपरीतता की भावना ही मूलतः हास्य की जन्मदायिनी होगी। जहाँ कहीं भी विपरीत भावनाओं, विचारों अथवा घटनाओं का संयोग हमें मिलेगा हास्य प्रदर्शित होगा। भाषा-क्षेत्र में प्रायः श्लेष द्वारा प्रदर्शित हास्य का यही कारण है कि हमारे सम्मुख दो विरोधी अर्थ अथवा दो विरोधी विचार सहसा प्रस्तुत हो जाते हैं और हमें आनन्दित कर देते हैं। इस सिद्धान्तानुसार हम किसी धूर्त अथवा छद्मवेषी को भी देखकर हँसने लगते हैं; छद्मवेषी अपने मूल रूप का भी हमें स्मरण करायेगा; और धूर्त अपने साधारण मानवी रूप का विरोधाभास प्रस्तुत करेगा। विरोधाभास में हास्य की आत्मा निहित रहेगी। इसी सिद्धांत इसी

---

१. इमैन्युयेल कान्ट २. अरस्तू

के आधार पर हम केले के छिलके पर फिसलते हुये व्यक्ति को भी देख कर आनन्दित होंगे; फिसलता हुआ व्यक्ति आन-बान से चलते हुये व्यक्ति का प्रतिरूप है जो विरोधाभास प्रस्तुत कर हमें हँसा देता है। हम यह सोचने लगते हैं—'क्या यह वही व्यक्ति है जो बड़े गर्व से चल रहा था : अच्छा हुआ ! खूब गिरा !' इसी प्रकार जब कोई साधारण व्यक्ति अथवा घटना अथवा विचार अपने विरोधी अथवा असाधारण रूप में प्रस्तुत होने लगेगा तो हमें बरबस हँसी आ जायगी। हम साधारणता के इच्छुक रहते हैं; असाधारणता हमारी साधारण भावनाओं को ठेस लगायेगी। हमारे अनुभव भी साधारण जीवन से सम्बन्धित रहते हैं और असाधारण अनुभव हमें कुछ देर के लिये चिन्तित कर देते हैं। फलतः जो कुछ भी साधारण स्तर से ऊपर उठे अथवा नीचे गिरे हास्य प्रदर्शित करने में सहायक होगा। सामान्य जीवन-क्षेत्र जब असामान्य अथवा असाधारण घटनाएँ अथवा विचार प्रदर्शित करने लगेगा तो हास्य का प्रदर्शन भी अनिवार्य हो जायगा।

मानवचरित्र

साधारणतः यह देखा गया है कि समाज में, कुछ विशेष व्यक्तियों में कुछ न कुछ व्यक्तित्व की प्रभावपूर्णता स्पष्ट होती रहती है। अपने विशेष मानसिक दृष्टिकोण, भाव तथा भाषा-शैली इत्यादि के द्वारा वे अपने असाधारण व्यक्तित्व का परिचय देते रहते हैं। और जब कभी उनके व्यक्तित्व द्वारा हास्य का प्रदर्शन होता है तो वहाँ भी मानसिक असंगति, व्यवस्थाहीन घटनायें तथा विफल आशा स्पष्टतः दिखलाई दे जाती है। यही हास्य के मूल आधार भी हैं : वीरता और शौर्य पर वक्तृता देते हुए योद्धा, कुत्ते-बिल्ली की आवाज़ सुनते ही हथियार डाल कर भाग चलते हैं; छोटे बालक बड़े-बूढ़ों की शब्दावली प्रयुक्त करते हैं और उन्हीं की चाल चलते हैं; और लम्बे चौड़े व्यक्ति बालकों के स्वरों में बोलते हैं। ऐसे व्यक्ति, असंगतिवश, हास्य का सहज प्रसार करेंगे। व्यक्ति की वेशभूषा, चाल-ढाल, बातचीत, सम्पूर्ण व्यक्तित्व में हास्य का अक्षय कोष है।

यद्यपि आधुनिक—समाज में अनेक कारणवश वेश-भूषा, चाल-ढाल, वार्तालाप इत्यादि में समानता लाने का सफल प्रयास किया गया है परंतु फिर भी उस सार्वभौम समानता के पीछे असामान्यता अपनी झाँकी दिखला ही जाती है। सामाजिक व्यवहार की सामान्यता ने यद्यपि हमारे व्यक्तित्व पर अथक प्रहार किये परंतु व्यक्ति होने के नाते हमारे व्यक्तित्व की असाधारणता हमसे दूर नहीं हुई और इसीलिये सुखांतकीयों तथा प्रहसनों का

रंगस्थल अनेक हास्यपूर्ण पात्रों से आज तक भरापूरा है। उनके दर्शन हमें सभी स्थानों पर होंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मानवी-चरित्र में निहित हास्य का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव है? सच तो यह है कि वैज्ञानिक विश्लेषण जिस प्रकार सौंदर्यात्मक तत्वों के विवेचन में जितना विफल रहा है उतना ही मानवी चरित्र में निहित हास्य की आत्मा को परखने में भी विफल रहेगा। ज्योत्स्ना की मनमोहकता दूरवीक्षक यंत्र से नहीं अनुभव की जा सकेगी; और न वह यंत्र पुष्पों की मधुर सुगंधि का ही अनुभव करा सकेगा: परंतु इतना होते हुए भी आधुनिक काल का वैज्ञानिक दृष्टिकोण, साहित्यिक विवेचन का आभार समस्त आलोचकों पर रखता है। साधारण विवेचना के फलस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि प्रायः व्यक्तित्व की असंगति ही हास्य का मूल आधार रहेगी परंतु ध्यान रहे कि इस असंगति में क्लेश की भावना किंचित् मात्र भी नहीं होगी। मानवता और हास्य की आत्मा एकरूप है।

हास्य के विवेचन के संबंध में हम प्रायः यह भूल जाते हैं कि वहाँ एक ऐसा रहस्यपूर्ण तत्व भी है जो विवेचन और परिभाषा के परे है। यह रहस्यपूर्णतत्व है—वातावरण, जिसकी न तो परिभाषा सरल है और न जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण ही संभव होगा। साधारणतः जीवन के सभी व्यक्ति किसी न किसी विशेष वातावरण में अपना जीवन-यापन करते हैं और यह वातावरण उन पर अव्यक्त तथा अदृष्ट रूप में छाया रहता है। जिन सफल लेखकों[1] ने हास्यपूर्ण वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया है उनमें कुछ ने तो उच्च कोटि की सफलता पाई है। इसमें कदाचित संदेह नहीं कि सामंतवादी समाज ने ही वातावरण द्वारा प्रसूत हास्य के सफल उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। वीरता, शौर्य, आदर्शवादिता, आत्मसमर्पण इत्यादि की भावना आधुनिक यथार्थवादी समाज में न तो संभव है और न उसके द्वारा हास्य प्रसार ही संभव होगा। तोपों तथा मशीनगनों ने वीरता और शौर्य का स्थान ले लिया है; आदर्शवादिता केवल पुस्तकों की वस्तु रह गई है और आत्मत्याग की भावना के उदाहरण यथार्थवादी समाज में स्वप्नवत् होंगे। फलतः आज का साहित्यकार सामंतवादी काल के इस अक्षय भांडार का प्रेमी नहीं। आज का वातावरण, आज का मनुष्य और उस मनुष्य का दृष्टिकोण पुराने युग से कहीं भिन्न है; और जब तक हम उस सामंतवादी युग में अपनी कल्पना के सहारे नही जा पहुँचते हम उस युग के विशिष्ट हास्य की परख नहीं कर पायेंगे।

---

१. चार्ल्स डिकेंस; सर्वांटाज़।

इन हास्याधारों के अतिरिक्त अनेक सुखान्तकी लेखकों ने सामाजिक शिष्टाचार तथा सभ्यता के नाम पर व्यवहृत आचार-विचार के आधार पर श्रेष्ठ नाटकों की रचना की और सफलरूप में हास्य प्रस्तुत किया। उन्होंने न तो विदूषकों को प्रयुक्त किया और न हास्यप्रद घटनाओं के प्रयोग द्वारा हास्य का प्रदर्शन किया; उन्होंने किसी के वैयक्तिक दोष के अति के प्रदर्शन द्वारा भी हास्य प्रदर्शन का उद्योग नहीं किया; उन्होंने हास्य के अविरल स्रोतःमानवी स्थूलता का भी प्रयोग नहीं किया। उन्होंने सामाजिक व्यक्तियों के साधारण परंतु वैषम्यपूर्ण शिष्टाचार में ही हास्य की आत्मा के दर्शन किये और उसी के नाटकीय प्रयोग द्वारा सफल हास्य की सृष्टि की। मानव, प्रायः यह भूल जाता है कि वह संसार में नग्न अवस्था में ही आया, उसकी शैशवावस्था उसकी नग्नता की करुण कहानी सतत कहा करती है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है और समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों उसकी पुरानी स्मृति क्षीण होते-होते लुप्तप्रायः हो जाती है और मानव अपने को, शिष्टाचार का आवरण पहनाये, समाज के रंगस्थल पर विचरण किया करता है। वह अपने को ज्ञानी, शिष्ट तथा सभ्य कह कर पुकारता है; जो व्यक्ति उसके स्तर तक नहीं पहुँचते उन्हें वह हीन तथा निकृष्ट समझने लगता है। शिष्ट-आचरण का आडम्बर उसे इतना अधिक प्रिय हो जाता है कि वह अपनी एक अलग दुनियाँ बसा लेता है। सहज जीवन से दूर, नैसर्गिक आचार-विचार के परे उनका कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत हुआ करता है। यथार्थ उन्हें विस्मृत हो जाता है; कृत्रिमता उन्हें वशीभूत किये रहती है। समस्त समाज को वे अपने ही आडम्बरपूर्ण तथा कृत्रिम दृष्टिकोण द्वारा देखते हैं। उनके लिये जीवन प्राण-मय नहीं केवल आचरणमय रहेगा; शिष्टाचार पालन उसका महत लक्ष्य होगा। उन्हें जीवन की गति, उसके प्रवाह, उसकी प्रगति से कोई प्रयोजन नहीं; शिष्ट आचरण ही उनका आराध्य होगा। उसी की पूजा अर्चना उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य और उसी की सुरक्षा में वे अपने जीवन की समस्त शक्ति लगा देंगे। उनके सम्मुख जीवन का कोई और मूल्य भी नहीं; शिष्टाचरण की रक्षा ही उनका एक मात्र आदर्श रहेगा और उसकी तुलना में अन्य मानवी विचार निरर्थक होंगे।

मानवी शिष्टाचार

सामाजिक शिष्टाचार को हास्यपूर्ण प्रमाणित करने में लेखकों का उद्देश्य स्पष्ट था। उन्होंने उस मनुष्य अथवा उस स्त्री को हास्यास्पद बनाया जिसने अपने सहज व्यवहार, नैसर्गिक आचार-विचार तथा मानवी भावनाओं को

तिलांजलि दे, शिष्टाचार को ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य घोषित कर, उसी के अनुसार जीवन-यापन आरंभ किया। शिष्टाचार से ग्रस्त नर-नारी वाह्याडम्बर को ही श्रेष्ठ जीवन समझे हुए थे; उसी का आवरण पहनकर वे अपने को हास्यास्पद बनाये हुए थे; और यथार्थ से दूर अपने कृत्रिम जीवन-यापन द्वारा वे हास्य की सफल सृष्टि करते चलते थे। सभ्य वेष-भूषा; कृत्रिम भाव-भंगी, असत्य भाषण, आडम्बरपूर्ण व्यवहारिकता, उन्हें पग-पग पर हास्यास्पद बनाती चलती और हास्य की सफल सृष्टि होती रहती। हास्य की आत्मा उनके वैषम्यपूर्ण तथा विरोधी विचारों तथा भावनाओं की हँसी उड़ाती, मीठी चुटकी लेती; उनके मुख से आवरण हटा देती और उनका नग्न स्वरूप देखते ही हमें बरबस हँसी आने लग जाती। कृत्रिम व्यवहार तथा सामाजिक आडंबर हास्य की तीक्ष्ण शक्ति द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हो जाते परन्तु हास्य अट्टहास का रूप न लेता; वह अपने बहुल अथवा व्यापक शक्ति को नियंत्रित रखता था। शिष्टाचार की कृत्रिमता पर अपनी सरल व्यंग्यात्मक दृष्टि डालते हुए; उसके वाह्याडंबर की ओर संकेत करते हुये तथा उसके वैषम्य को स्पष्ट करते हुये हास्य की आत्मा अपनी पराकाष्ठा पर रहती थी। कृत्रिमता तथा स्वाभाविकता, आडम्बर तथा यथार्थ, सत्य एवं असत्य के द्वन्द्व-स्वरूप अनेक कलाकारों ने अपनी रचनाओं में सफल हास्य की सृष्टि की है। उन्होंने व्यक्ति को एक ऐसे रहस्यपूर्ण दर्पण के सम्मुख ला खड़ा किया जिसने उसकी कृत्रिमता की कलई खोल दी। जिस प्रकार एक्सरे के सम्मुख पड़ते ही मनुष्य का नग्न ढांचा दिखलाई पड़ने लगता है और सुन्दर, सभ्य तथा सुसंस्कृत मनुष्य अस्थि-पंजर का एक अनाकर्षक रेखा चित्र मात्र रह जाता है, उसी प्रकार हास्य की आत्मा के सम्मुख आते ही कृत्रिमता का आकर्षक आवरण पहले हुये व्यक्ति अपने मूल रूप को स्पष्ट कर देते और हमें उनकी इस मूल अवस्था को देखते ही हँसी आने लग जाती। ऐसे व्यक्तियों के लिये जीवन केवल एक ऐसा जुलूस था जिसमें सभी अपनी-अपनी विशेष धज बनाये चलते थे और कृत्रिमता के महत् पुजारी थे। अपने पिता की जायदाद पर आँख लगाये, पितृप्रेम की दुहाई देते हुये पुत्र; नायिका के वाह्य गुणों की प्रशंसा के पुल बांधने वाले नवयुवक; युवकों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर आँख जमाये हुए कृत्रिम प्रेम की लोरी गाने वाली नवयुवतियाँ; मित्रता के दम भरते हुये और हानि पर हानि पहुँचाते हुये मित्र इत्यादि हास्य की परिधि में सहज ही आ गये और अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं में हास्य प्रदर्शन के लिये उनका सफल प्रयोग भी किया। चक्रव्यूह समान कथावस्तु में डालकर इन कलाकारों ने सभ्याचरण के पीछे छिपे हुए बर्बर और शिष्टाचरण

का आवरण पहने हुए कुटिल व्यक्तियों के नित-नवीन खाके खींचे। जीवन की छोटी-छोटी तथा अत्यन्त महत्त्वहीन चीजों को महत्त्वपूर्ण समझने वाले तथा महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण गुणों को हीन समझने वाले व्यक्तियों को उन्होंने एकत्र किया: प्रेमासक्त दम्पति ने कपड़ों की तह पर अधिक ध्यान दिया; रमणी ने अपने प्रेमी से उसकी वेष-भूषा की शिकायत की; प्रेमिक ने प्रेयसी के अनेक प्रेमियों की ओर दृष्टिपात न कर उसके शिष्ट आचरण की सराहना की। ऐसी परिस्थिति में हास्य-प्रदर्शन अवश्यभांवी होगया।

जिन लेखकों ने शिष्टाचार संबंधी आधारों को लेकर हास्य प्रदर्शन का साहित्यिक प्रयत्न किया, उन्होंने एक विशेष साहित्यिक शैली भी अपनाई। इस शैली की परिधि में वे सभी व्यक्ति आये जिन्होंने जीवन को एक वाह्या-डम्बरपूर्ण नाटक समझा और जीवन के यथार्थ की ओर से विमुख रहे; शिष्टाचार का आवरण पहने हुये असत्य व्यवहार करने वालों पर ही लेखकों ने अपनी दृष्टि केन्द्रित की। सभ्य समाज के अंग बने हुये ये संपन्न व्यक्ति न तो किसी व्यवसाय में लगे थे और न उन्हे जीविकोपार्जन की ही कोई चिंता थी। उन्हें अवकाश ही अवकाश था जिसका प्रयोग वे मित्र-मण्डली के मनोरंजन के लिये अथवा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये किया करते थें। वेष-भूषा की चिंता ही उन्हें सतत व्यस्त रखती; वही उनके लिये नैतिकता का माप बनाती; वही सभ्यता की प्रतीक होती। वेष-भूषा तथा शिष्ट संवाद की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति उनकी दृष्टि में असभ्य तथा बर्बर था, उसकी समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिये थी। शिष्टाचार उनके जीवन का मूल-मंत्र था फलतः जिस शैली का प्रयोग लेखक-वर्ग ने किया उसमें शिष्टता की मात्रा यथेष्ठ थी। उन्होंने कभी भी व्यंग्य को न तो तीक्ष्ण होने दिया और न हास्य को अट्टहास के रूप मे प्रदर्शित होने का अवसर दिया। उनका हास्य मुस्कान रूप में ही प्रदर्शित हुआ और उनका व्यंग्य सरल रूप में अवतरित हुआ। यह शैली व्यंग्य की तीक्ष्णता को हटा कर उसका सरस प्रयोग ही हितकर समझती थी; अस्पष्ट कथन ही उसका प्राण था। जिन लेखकों ने तीव्र व्यंग्य का सहारा लिया, स्पष्टवादिता को प्रश्रय दिया और अट्टहास प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया वे अन्ततोगत्वा सफल नहीं हुये। परन्तु ऐसे लेखक जो सब कुछ न कहते हुये भी बहुत कुछ कह जाते थे, जो व्यंग्य-वांण को अत्यन्त संकोचपूर्ण मुद्रा[1] बना कर खींचते थे अनेकरूप में सफल हुये।

---

१. मुलियर

कुछ आलोचकों का विचार है कि शिष्टाचार-सम्बन्धी हास्य हृदय-हीन होगा; उसमें सहानुभूति की मात्रा नहीं के बराबर होगी; वह केवल मानसिक-क्षेत्र में ही फूले फलेगी। इन विचारों में तथ्य अवश्य मिलेगा क्यों कि जैसा हम हास्य प्रदर्शन के सिद्धान्तों के विवेचन के सम्बन्ध में संकेत दे चुके हैं—सहानुभूति की मात्रा बुद्धि मूलक हास्य के लिये हितकर न होगी ; प्रायः उससे हास्य अपने सफल तथा हृदयग्राही रूप में प्रदर्शित न हो पायेगा।

प्रकरण—९

भाषा

मावनी शिष्टाचार द्वारा प्रसूत हास्य की आत्मा के विवेचन के पश्चात् यह आवश्यक होगा कि उसके विभिन्न साधनों तथा उसके मूल तथा साधारण स्रोत को ओर भी संकेत किया जाय। यह तो स्वतः सिद्ध है कि हास्य, किसी न किसी आधार पर, अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ निकालेगा यद्यपि मनुष्यों की आदि टोलियों में पहले-पहल शारीरिक संकेत तथा भाव-भंगी द्वारा ही हास्य प्रस्तुत हुआ होगा। परन्तु हास्य का सहज माध्यम शब्द ही होगा क्योंकि यही सबसे प्राचीन माध्यम भी है। कुछ अन्य जीवधारियों की शारीरिक उछल-कूद भी हास्य का कारण बन जायगी और उनकी विशेष कार्य-शैली में मानवी-समाज की थोड़ी बहुत छाया अवश्य मिलेगी। हमने सड़कों पर श्वान-समाज के आबाल-वृद्ध-वनिताओं की अठखेलियाँ देखी होंगी; कहीं एक दूसरे को दौड़ाता है; काटने की चेष्टा करता है; कुश्ती लड़ता है; मल्ल-युद्ध ठानता है और अवसर पाते ही भाग निकलता है; और अन्त में, चुपचाप, सभी खड़े होकर एक दूसरे को देख हाँफते-हाँफते अपना-अपना रास्ता पकड़ लेते हैं। जीव विद्या विशारद तो कदाचित यह कहेंगे कि इस प्रकार की उछल-कूद और लड़ाई इसी सिद्धान्त की द्योतक है कि श्वान-वर्ग अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये ही ऐसे कार्य करता है और वह जन्म-जात रूप में जानता है कि अन्य जीव-धारियों के समकक्ष यदि उसे जीवित रहना तथा प्रगति करना है तो उसे अपनी शारीरिक शक्ति को बनाये रखना होगा। परन्तु इतना सब कुछ होते हुये भी हम यह अवश्य देखेंगे कि उनकी इन कला-बाज़ियों में एक विचित्र प्रकार का हास्य प्रदर्शित रहेगा। और यदि कहीं ऐसा होता कि श्वान-वर्ग भूँकते समय कुछ ऐसे स्वरों में भूँकता कि हमें बालक की चिल्लाहट का भ्रम होता अथवा इस प्रकार अपने भूकने में आरोह तथा अवरोह प्रदर्शित करता जो किसी विराट शास्त्रीय संगीतज्ञ के असमय भीमपलासी राग का आभास देता तो शब्द अथवा नाद-द्वारा प्रसूत हास्य का प्रस्फुटन होता। परन्तु ऐसा होना कदाचित ही संभव हो।

मनुष्य की आदि जातियों ने, कदाचित, पहले पहल अपनी भाषा संबंधी असंगति अनुभव की होगी और उन्होने ही पहले पहल शब्द-द्वारा प्रसूत हास्य का उदाहरण प्रस्तुत किया होगा। उनकी संबंध-कारक भाषा ने भी

इसमें सहयोग दिया होगा और उन्होंने अनेक शब्द-समूहों को दुहरा-दुहरा कर हास्य का प्रथम दर्शन किया होगा। प्रायः, बालकों को कुछ विशेष शब्दावली के उच्चारण तथा पुनरावृत्ति के पश्चात स्वतः हंसी आने लगती है; और अपनी इस प्रवृत्ति द्वारा वह हमारे सम्मुख मानव की आदि सभ्यता तथा उसमें प्रयुक्त आदि भाषा के प्रयोग द्वारा हास्य के आविर्भाव का सजीव दृश्य उपस्थित करते हैं। कदाचित हास्य का आदिरूप शब्दोच्चारण में ही निहित है और आज तक उसी के आधार पर हम लय, अनुप्रास, श्लेष तथा भाषा के अन्य हास्यप्रद प्रयोगों द्वारा अपना मनोरंजन करते आये हैं। शाब्दिक पुनरावृत्ति मे हास्य का अक्षय भाण्डार है।

इसमें कदाचित सन्देह नहीं कि शब्दों द्वारा प्रसूत हास्य ही प्रायः हास्य का प्रथम रूप रहेगा तत्पश्चात् घटनाओं तथा चरित्र द्वारा प्रसूत हास्य की गणना होगी। जिस प्रकार चतुर माली सुचारु रूप से ध्यानपूर्वक एक वाटिका लगाता है और सौन्दर्य प्रस्तुत करने के लिये इधर-उधर काँट-छाँट करता है उसी प्रकार साहित्यकार शब्दों के चतुर प्रयोग तथा अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा हास्य प्रस्तुत करता है। इसमें सन्देह नहीं कि हास्य को परखने के लिये ज्यों ही हम शब्दों का विश्लेषण तथा समासों का विच्छेद आरंभ करेगें त्यों ही हास्य की आत्मा निर्जीव तथा नीरस हो जायगी और शब्दों का अस्थिपंजर ही हमारे हाथ लगेगा। इसाई धर्मपुस्तक की कहानी के अनुसार ज्योंही आदम तथा हौआ ने ज्ञान-वृक्ष का फल चखा उनकी समस्त सरलता तथा साधुता अपनी राह लगी उसी प्रकार वैज्ञानिक विवेचन के उपरान्त हास्य की सहज आत्मा भी अपनी राह लगती है; हम उसे बंदी नहीं कर पाते। कदाचित मानवी आनन्द के लिये यह आवश्यक होगा कि हम तर्क को तिलाजंलि देंदे क्योंकि प्रायः हमारा सहज अज्ञान ही आनन्द का मूल स्रोत रहता है और तर्क की छाया पड़ते ही वह सूख जाता है। हास्य की आत्मा स्वतंन्त्र रहेगी; उसका विवेचन तथा विश्लेषण उसे निर्जीव तथा नीरस बनायेगा। फिर भी आलोचक के आभार को सहज ही नहीं भुलाया जा सकता, क्योंकि विश्लेषण द्वारा ही हम सफल सिद्धान्तों का निर्माण कर सकेंगे।

प्रायः शब्दों के आधार पर हास्य प्रस्तुत करने वालों लेखकों में शब्दों के शब्दार्थ, संकेतार्थ तथा लक्ष्यार्थ तीनों को परखने की विशेष शक्ति होनी चाहिये। उन्हे शब्दों के उचित तथा अशिष्ट प्रयोग की शैलियों से भी अवगत रहना चाहिये; उनके लिये केवल यही अपेक्षित नहीं कि वे शब्दों के उचित प्रयोगों से परिचित हैं; उनके अनुचित प्रयोगों की विलक्षणता से भी उन्हें भली-भाँति

अवगत रहना होगा क्यों कि इसी के द्वारा प्रायः सफल हास्य की सृष्टि होगी । कुछ शब्दों के विलक्षण, समास-रूप प्रयोग द्वारा तो अट्टहास तक प्रस्तुत हो सकता है । शब्द-प्रयोग की स्वाभाविकता भी हास्यरस के निर्माताओं का प्रधान गुण रहेगा । उनमें भाषा के अन्यान्य शब्दों के प्रयोग में इतनी सहज गति होनी चाहिये कि जो बिना किसी विशेष प्रयत्न के हास्य की सृष्टि कर दे; परन्तु यह गुण साधारण नहीं । अनेक अनुकर्त्ताओं ने इन शब्द-प्रयोगों के अनुकरण द्वारा हास्य प्रदर्शन की चेष्टा की परन्तु वे विफल रहे । निराली प्रतिभा का अनुकरण सहज नहीं ।

उपमा, श्लेष तथा अन्य प्रयोग

प्रायः अनेक लेखकों ने उपमा तथा श्लेष द्वारा अपूर्व-रूप में हास्य प्रस्तुत किया है । उनके लिये उपमा तथा रूपक हास्य प्रसार के अक्षय कोष थे जिनसे वे मनोनुकूल हास्य-रत्न निकाल कर पाठकों का मनोरंजन किया करते थे । उपमान तथा उपमेय की विलक्षण समानता का बोध होते ही हास्य की धारा फूट पड़ती थी और हंसी रोके न रुकती थी । लेखक की तीक्ष्ण तथा विलक्षण दृष्टि ऐसे उपमान ढूंढ निकालती जो उपमेय के सम्पर्क में आते ही इतना तीव्र विरोधाभास प्रस्तुत करती कि अनिवार्य रूप में हास्य की सृष्टि होने लग जाती । उपमानों की मौलिकता तथा उनके अपूर्व प्रयोग पाठक की आंखों के सम्मुख एक विचित्र तथा आश्चर्यपूर्ण चित्त निर्मित कर देते हैं और विरोधाभास इतने तीव्र तथा विलक्षण रूप में प्रदर्शित होता है कि हास्य प्रदर्शन में किंचित मात्र भी विलम्ब नहीं होता । रूपक में हास्य-प्रदर्शन की अपार शक्ति निहित है; मौलिक कलाकार उनकी ओर सहज ही संकेत कर सकते हैं । साधारणतः, लेखकों ने शब्दों के प्रयोग में थोड़ी-बहुत खींच-तान के उपरान्त भी हास्य प्रस्तुत किया है और जब उन शब्दों को रूपक का आश्रय मिला तो हास्य और मी सरलता से प्रवाहित होने लगा । वाक्-पटु व्यक्ति, पग-पग पर, शब्दों के विलक्षण प्रयोग तथा उपमा के बहुल प्रयोगों द्वारा सफल रूप में हास्य प्रदर्शित करते आये हैं[1] । जैसा हम उदाहरण रूप में पहले कह चुके हैं कि जिस प्रकार हम अपने पुराने मित्रों से एक ही दिन अनेक बार मिल कर एक विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार हम शब्दों की पुनरावृत्ति द्वारा भी आनन्द पायेंगे । सड़कों पर, जब हम बालकों को 'लूलूहै' 'अल्लम-गल्लम-ठल्लम-टूं' इत्यादि अर्थहीन शब्दों को अनेक बार

१—बटन जैसी आँखें; गीले आटे जैसे गाल; दुम का लंगोट बांधते कुत्ते, इत्यादि ऐसे शब्द-चित्र हैं जिनको समझते ही मुस्कुराहट आ जाती है ।

उच्चारण करते हुये सुनते हैं तो हमे एकाएक हँसी आने लगती है; और शाब्दिक पुनरावृत्ति द्वारा हास्य का प्रसार हम देखने लगते हैं। पुनरावृत्ति तथा लय में एक विशेष सम्बन्ध है : दूसरा पहले से प्रसूत है। और यद्यपि लय का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के लिये ही साधारणतः हुआ है परन्तु उसके द्वारा भी कभी-कभी हास्य का सरल प्रकाश होगा। लय-पूर्ण शब्दावली जब एकाएक लयहीन हो जाती है तो सहज ही हास्य का प्रदर्शन होने लगता है। ज्योंही हम लयहीन स्थलपर पहुँचते हैं, हँसी छूट पड़ती है। 'जबते राम ब्याहि घर आये; गौना लेन चले तब मंगू'; 'मुदित मातु सब सखी सहेली; फलित देख अंगूर' इत्यादि ऐसे लयहीन स्थल होंगे जो उपरोक्त सिद्धान्त को प्रमाणित करेंगे। कभी कभी लयपूर्ण एवं निरर्थक शब्दों के समूह द्वारा भी हास्य का जन्म होगा : 'हहा, हिही; हुहू; पपा, पिपी, पुपू; बबा, बिबी, बुबू; इत्यादि। इसका कारण यह है कि अन्तिम शब्द की प्रतीक्षा जब ठीक उतरती है तो हमें एक विचित्र रूप से आनन्द मिलने लगता है। 'पुपू', 'बुबु' इत्यादि हमारी प्रतीक्षा की पूर्ति करते हैं और हमें हँसी आने लगती है। जब कोई तुक्कड़ कवि :

'मैं तो हूं पूरा कर्मठ,
जब लेता हाथों में लठ।
चलता हूँ अकडा-अकड़ा,
मत समझो मैं हूँ छकड़ा।

ऐसी सहज प्रतीक्षात्मक लय-पूर्ण पंक्तियाँ लिखता है तो हमे 'लठ', और 'छकड़ा' शब्द की अनिवार्यता पर हँसी आने लगती है।

शब्दों द्वारा प्रस्तुत हास्य में श्लेष का अपूर्व स्थान है। यद्यपि श्लेष के प्रयोग को अनेक आलोचकों ने निन्दनीय प्रमाणित किया और दूसरे प्रयोग का निषेध भी किया परन्तु हास्य के प्रसार में कदाचित इसकी महत्ता सतत बनी रहेगी। कवियों, तुक्कड़ों तथा गद्य-लेखकों की रचनाओं में इसके विविध उदाहरण प्रमाण रूप में सुरक्षित मिलेंगे। प्रायः श्लेष के प्रयोग में न तो कोई दार्शनिक सत्य रहता है और न कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात ही रहती है। परन्तु उसकी नवीनता तथा उसकी मौलिकता इतनी अधिक रहती है कि हास्य पुस्फुटित हुये बिना नहीं रहता। कभी-कभी उसमें नवीनता ही नहीं वरन एक विशेष अभिव्यंजना शक्ति रहती है जो साधारण भाव को असाधारण रूप में व्यक्त कर देती है। कभी-कभी इसके द्वारा ऐसे भाव सहज ही व्यक्त कर दिये गये हैं जो कदाचित् सभ्य समाज में स्पष्टतापूर्वक नहीं व्यक्त किये जा

सकते थे। साहित्यिक आवरण पहन कर यह शक्ति साधारण को असाधारण बनाती है तथा अश्लील को शिष्टता का रूप देती है। प्रायः श्लेष में दो अर्थ न होकर केवल शाब्दिक पुनरुक्ति रहा करती है जो मनोरंजन का कारण बन जाती है। प्रायः कुछ श्लेषपूर्ण वाक्य अथवा पंक्तियाँ ऐसी होती हैं जो बार-बार प्रयोग के उपरान्त अपनी नवीनता खो बैठती हैं; हम उनसे इतने अधिक परिचित हो जाते हैं कि उनकी मौलिकता नष्ट हो जाती है और जब मौलिकता नष्ट हो गई तो हास्य प्रदर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता। श्लेष की मौलिकता में ही उसकी सफलता है। यद्यपि इसका जन्म श्रेष्ठ साहित्यकारों द्वारा ही संभव हुआ परन्तु साधारण लेखकों ने इसके बहुल-प्रयोग से इसे हीन तथा निंदनीय बना दिया; और यह केवल कुछ संवाद विशेष में, यदाकदा, हास्य प्रस्तुत करने के लिये प्रयुक्त होने लगा।

कभी-कभी हास्य-प्रसारक लेखकों ने दोष-पूर्ण अक्षर-विन्यास द्वारा भी हास्य की सृष्टि की है परन्तु इसकी सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि हम बिना अपनी दृष्टि का उपयोग किये उसका आनन्द नहीं ग्रहण कर सकते। कभी कभी व्याकरण के दोषों के कारण भी अत्यन्त सफल हास्य प्रस्तुत हुआ है: परन्तु उसका आनन्द उठाने के लिये भाषा का ज्ञान आवश्यक होगा। पुलिंग प्रयोग के स्थान पर स्त्रीलिंग: एकवचन के स्थान पर बहुवचन; भाववाचक संज्ञा के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग इत्यादि हास्य प्रदर्शन में फलप्रद हुये हैं। जब हम किसी वक्ता को चुनाव के समय अपनी देश-सेवा का ब्यौरा देते हुये सुनते है; "भाई-बोन्धुओं और बोहिन लोगो! १९४२ की दीन भी क्या दीन थी जब हम अपनी बोल-बोच्चा छोड़ जेल सिधार गयी। ओपना बात हम बोलेगा जोरूर" तो हंसी अवश्य ही आयेगी। इस प्रकार के हास्यप्रद प्रयोग आधुनिक काल में ही विशेषतः हुये हैं। कभी कभी लेखकों ने ऐसे शब्दों द्वारा भी हास्य प्रस्तुत किया है जो अर्थ की दृष्टि से तो वांछित नहीं परन्तु उनके उच्चारण में कुछ ऐसी विशेषता रहती है और इस शब्द का कुछ ऐसा विचित्र नाद-संकेत रहता है कि हास्य सहज ही प्रस्तुत हो जाता है। यह प्रायः तभी होता है जब लेखक अथवा वक्ता शब्दाडम्बर का प्रेमी रहता है और ऐसे-ऐसे, बड़े-बड़े शब्द ढूंढ निकालता है जिनका अर्थ तो कुछ नहीं परन्तु नाद-संकेत हास्यपूर्ण रहता है। शब्दों के विलक्षण प्रयोग अथवा असाधारण एवं अर्थहीन प्रयोग द्वारा हास्य प्रस्तुत करना वास्तव में एक कला ही है और जब तक इसका प्रयोग पूर्णतया कलात्मक नहीं होगा हास्य का न तो प्रसार होगा और न पाठक वर्ग का ही किसी प्रकार से मनोरंजन संभव होगा।

शब्दों के दूषित प्रयोगों के द्वारा हास्य-प्रसार के अन्तर्गत ऐसे प्रयोगों की भी गणना होगी जहाँ लेखक ने उपमा तथा उपमेयों में विचित्र रूप में साम्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की अथवा एक उपमा की पूर्णता न स्पष्ट कर दूसरी उपमा का प्रयोग आरंभ कर दिया अथवा उसके प्रयोग में असंगति आ गयी। इस प्रयोग के भी अनेक उदाहरण हास्य रस के लेखकों की रचनाओं में प्रायः मिलेंगे। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर भी अनेक हास्य रस के लेखकों ने सफल हास्य प्रदर्शित किया है परन्तु ये समस्त प्रयोग स्वाभाविक न होकर कृत्रिम ही होंगे; और जब तक इनमें उच्च कोटि की कला का प्रयोग न होगा हास्य की सृष्टि में सफलता नहीं मिलेगी। प्रायः इन सभी प्रयोगों में हमें मानव की उसी मूल प्रवृत्ति के दर्शन होंगे जिनके द्वारा नाद-रूप में वह अपना क्रोध, अपनी घृणा, अपना प्रेम तथा अपनी विरक्ति का प्रदर्शन किया करता था और जिनकी जड़वत आवृत्ति में पहले-पहल हास्य का प्रकाश प्रस्तुत हुआ होगा।

यदि हम उपरोक्त साधनों की संक्षिप्त विवेचना करें तो हमें सहज ही ज्ञात हो जायगा कि परिहास तथा वक्रोक्ति में किस प्रकार का अन्तर है। परिहास

वक्रोक्ति तथा परिहास

तथा वक्रोक्ति में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है; और इसके साथ-साथ सिद्धान्त रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि जब परिहास केवल शब्दों के अनपेक्षित प्रयोग द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करेगा तो वक्रोक्ति का जन्म होगा। परिहास मूल वर्ग है: वक्रोक्ति उसका उपवर्ग। परिहास की आत्मा की उपेक्षा कर वक्रोक्ति का कलात्मक प्रकाश नहीं हो सकता। यह संभव है कि परिहास की आत्मा की उपेक्षाकर, कुछ निम्न कोटि के हास्य-रस के निर्माता, जिनमें मनोरंजन प्रियता है, उत्साह है, शब्द चातुर्य है, वक्रोक्ति का प्रकाश प्रस्तुत कर दें; परन्तु वास्तविक तथा कलापूर्ण वक्रोक्ति का प्रकाश तभी होगा जब लेखक में मनोरंजन प्रियता के स्थान पर आनन्द प्रियता; उत्साह के स्थान पर प्रेरणा तथा शब्द अथवा वाक् चातुर्य के स्थान पर मानवी दृष्टिकोण प्रस्तुत रहेगा। जिस लेखक में आनन्दानुभूति की शक्ति तथा प्रेरणा एवं मानवी दृष्टिकोण नहीं वह न तो परिहास की और न वक्रोक्ति की ही सफल अभिव्यक्ति कर सकेगा। प्रायः हमने देखा है कि कुछ व्यक्ति हृदय से नहीं वरन आँखों से रोते हैं; मन से नहीं होठों से हँसते हैं और उनका रोना-हँसना प्रभाव हीन रहता है। उसी प्रकार आनन्द, प्रेरणा तथा मानवी दृष्टिकोण बिना परिहास तथा कलापूर्ण वक्रोक्ति की सफल अभिव्यक्ति असंभव होगी।

कुछ आलोचकों का विचार है कि परिहास तथा वक्रोक्ति हास्य की दो

पृथक श्रेणियां हैं और उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका कथन है कि वक्रोक्ति केवल शब्दों के अनपेक्षित तथा असाधारण प्रयोग द्वारा प्रसूत है और परिहास उसकी तुलना में कहीं ऊँचे स्तर पर रहता है और उसमें मानवी तथा दार्शनिक दृष्टिकोण अपेक्षित होगा। वक्रोक्ति, वाक् पटुता द्वारा; परिहास, मानवी दृष्टिकोण द्वारा प्रसूत होगा। वास्तव में इन दोनों विभिन्न विचारों में साम्य प्रस्तुत करना अत्यधिक कठिन न होगा क्योंकि प्रायः श्रेष्ठ विचारकों तथा उच्च कोटि के लेखकों ने वक्रोक्ति को परिहास का एक विशिष्ट अंग माना है और इस विचार से प्रायः पाठकों का एक बड़ा वर्ग भी सहमत है। और जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं कि यह सम्भव है कि वक्रोक्ति प्रयोग में मानवी सहानुभूति की छाया न मिले जैसी कि परिहास में मिलती है; परन्तु ऐसा प्रयोग मनोरंजक होते हुए भी स्थायी आनन्द प्रदान न कर सकेगा। तारिकावलि सुन्दर होते हुये भी दीपमालिका का स्थान नहीं ले सकती और न जुगनुओं की ज्योति से हम उष्णता ग्रहण कर पाते हैं: उसी प्रकार वक्रोक्ति प्रयोग में भी जब तक मानवी सहानुभूति का पर्याप्त अंश न होगा वह श्रेष्ठ न हो पायेगी[1]। हास्य-रस के क्षेत्र में परिहास तथा वक्रोक्ति का द्वन्द्व आज का नहीं वरन बहुत पुराना है और ज्यों ज्यों समाज सुसंगठित तथा परिष्कृत होता जायगा त्यों त्यों वक्रोक्ति की महत्ता घटती जायगी और परिहास, की बढ़ेगी। यद्यपि अनेक लेखकों ने वक्रोक्ति द्वारा सफल हास्य प्रस्तुत किया और अपनी तीक्ष्ण बौद्धिक शक्ति का परिचय दिया फिर भी परिहास द्वारा प्रसूत हास्य की मानवीयता तथा सहानुभूति एवं सारल्य की तुलना में वह निम्न कोटि का ही रहा और उसे महत्त्व न प्राप्त हो सका। वक्रोक्ति-पटु कभी भी परिहास-पटु नहीं रहा; हां परिहास-पटु में कभी २ वक्रोक्ति की क्षमता अवश्य दृष्टिगत हुई है फिर भी वस्तुतः दोनों में विरोध स्पष्ट दिखाई देगा। वक्रोक्ति प्रेमी बुद्धि का पुजारी तथा छिद्रान्वेषी रहेगा; वह अपनी पैनी बौद्धिक दृष्टि द्वारा मानव समाज को परखेगा और पूर्णरूप से तटस्थ रह कर हास्यास्पद व्यक्तियों पर वक्रोक्ति-वाण चलायेगा और उनके धराशायी होते ही सन्तोष पायेगा; गम्भीर मुद्रा बनाये हुए अपने शब्दों के

---

१ अन्धे होने के पश्चात् जब महाकवि मिल्टन की पत्नी की सुन्दरता की प्रशंसा करते हुये उनके एक मित्र ने उनसे कहा कि 'आपकी पत्नी गुलाब के फूल सी सुन्दर है' तो उन्होंने अत्यन्त सरलता पूर्वक उत्तर दिया—'भाई! मैं रंग तो पहचान नहीं सकता परन्तु कांटे मुझे रोज़ चुभते हैं'। कवि की वक्रोक्ति में परिहास की मधुरिमा स्पष्ट है।

तरकस से चुन-चुन कर वक्रोक्तियों का शरसंधान करेगा। परिलक्षित मनुष्य को मूर्ख तथा अज्ञानी प्रमाणित कर वह अपनी मानसिक एवं बौद्धिक श्रेष्ठता की दुंदुभि बजायेगा। वक्रोक्ति का हास्य बुद्धिजन्य तथा घातक होगा। इसके विपरीत परिहास में मानवीयता, सहानुभूति तथा बन्धुत्व की भावना यथेष्ट रूप में रहेगी। परिहासपटु-सहृदय तथा मानवी गुणों में आभूषित रहेगा; वह अपनी मानवता द्वारा व्यक्ति को परखेगा; अपनी सहानुभूति द्वारा अपने प्रहार की गति मन्द करेगा और चोट करते समय साश्रु हो जायगा। वह कभी भी तटस्थ नहीं रह सकता; वह अपने भावना-संसार को सतत जाग्रत रखेगा और व्यक्ति को मूर्ख अथवा अज्ञानी प्रमाणित करते हुये भी उसकी मानवता की रक्षा करेगा। परिहास-जन्य हास्य भावुक, सरल तथा गंभीर होगा; उसमें वक्रोक्ति की न तो तीव्रता होगी और न तीक्ष्णता। परिहास-प्रेमी मनुष्य के चरित्र में निहित दोषों को मानवी संकेतों द्वारा स्पष्ट करेगा। वह कभी भी अपने शिकार को धराशायी नहीं देखना चाहता। जिस प्रकार माता अपने स्नेह के आवरण में कठोरता का अभिनय कर छोटे बालक को राह पर ले आती है उसी प्रकार परिहास-प्रेमी मानवीयता के आवरण में व्यक्ति को निष्प्रभ तथा दीन प्रमाणित कर उसपर अपना वरद हस्त रखे रहता है। उसमें न तो गर्व होगा और न अभिमान और न वह मनुष्य मात्र से तटस्थ ही रह पायेगा। छिद्रान्वेषी तो वह कभी हो ही नहीं सकता क्यों कि मानव समाज के प्रति उसकी करुणा तथा सहानुभूति सतत उन्मुख रहेगी। प्रायः श्रेष्ठ परिहास उदात्त भावना द्वारा प्रेरित रहता है और जब वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो उसमें करुण रस का संचार होने लग जाता है। परिहास की आत्मा हमें जीवन के समीप ले आती है; हमारी सहानुभूति को जागृत करती है और हमें जीवन की शक्तियों के प्रति द्वन्द्व छेड़ने के उपरान्त उनसे हमारा साम्य बैठा देती है। जीवन में प्रायः ऐसे क्षण नित्य ही आते हैं जब हम जीवन से हताश, क्रुद्ध तथा विमुख होने लग जाते हैं और उसके प्रति हम उन्मुख नहीं रहते। उसी क्षण परिहास की आत्मा हमारे आँसू पोंछती है और हमारे उन्मन हृदय को जीवन की ओर आकर्षित कर देती है। परिहास की आत्मा हमारे द्वन्द्वपूर्ण जीवन का सतत संरक्षण तथा नियन्त्रण किया करती है: जब जीवन के वैषम्य के प्रति हमारी बर्बर हँसी फूटती है तो कारुण्य द्वारा वह उसका संशोधन तथा परिमार्जन करती है; और जब जीवन से हताश होकर हम अपने को हत-भाग्य समझने लगते हैं तो वह हमारे अश्रुपूर्ण नेत्रों में हास्य की ज्योति छिटका देती है। यह कौन नहीं जानता कि जीवन का अन्त मृत्यु है; यह भी

सब जानते हैं कि मृत्यु का रहस्य किसी को ज्ञात नहीं फिर भी हम भय खाते हैं और हताश होते हैं। और ऐसी ही विषम परिस्थिति में परिहास की आत्मा हममें उत्साह की धारा प्रवाहित करती है और हमें हँसते-हँसते उस दिन तक जीने का आदेश देती है जब हमारी हँसी एकाएक शान्त हो मृत्युके आलिंगन में खो जायगी। परिहास, मानवी जीवन का एकाकी सहचर है।

जैसा कि हम पहले स्पष्टतः कह चुके हैं, ऐतिहासिक रूप में, यदि देखा जायगा तो यह ज्ञात होगा कि ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्यता के पथ पर अग्रसर हुआ त्यों-त्यों हास्य के आकार-प्रकार में भी संशोधन होता गया। बर्बर मनुष्य समाज की छत्र-छाया में ज्यों- ज्यों अपनी बबरता खोता चला त्यों त्यों उसका हास्य भी परिमार्जित होता गया। पहले वह बलि-वेदी पर छटपटाते हुये पशु को देख कर अट्टहास करता था और शत्रु को मौत के घाट उतार कर नृत्य करता था; अब वही बर्बर बलिपशु के स्थान पर नारियल की भेंट चढ़ाता है और शत्रु पर विजय पाने के उपरान्त उसके साथ सहभोज में भाग लेता है। पहले उसे मेघ-पुंजों से डर लगता था अब वह मेघाच्छन आकाश के नीचे मल्हार गाता है। पहले उसके लिये इन्द्र-धनुष ऐसा अस्त्र था जिस पर काल, मानव जगत पर शर-संधान किया करता था, अब उसी इन्द्र-धनुष की सतरंगिनी छटा के प्रकाश में वह मधुर मिलन के स्वप्न देखता है। आदि काल के मनुष्य के लिये जीवन द्वन्द्व, संघर्ष तथा युद्ध का प्रतीक थाः अब वही जीवन सन्तोष, प्रेम तथा शान्ति का सन्देशवाहक है। सभ्यता की प्रगति के साथ साथ हमारे आन्तरिक जीवन-क्षेत्र में, हमारे विचारों तथा भावनाओं की भी कायापलट हो गई है। हमें स्मरण-शक्ति का वरदान प्राप्त हुआ; हमें हास्य तथा परिहास समान जीवन सहचर मिला।

परिहास समान सहचर ने जीवन को एक अपूर्व रंग में रंग दिया। जीवन के विकृत तथा विषम अनुभव, उसके सम्पर्क में आते ही एक नवीन रूप में पुनः अवतरित होने लगे : उसने क्रोध को करुणा में तथा मलिनता को आनन्द में परिवर्तित कर दिया; उसके सम्पर्क में आकर हम जीवन के प्रति विशेष रूप में आकर्षित हुये। उसने हमारी घृणा को सहानुभूति तथा विकलता को सन्तोष का आवरण पहनाया। उसने जीवन के आनन्दपूर्ण क्षणों के झूले में हमें झुलाया और हमें अपनी समस्त असुविधाओं के ऊपर मुस्कुराने पर बाध्य किया। यही कारण है कि दो वृद्ध जो बाल्यकाल में पुराने सहचर तथा सहपाठी थे, एक दूसरे की पुरानी बातें स्मरण कर खूब ही हँसते हैं; उनकी स्मरण-शक्ति हास्य की आत्मा से प्रभावित रहती है : यद्यपि वे यह

भलीभाँति जानते हैं कि उन्हें बहुत दिनों जीना नहीं है। परिहास, हमारे जीवन की यातना को उच्छ्‌वास में परिणत कर उसे मुस्कान से अनुरंजित कर देता हैं; वह जीवन-सागर को पार करने के लिये हमारे हाथों में पतवार दे देता है; वह हमारी मानवता को जागृत रखकर जीवन से पूर्ण आनन्द उठाने का हमसे आग्रह किया करता है। जिस प्रकार ढलता हुआ सूरज हमें दिवस के अवसान का बोध तो कराता है परन्तु साथ ही साथ चन्द्रिका की फूटती किरण की ओर भी संकेत करता रहता है उसी प्रकार परिहास हमें जीवन के मेघाच्छन्न आकाश के नीचे चन्द्रिका की छटा की ओर संकेत कर जीवन-यापन के लिये उत्साह प्रदान किया करता है।

आगामी प्रकरणों में हम वक्रोक्ति तथा परिहास की व्यापक समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

प्रकरण—१०

असंगत-विचार तथा हास्य

भाषा-प्रयोग द्वारा आविर्भूत हास्य के विवेचनोपरान्त यह भी आवश्यक है कि हम उन साधनों पर भी विचार करें जिनके द्वारा शब्दों को हास्य-प्रसार में सफलता मिली है। शब्द ही हमारे विचारों के माध्यम रहेंगे और उन्हीं के सहारे हमारे विचारों की अभिव्यक्ति होगी; फलतः शब्दों तथा विचारों के अन्योन्याश्रित संबन्ध के कारण भी, अनेक रूप में, हास्य की सृष्टि होती रहेगी। प्रायः शब्दों ने अपनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति: लक्ष्यार्थ, शब्दार्थ, विषय एवं असाधारण प्रयोग द्वारा ही हास्य प्रदर्शित किया है; उसी प्रकार हमारे विचारों की असाधारण अभिव्यक्ति, दृष्टि-कोण विशेष तथा उनकी अनेक रूपेण[1] असंगति के कारण भी अत्यन्त सफल तथा सहज-रूप में हास्य प्रस्तुत हुआ करेगा।

विचारों की असंगति द्वारा प्रदर्शित हास्य में जितनी विभिन्नता होगी और जितने सहज रूप में वह प्रदर्शित होगा उसकी तुलना अन्य हास्य-प्रसारक

१—अनेक पाठकों को दो बहिरे व्यक्तियों का वार्तालाप स्मरण होगा :

पहला—"आपका स्वास्थ्य तो अच्छा है?"

दूसरा—"जी हाँ! बैंगन खरीद कर लाया हूँ।"

पहला—"बाल-बच्चे तो सकुशल हैं।"

दूसरा—"जी हाँ—भून कर खाऊँगा।"

प्रायः दो बहिरे व्यक्तियों के वार्तालाप में जो सहज असंगति रहती है उसके आधार पर अनेक प्रकार से हास्य प्रदर्शित किया गया है। कभी कभी एक ही बहिरे व्यक्ति से वार्तालाप द्वारा भी सफल हास्य की सृष्टि हुई है:—

"आप कब से बीमार हैं?"

"क़रीब दो साल हो गये!"

"तब तो घबराने की कोई बात नहीं: अभी क्या हुआ है।"

"आपकी चिकित्सा कौन कर रहा है?"

"अब तो यमराज का ही सहारा है!"

"अरे वह तो बड़े कुशल चिकित्सक हैं! आप अच्छा हुआ ही समझिये।"

साधनों से कदाचित न हो सकेगी। उदाहरणार्थ उच्चस्तर का वातावरण है अथवा समाज के श्रेष्ठ स्तर के व्यक्ति हैं परन्तु वहां विचारधारा अत्यन्त निम्न कोटि की प्रवाहित की जा रही है;[1] अथवा विचारधारा तो अत्यन्त श्रेष्ठ एवं दार्शनिकतापूर्ण है परन्तु वातावरण अथवा व्यक्ति अत्यन्त निम्न कोटि के हैं[2] जिसके फलस्वरूप हास्य का प्रस्फुटन अवश्यमेव होगा। इस प्रकार की असंगति उपहास-काव्य को जन्म देगी जिसमें अत्यन्त शिष्टकोटि का हास्य प्रायः प्रदर्शित नहीं हो पायेगा। परिहासात्मक काव्य तभी लिखा गया जब प्रायः पाठक-वर्ग किसी वर्ग-विशेष अथवा किसी कवि विशेष की विशेष दृष्टि-

हास्य का काव्य रूप

कोण वाली रचना सुनते-सुनते कभी कभी इतने ऊब उठते हैं कि हास्य द्वारा उसका प्रतिकार उन्हें रुचिकर ज्ञात होने लगता है। अंग्रेज़ी साहित्य में, अनेक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ कविताओं को परिहासात्मक रूप दिया गया है और यह एक प्रकार से मूल कवि की श्रेष्ठता का प्रमाण भी है। हिन्दी के अनेक कवियों की कविता को भी सफल परिहासात्मक रूप दिया गया है। परिहासात्मक काव्य द्वारा विचार परिष्कार भी बहुत कुछ संभव हुआ है। साधारणतया ऐसा देखा गया है कि किसी युग-विशेष में किसी एक विशेष प्रकार की रचना लोक-प्रिय होने लगती

१—'धिक्कार है हे तात ! ऐसी अमरता परलोक में !
जीना किसे स्वीकार है कुर्त्ता पहिन कर शोक में ॥
पूरे नहीं होंगे हमारे पूर्व पाप कहीं कभी !
देखो जनार्दन ! कट गई है जेब हाय ! अभी-अभी ॥'
('जयद्रथ-वध' के लेखक से क्षमाप्रार्थना है)

२—"प्रकटित हुई थी बुद्ध विभु के चित्त में जो भावना।
बन कर बिचारी 'टेक्स्ट-बुक' की रह गई प्रस्तावना ॥
फैला अहिंसा बुद्धि-वर्द्धक जैन-पंथ समाज भी।
जिसके विपुल वात्सल्य से खटमल अमर हैं आज भी ॥"
('भारत-भारती' के लेखक से क्षमाप्रार्थना है)

"रजनी ओढ़े जाती थी,
झिलमिल तारों की जाली,
कुकड़ूं कूं ! कुकड़ूं ! बोली,
मुर्गी जो मैंने पाली ॥"
('नीहार' की लेखिका से क्षमा-प्रार्थना है)

है और भविष्य में इतनी अधिक लोक-प्रिय हो जाती है कि न तो दूसरे प्रकार की रचना पाठक पढ़ते ही हैं और न लेखक लिखते ही हैं। इस परिस्थिति में सतत ऐसा होता है कि कोई भी नवीन विचारधारा प्रवाहित ही नहीं होने पाती और साहित्य एकांगी होकर एक ही ओर देखता रहता है और जीवन के अन्य सत्यों से विमुख हो जाता है। ऐसा वातावरण समाज तथा साहित्य दोनों के लिये हितकर नहीं। गतिशील समाज के लिये गतिशील साहित्य ही वांच्छित होगा। इसी सिद्धान्त को मान कर समाज के कुछ विनोदी लेखक तथा विचारक परिहासपूर्ण काव्य लिख कर विषम परिस्थिति का निराकरण करने की चेष्टा करते हैं। श्रेष्ठ काव्य का उपहास्यास्पद रूप देखकर, मनोवैज्ञानिक रूप में, उसके प्रति हमारी श्रद्धा कम हो जाती है और हम दूसरे काव्य-मार्गों के प्रति आकर्षित होने लगते हैं। हिन्दी कविता-क्षेत्र में रहस्यवाद तथा छाया-वाद जब इसी लोकप्रियता से बोझिल हो गया तभी परिहासात्मक काव्य का जन्म हुआ; और अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इसके ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। साधारणतः लेखक की दृष्टि विषय अथवा उसके निरूपण पर तो कम परन्तु शैली पर विशेष रूप में रहेगी। लय, तुक, शब्द-चयन पर वह विशेष ध्यान देगी और हास्य की सृष्टि करेगी।

परिहासात्मक काव्य द्वारा प्रसूत हास्य हमारे एकांगी दृष्टि-कोण तथा असं-तुलित विचारों का संशोधन तथा परिष्कार सहज ही कर लेगा। इस से यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि गद्य को परिहासात्मक रूप देना संभव नहीं। गद्य के माध्यम से भी अनेक लेखकों ने हास्य-रस तीव्र रूप में प्रदर्शित किया है और कहीं कहीं तो लेखकों[1] ने अत्यधिक तीक्ष्ण रूप में तत्कालीन प्रचलित विचारधारा को उपहास्यास्पद प्रमाणित किया है। हाँ, हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का गद्य नहीं के बराबर है और यदि है भी तो उसकी श्रेष्ठता अभी तक प्रमाणित नहीं की गई। प्रायः परिहासपूर्ण काव्य अथवा गद्य द्वारा प्रदर्शित हास्य में लेखकों को संयत तथा संतुलित दृष्टिकोण से काम लेना पड़ेगा। हास्य की भावना तो यों ही हमें असंयत बना देती है और जब काव्य अथवा गद्य उसका वांच्छित क्षेत्र हो जाता है तो उसके खुल-खेलने की संभावना बनी रहती है। उसी समय लेखक के लिये संयत दृष्टिकोण की आवश्यकता अपेक्षित होगी। अत्यधिक स्पष्ट हास्य न तो शिष्टतापूर्ण और न प्रभावोत्पादक ही होगा। कवियों ने मुस्कान को ही सराहा है, अट्टहास को नहीं। मोना लीज़ा[2]

१. जोनैथन स्विफ्ट २. एक विश्व-विख्यात चित्र

की रहस्यपूर्ण मुस्कान को आज तक कोई भी लेखक न स्पष्ट कर सका। इसीलिये वह हास्य जो मुस्कान तक ही सीमित रहा और अट्टहास न हो पाया, रुचिकर तथा स्थायी रूप से आकर्षक रहा है। अट्टहास बर्बरता का चिन्ह है: मुस्कान सुव्यवस्थित आचार-विचार का दिग्दर्शन करायेगा। अट्टहास हमारी पार्थिवता का द्योतक है: मुस्कान हमारी आध्यात्मिकता का प्रतीक है। प्रायोगिक रूप में, प्रायः परिहासपूर्ण साहित्य लिखने वाले व्यक्तियों को अपने साहित्य मार्ग की दो एक अन्य कठिनाइयों को भी ध्यान में रखना होगा। कुछ लेखकों ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार-रूप परिहास-पूर्णकाव्य अथवा उपहासपूर्ण गद्य लिखने की चेष्टा की है परन्तु उसमें विरले ही सफल रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इतिहास की अनेक ऐसी घटनायें जहाँ बर्बरता का नग्न नृत्य है, जहाँ क्रूरता और रक्तपात का विस्तार है उपहास के क्षेत्र में नहीं आ सकेंगी। इसके विपरीत, केवल वे घटनायें सफलतापूर्वक उपहसित हो सकेंगी जिनमें कुछ न कुछ मानवी गुण विद्यमान रहेंगे और जहाँ विशेषतः उन स्थलों पर प्रकाश पड़ेगा जो बहुत दिनों छिपी रहीं और छल-छद्म का व्यापार होता रहा और इतिहासकारों ने उसपर पर्दा डालने का भरसक प्रयत्न किया। इस आधार पर विरचित उपहास-काव्य अथवा लेख में परिहास की मात्रा भी अधिक होगी और उसका स्तर भी ऊँचा रहेगा। कदाचित यह अत्युक्ति न होगी कि आज तक स्पष्टतः इतिहास की घटनाओं को साक्षी रख कर इतिहासकार यह न बतला सके कि आखिर प्रथम युरोपीय युद्ध क्यों छेड़ा गया? उसके द्वारा किसका हित हुआ? और उसमें दलबन्दी किस आधार पर हुई? परन्तु जब उपहास लेखक छल-छद्म तथा रहस्य की समीक्षा करते हुये लिखता है कि 'प्रथम महायुद्ध जर्मनी तथा अमरीका ने छेड़ा फलतः बेलजियम युद्ध-क्षेत्र बना; और इसकी प्रेरणा का कारण इससे अधिक और क्या हो सकता था कि सर्विया के एक हत्यारे ने आस्ट्रिया के एक बड़े जागीरदार की हत्या कर डाली थी।' उपहास का सफल प्रयोग तभी होगा जहाँ कुछ न कुछ मानवी रहस्यों की झांकी प्रस्तुत रहेगी। काव्य, इतिहास, आलोचना, जीवन-वृत्तान्त, यात्रा-संबंधी अनेक पुस्तकों का परिहासात्मक संस्करण प्रायः इसी कारण लोक प्रिय हुआ है।

अनेक लेखकों ने काव्य अथवा तुकबंदियों द्वारा भी हास्य का सफल प्रदर्शन किया है। काव्य का आधार लेकर हास्य की आत्मा, साहित्य-क्षेत्र में, अपने अत्यन्त मनोरंजक रूप में अवतरित हुई है। यों भी काव्य की शक्ति से गद्य की शक्ति की कोई तुलना नहीं, क्योंकि विशेषतः काव्य कल्पना

प्रधान है और गद्य तर्क-प्रधान। जो कुछ भी हम काव्य-रूप में चार पंक्तियों में कह सकेंगे, गद्य रूप में उतना कहने के लिये हमें चालीस पंक्तियाँ लिखनी पड़ेंगी। काव्य विद्युत-समान, क्षणिक प्रकाश में, जो कुछ भी हमें दिखला देता है उसे गद्य अपने विस्तृत वर्णनात्मक रूप में नहीं दिखला सकता। काव्य शब्दों को अनुरंजित कर उनमें नव-जीवन फूँक देता है और वे ही शब्द गद्य की गोद में बैठ कर निष्प्राण हो जाते हैं। गद्य कर्त्ता, क्रिया, विशेषण और कर्म का सफल प्रयोग मात्र है; काव्य भाषा का संगीत रूप है। इसीलिये अनेक हास्य प्रसारक लेखकों ने विशेषतः बहुत कुछ अंश में काव्य का आकार ही अपनाया जिससे परिहासात्मक साहित्य की सफल सृष्टि हुई। इस क्षेत्र में, कहीं हमें 'गड़बड़ रामायण' के दर्शन होंगे और कहीं अनेक श्रेष्ठ कविताओं के हास्यास्पद रूप दिखलाई देंगे। इसी क्षेत्र में व्यंग्यात्मक काव्य की भी गणना होगी। परिहासात्मक काव्य, वर्णनात्मक तथा व्यंग्यात्मक रूप ले सकता है।

असंगति-सिद्धान्त के अन्तर्गत भाषा, शब्द, काव्य-शैली इत्यादि द्वारा प्रदर्शित हास्य के अतिरिक्त अन्य ऐसे भी साधन हैं जिनके माध्यम से श्रेष्ठ लेखकों ने हास्य की सृष्टि की है। इन साधनों में प्रमुख साधन परिस्थिति तो है अन्यान्य सामूहिक घटनायें जिनमें मनुष्य कार्यरत रहता है और दूसरा श्रेष्ठ साधन है स्वतः मानव चरित्र जिसके द्वारा श्रेष्ठ स्तर का हास्य सतत प्रस्तुत किया गया है। घटनाओं को जब कभी लेखकों ने अव्यवस्थित रूप में प्रदर्शित किया तभी हास्य की सफल सृष्टि हुई। इस हास्य क्षेत्र में शब्दों, वाक्यों तथा अन्यान्य व्याकरण सम्बन्धी दोषों का पर किंचित मात्र भी उत्तरदायित्व नहीं: घटनायें स्वतः हास्य-प्रद होंगी। उनमें कुछ ऐसी असंगति[1] रहती है जो स्वतः हँसी ले आती है और लेखक-वर्ग

१—साथ-साथ लौटती हुयी दो बारातों के वर-वधू एक दूसरे के साथ बदल जाते हैं; ऊपर से गिरती हुई चीज अनेक लोगों को असमंजस में डालती हुई एक असाधारण स्थान पर टिक जाती है; लड़के की पीठ पर पड़ती हुयी मार के बीच तनी हुयी मसहरी आ जाती है; झगड़ते हुये पति-पत्नी के बीच अन्य पति-पत्नियाँ आपस में वाद-विवाद ठान कर आपस में झगड़ने लगते हैं; भागता हुआ चोर पुलिसमैन से टकरा जाता है; भागता हुआ पुलिसमैन बाजार से लौटती हुई अपनी पत्नी से टकरा जाता है; और बाजार से लौटती हुई वधू से उसका स्वसुर टकरा जाता है; दो मोटे व्यक्ति आपस में टकरा कर एक दुबले-पतले व्यक्ति पर गिर कर उसका कचूमर निकाल देते हैं; दो झगड़ते हुये व्यक्ति केले

अनेक रूप में घटनाएँ संयोजित कर हास्य का सफल प्रदर्शन कर लेंगे। सिद्धांत-रूप में, असंगति पूर्ण घटनाओं द्वारा प्रस्तुत हास्य में, न तो कष्ट की भावना रहेगी और न किसी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति की और उस असंगति पर विचार करने के पश्चात् ही मनोरंजन प्राप्त होगा। प्रायः सभी असंगति-पूर्ण-घटनाओं में यह आभास मिलेगा कि कोई साधारण तथा समुचित आकृति की वस्तु एकाएक विकृत हो गई है परन्तु उस विकार में न तो द्वेष की भावना होगी और न दुःख का संकेत।

यदि हम असंगतिपूर्ण घटनाओं द्वारा हास्य-प्रदर्शन का मूल ऐतिहासिक स्रोत जानना चाहें तो हमें प्राचीन युग की उन बर्बर टोलियों के द्वन्द्व तथा पराक्रमपूर्ण कार्यों को देखना होगा जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को हतप्रभ कर उनकी हार पर ठहाका लगाती थीं। मध्ययुग में ये टोलियाँ अपने मनोरंजन के लिये अपने मानवी-शिकार को पकड़ कर पानी में डुबकियाँ देतीं; दौड़ाते-दौड़ाते उसे थका देतीं तथा अन्यान्य अमानुषिक कार्यों द्वारा अपने अवकाश को मनोरंजक बनातीं। परन्तु यह हास्य साहित्यिक हास्य से कहीं दूर था : वह केवल घटनाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। कालान्तर में इन घटनाओं का शाब्दिक प्रतिरूप प्रस्तुत होने लगा और घटनाओं की अपनी महत्ता कम हो गयी। वर्णनात्मक रूप में ही वे हास्य प्रसार में सफल हुये।

हास्य के आदि-रूप के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व यह है कि उसके प्रसार में गांभीर्य तथा उच्छृंखलता दोनों तत्त्व बारी-बारी से आपस में मिलते जुलते रहेंगे। कभी वे पृथक होंगे, कभी एक-रूप होंगे और इसका मनोवैज्ञानिक कारण यही है कि मनुष्य के चरित्र में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रायः नाटककारों ने दोनों के सम्यक प्रयोग द्वारा सफल हास्य की सृष्टि की है। उन्होंने गंभीर वातावरण से मुक्ति दिलाने के लिये ही ऐसी घटनाओं की कल्पना की[1] और क्रम से गंभीर तथा मनोरंजक अंकों का प्रदर्शन अपने नाटकों में प्रस्तुत किया। ऐसा करने से वे जीवन के और भी समीप आ गये।

के छिलके पर फिसल कर पूर्व-गति से पुनः लड़ने लगते हैं; छापा-मार पुलिस से बचने के लिये कोई व्यक्ति स्त्री के वस्त्र धारण कर लेता है; स्त्री पुरुष का वस्त्र पहन लेती है और अन्त में दोनों की पोल खुल जाती है इत्यादि। ऐसे स्थल एकत्र कर हास्य-प्रसारक लेखक हास्य प्रदर्शन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

१ देखिये : 'नाटक की परख'—मिश्रितांकी खण्ड

यूनानी नाटकों में साधारणतः हर्ष तथा दुःख का संतुलन प्रदर्शित नहीं होता : वहाँ दुःख की शृंखला टूटती ही नहीं और सुखान्तकी में हर्ष का प्रधानत्व आदि से अन्त तक सतत बना रहता है। परन्तु वास्तव में, जैसा नाटक रचना के दो सहस्र वर्षों के इतिहास से प्रमाणित है मनुष्य दोनों का सन्तुलन चाहता है। हर्ष और दुःख; हास्य और रोदन दोनों का अन्योन्याश्रित प्रदर्शन ही श्रेष्ठ साहित्यकारों को रुचिकर रहा है। अंग्रेज़ी साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर के गम्भीर से गम्भीर दुःखान्तकीयों में विदूषक तथा विनोदी व्यक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐसी ही परिस्थिति श्रेष्ठ उपन्यासकार डिकेन्स के उपन्यासों में भी दृष्टिगत होगा। जहाँ दुःखी तथा विनोदी व्यक्ति साथ-साथ जीवन का सम्पूर्ण सुख-दुःख उठाते हुये अपनी जीवन लीला प्रदर्शित करते रहते हैं। सिनेमा जगत की कहानियों में भी यही परिस्थिति मिलेगी। वहाँ पर भी दुःख और हर्ष का सतत संयोग बना रहेगा और जिस चित्र में केवल एक का ही एकांगी प्रदर्शन होगा वहाँ का 'हाल' खाली ही रहेगा। एक सफल सिने-चित्र दिग्दर्शक का कथन है कि जनता केवल पन्द्रह मिनट तक शिक्षालय का वातावरण तथा शिक्षा-सन्देश सहन कर सकती है : इसके पश्चात् या तो धूम्रपान अथवा मनोरंजक वार्तालाप आरंभ हो जायगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलतः घटना[1] अथवा परिस्थिति प्रधान

१—किंवदन्ती के अनुसार प्राचीन युग के एक सुधारक महोदय ने अनेक अन्धों को एकत्रकर उन्हें ईश्वरीय शिक्षा दी और करुणा से द्रवित हो उन्हें एक सराय में प्रीतिभोज के लिये आमंत्रित किया और कुछ रुपये निकाल कर किसी एक की ओर देखकर चिल्ला कर कहा—'लो ये रुपये—इससे सब खाने का खर्च निकल आयेगा।' प्रत्येक जन्मान्ध यह सोचता रहा कि दूसरे ने रुपया अवश्य पा लिया होगा। भोजन के पश्चात् जब खर्च का ब्योरा आया तो किसी के पास रुपया न था। सराय के मालिक ने क्रोधवश मेहमानों की मनमानी पूजा की और उन्हें बाहर निकाल दिया। इसी घटना का परिष्कृत रूप अमेरिकी समाज द्वारा प्रदर्शित हुआ। एक वयोवृद्ध सज्जन ने अपने मुहल्ले के अनेक छोटे-छोटे बालकों को एकत्र कर एक अच्छे भोजनालय में बैठा कर अच्छी से अच्छी चीजों के लाने का आदेश दिया। भोजन समाप्त होने पर ही था कि उन्होंने व्यवस्थापक को बुलाकर कहा कि इन बालकों को थोड़ी मिठाई और आइसक्रीम भी खिलाइये और मैं दफ्तर जाकर दस मिनट में आ जाता हूँ। जब आइसक्रीम समाप्त

हास्य ने धीरे धीरे शाब्दिक रूप में परिवर्त्तित हो मानवी चरित्र में अपना पूर्ण विकास पाया।

कथित उदाहरण में हास्य इसीलिये प्रदर्शित हुआ कि दो अव्यवस्थित घटनाओं का सम्मिश्रण उनमें प्रस्तुत था : एक वयोवृद्ध निर्धन, बालकों को मनमाना भोजन दूसरे के खर्चे पर करा रहे थे। हास्य का यह तत्व प्राचीन काल की रोमांचक कहानियों, सुखांतकीयों तथा उपन्यासों में पर्याप्त रूप में मिलेगा; और यही मानवी चरित्र में निहित हास्य का पूर्ण उत्कर्ष प्रस्तुत करता है। आज के वास्तविक जीवन में भी, उन कार्यों द्वारा जिनमें न तो क्रूरता का लेश है और न निर्धन उसके शिकार हैं, ऐसा हास्य प्रस्तुत होता है जिसकी श्रेष्ठता के लिये प्रमाण आवश्यक नहीं[1]।

आजकल के हास्य-साहित्य के इतिहास में भी घटना-प्रधान हास्य-प्रदर्शन की युक्ति लोकप्रिय है। इंग्लिस्तान में उन्नीसवीं शती तक तो ऐसी युक्तियाँ अत्यन्त लोकप्रिय रहीं; परन्तु उनकी मनोरंजकता आज भी कम नहीं। प्रायः व्यक्ति विशेष की अधोगति द्वारा ही सतत् हास्य प्रस्तुत हुआ है परन्तु उसमें दुःख तथा क्लेश की भावना को लेशमात्र भी प्रस्तुत नहीं रहना चाहिए। क्लेश की भावना हास्य की शत्रु है; दोनों का साथ रहना असम्भव रहेगा।

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं पहिचान की भूल के कारण प्राचीन काल से अबतक हास्य प्रस्तुत होता रहा है और इसके उदाहरण हमें पौराणिक कथाओं से लेकर आधुनिक नाटकों तथा उपन्यासों में सर्वत्र मिलेंगे। स्पष्ट है कि जिन हास्य-पूर्ण नाटकों की ओर निर्देश किया गया है उनमें घटनायें ही प्रधान हैं और व्यक्ति गौण; धीरे-धीरे घटनायें गौण होती जाती हैं और श्रेष्ठ मानवी चरित्र में निहित हास्य की प्रगति होती जाती है। यह भी सही है कि

होने पर भी वयोवृद्ध सज्जन न आये तो व्यवस्थापक ने बालकों से पूछा—'तुम लोगों के पिताजी का दफ्तर कहाँ है? बालकों ने अवाक होकर कहा—'पिता जी! अरे! वह हमारे पिता कहाँ थे? वे तो हमें यहाँ दावत खिलाने ले आये हैं।' क्रोध तथा हास्य का इससे अच्छा सम्मिश्रण और कहाँ मिलेगा।

१ अभी हाल ही में एक सम्भ्रांत होटल में भरी सभा बीच एक व्यक्ति आये और कमरे में लगी हुई एक बड़ी घड़ी को उन्होंने उतार कर नीचे रक्खा। तत्पश्चात् उन्होंने दीवार को कई बार नापा, फिर घड़ी को नापा और अन्त में घड़ी को एक कागज में लपेट कर बाहर चले गये। उन्हें सबने देखकर भी न देखा। वह व्यक्ति चोर था।

जहाँ घटनायें प्रधान हैं वहाँ व्यक्तित्व का प्रदर्शन भी थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य प्रस्तुत होता रहेगा और जहाँ कहीं व्यक्तित्व द्वारा हास्य का प्रदर्शन होगा वहाँ भी गौण घटनाओं का थोड़ा बहुत सहयोग, वातावरण-रूप में अवश्य बना रहेगा।

परिस्थिति मूलक हास्य के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व भी विचारणीय है। साधारणतः ऐसा ज्ञात होता है कि जब हमारी प्रतीक्षा की
भावना के बीच कोई अवांछित भावना आ जाती है
अवांछित कार्य अथवा प्रतीक्षा तो किसी की हो रही हो और आ कोई
और जाय वो हास्य का प्रदर्शन होने लगता है। कभी
हम कुछ आशा लगाये बैठे रहते हैं और वह पूर्ण नहीं होती अथवा कभी २ यह सोच लेते हैं कि अमुक बात अवश्य हो गई और वहाँ पहुँच कर हमें ज्ञात होता है कि वह हुई ही नहीं तब भी हास्य का प्रसार होने लगता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम कार्य तो कुछ और कर रहे हैं और हो कुछ और रहा है। ऐसी परिस्थिति अत्यन्त हास्यपूर्ण हो जायगी। उदाहरण द्वारा यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा। हम एक स्थूलकाय व्यक्ति को केले के छिलके पर फिसलते देखते हैं : उस केले के छिलके को एक नटखट बालक ने जान-बूझ कर ऐसी जगह रख छोड़ा था जहाँ होकर वह स्थूलकाय व्यक्ति प्रतिदिन टहलने जाता था। ज्यों ही वह गिरता है त्यों ही छिपा हुआ बालक खिलखिलाता हुआ अट्टहास करता है। परिस्थिति के विश्लेषण के फलस्वरूप यह ज्ञात होगा कि प्रायः स्थूलकाय व्यक्ति सड़क पर गम्भीर मुद्रा बनाये चला करते हैं—वे फिसलते नहीं। स्थूलकाय व्यक्ति यह कभी स्वप्न में भी नहीं सोचता था कि वह इस प्रकार फिसल पड़ेगा, फलतः उसके वांछित कार्यक्रम में अनायास ही एक अवांछित भावना अथवा परिस्थिति जन्म ले लेती है जो हास्य का कारण बन जाती है।

उपरोक्त सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रहसन द्वारा प्रसूत हास्य की भी सफलता प्रमाणित रहेगी। प्रहसन के पात्रों और उसमें प्रयुक्त नायक को देख कर हम सतत हास्य प्रस्तुत करते रहते हैं। नायक अपनी वेश-भूषा, भाव-भंगी, तथा अपनी विशेष कार्य-शैली द्वारा हमें आनन्दित रखता है; वह हमारी सहानुभूति-प्राप्ति की सतत प्रतीक्षा करता है और जब तक वह इस प्रतीक्षा में सफल रहता है तब तक हमें प्रफुल्लित रखता है। परन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रहसन का हास्य साधारणतः चरित्र-चित्रण के फलस्वरूप नहीं प्रस्तुत होता। प्रहसन का हास्य प्रायः परिस्थितियों के उलटफेर द्वारा ही

सफल रूप में प्रदर्शित होगा। प्रहसन का नायक अनेक परिस्थितियों में उलझता चला जाता है और वह जिस मार्ग को सरल तथा सुरक्षित समझ कर अपनाता है उसी ओर से नित नवीन उलझने आकर उसे विस्मित कर देती हैं; वह उस चक्रव्यूह से निकल ही नहीं पाता; और उसकी उलझनें देख-देख कर हम अट्टहास किया करते हैं। इस तथ्य के उदाहरण हमें परिस्थिति-मूलक हास्य में सदैव मिलेंगे।

उपसंहार

प्रायः सभी पाश्चात्य देशों के विचारकों तथा दर्शनज्ञों ने हास्य के मूल-स्रोत के अनुसंधान में अपनी समस्त मानसिक शक्ति लगाई और कुछ परिभाषाओं का निर्माण भी किया, परन्तु पिछले अनेक हास्य-सिद्धान्तों की समीक्षा के उपरान्त यह कहना असम्भव है कि इस विषय पर और कुछ कहने की संभावना नहीं। कुछ विचारकों ने हास्य का मूल स्रोत विचार-क्षेत्र में ही पाया और उसे केवल मस्तिष्क द्वारा आविर्भूत माना। उनके विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार हास्य का जन्म तभी संभव था जब मनुष्य एक तटस्थ दर्शक अथवा आलोचक की कार्य शैली अपनाता; जब उसका भावना से किंचित मात्र भी सम्बन्ध न रहता और सहानुभूति विहीन होकर वह केवल मानव-चरित्र संशोधन का कार्य किया करता। मानसिकता, तटस्थता, आलोचनात्मकता तथा तर्क द्वारा ही हास्य की सृष्टि संभव की गई थी। इस सिद्धान्त के निर्माता[1] का कथन है कि हास्य का मूल-स्रोत हमारी विचारशीलता में ही रहेगा और भावना-क्षेत्र से उसका सम्बन्ध घातक होगा और उसका मुख्य लक्ष्य हमारे मानवी-चरित्र का संशोधन है। मानव-समाज हास्य द्वारा अपना नियन्त्रण तथा संरक्षण किया करता है। जिस प्रकार शिक्षक अपनी छड़ी के संकेत से और बेंत की फटकार से अपनी कक्षा के समस्त विद्यार्थियों को एक नियन्त्रण सूत्र में बाँधे रखता है उसी प्रकार हास्य हमारे दोषों और त्रुटियों की ओर संकेत करता हुआ हमारी सामाजिक आत्मा का संशोधन करेगा। वह दोष पूर्ण व्यक्ति को हीन तथा हेय प्रमाणित करता हुआ उसे दोष रहित होने की प्रेरणा देगा; वह समाज का संरक्षक रहेगा। इसके साथ उनका कथन यह भी है कि हास्य तभी सफल रूप में प्रदर्शित होगा जब वह भावना से, सहानुभूति से, मानवी विचारों से, अछूता रहेगा और ज्यों ही हमारे भावना-क्षेत्र की छाया उस पर पड़ी और हमारी सहानुभूति जागृत हुई, हास्य का सफल प्रकाश असंभव होगा। हास्य की आत्मा अपने उत्कर्ष पर तभी आयेगी जब उस वर्ग का कोई एक व्यक्ति तटस्थ होकर उस वर्ग की ओर अपनी

---

१. बर्गसां

मानसिक दृष्टि उठायेगा और अपने भावना-संसार को सुखप्राय कर देगा। और जब तक उसकी मानसिक दृष्टि वर्ग-विशेष को देखती रहेगी हास्य प्रस्फुटित होता रहेगा। यह विचारशील हास्य उच्चकोटि का होगा और यह मानव समाज का नियन्त्रण उसी प्रकार करता रहेगा जिस प्रकार विश्व की नैतिक आत्मा विश्व का नियन्त्रण किया करती है। साधारणतया वही व्यक्ति हास्यास्पद हो जायगा जो अपने वर्ग विशेष का साथ छोड़ कर अपनी अलग चाल चलेगा; प्रस्तुत हास्य उसे समाज का साधारण अंग बन जाने का पुनः आग्रह करेगा; और जब तक वह साधारण समाज के अनुकूल अपने को नहीं बना लेगा हास्य उस पर छींटे कसता रहेगा। समाज का यह एक विशिष्ट नियम है कि प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ग-विशेष तथा सामाजिक वातावरण के प्रति सतत सचेत रहना चाहिये। वह व्यक्ति जो इस प्रकार सचेत नहीं रहता और समाज के अभिमत आचरणों के प्रतिकूल कार्य किया करता है और अपना अलग स्वप्न-संसार बसाये रखना चाहता है हास्यास्पद बन जायगा। हास्य की आत्मा इस प्रकार के व्यक्ति की ओर विशेष रूप में सजग रहती है और वह अवसर निकाल कर उसके दोषोंकी ओर निःसंकोच संकेत किया करती है; वह चाहे अपने कार्य में सफल है अथवा नहीं, यह प्रश्न उसके लिये उठता ही नहीं। छिद्रान्वेषण में ही उसकी सफलता रहेगी और उसका संकेत इतना तीव्र तथा तिलमिलाहट-पूर्ण होगा कि मनुष्य अथवा व्यक्ति सहज ही साधारण समाज का प्राणी बन जाने के लिये आतुर हो उठेगा। चरित्र का संशोधन ही श्रेष्ठ हास्य का प्रमुख लक्ष्य रहेगा; और इस लक्ष्य की सिद्धि व्यक्ति को समाज की दृष्टि में हीन प्रमाणित करने के फलस्वरूप ही संभव होगी।

परन्तु हास्य-क्षेत्र में बौद्धिक सिद्धान्त की श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुये प्रायः हम यह भूल जाते हैं कि जब से मनुष्य पृथ्वी पर अवतरित हुआ तब से वह हँसता आया है; परन्तु वह उन्हीं व्यक्तियों पर पहले पहल हँसा जो स्थूल-काय थे; जो चलते-चलते पसीने-पसीने हो जाते थे; जो हाँफते-हाँफते थक कर फिर चलने लग जाते थे। ऐसे व्यक्ति जो सतत क्षुधा-तृप्ति के पीछे पागल रहते और जिनका जीवन सिमट कर केवल शरीर के ही पालन-पोषण में लगा रहता वे ही अधिक हास्यास्पद होते। प्रायः अपनी शारीरिक रक्षा के लिये वे वीरता का बाना पहन लेते; शेखी मारते, डींग हाँकते और ताल ठोंक मैदान में उतरते; और उस पर आघात के भय से कायरता का बाना पहन मानवता की दुहाई देते; सहानुभूति की प्रार्थना करते और भय से त्राण पाते ही अपने शौर्य तथा पराक्रम के वशीभूत अपनी पीठ ठोंकने लगते। ऐसे

व्यक्ति हास्य साहित्य के अमर आधार रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों पर क्या नहीं बीती। नाटकों के पात्र रूप वे बन्दी किये गये; उन पर सभी लांछन लगाये गये; उन्हें मद्यप, जुआरी, अफ़ीमची, काहिल, धूर्त, पाखण्डी, कायर, क़र्ज़खोर, कृतघ्न इत्यादि अवगुणों द्वारा आभूषित किया गया; और आभूषित होने के ही नाते वे आजतक लोकप्रिय तथा आनन्दप्रसारक हैं। दुःखान्तकी के विफल पात्रों के समान जो या तो आत्महत्या करके अथवा कालचक्र द्वारा पराजित होकर प्राण तजते हुये हमारे हृदय में अपना घर बना लेते हैं, सुखान्तकीयों तथा प्रहसनों के ये आनन्ददायी पात्र लोकप्रिय तथा आनन्ददायी हुये। उनकी न्यूनताओं; उनकी कमजोरियों; उनके दोषों तथा उनके अपराधों को हमने सतत क्षमा किया और उन्हें विशाल मानव-समाज का प्रेम-पात्र बनाया। इस प्रकार के व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित हास्य को हम केवल मानसिकता अथवा बौद्धिक आधारों पर स्पष्ट रूप में प्रमाणित नहीं कर सकते; बौद्धिक सिद्धान्तों का आरोप इन पर नहीं हो सकेगा। इस प्रकार के हास्य के प्रमाण में हमें अन्य आधार ढूँढ़ने पड़ेंगे, दूसरे सिद्धान्तों का निर्माण करना पड़ेगा। एक श्रेष्ठ लेखक का कथन है कि विचारशील व्यक्ति के लिये जीवन सुखान्तक है और भावनाशील के लिये दुःखान्तक। जो व्यक्ति तटस्थ हो जीवन के व्यापार को अपनी आलोचनात्मक शक्ति द्वारा देखता है अपनी हँसी नहीं रोक सकता। जीवन पथ पर चलते हुये आबाल-वृद्ध-वनिता अपने अनेक कार्यों तथा विचारों, वेष-भूषा तथा भावभंगी द्वारा उसे हँसने पर विवश करते रहेंगे। उसे जीवन मनोरंजक एवं आनन्ददायी पर्व समान ज्ञात होगा· वह उसे मूर्खों का महोत्सव समझेगा; उसके सम्मुख जीवन का स्वांग अपने नित नूतन रूप में प्रस्तुत रहेगा जिस पर वह कभी मुस्कुरायेगा और कभी अट्टहास करेगा। उसे जीवन का दुःख-दर्द कभी व्याप्त नहीं होगा। वह वृद्धों की आशा-लीला; प्रौढ़ाओं की ललक; युवाओं का स्वप्नजगत; किशोरों का कुतूहल तथा बालक-बालिकाओं की क्रीड़ा देख-देख कर हर्षित हुआ करेगा। जीवन-संग्राम में गिरता हुआ वीर तथा संग्राम से विमुख कायर; जटिल परिस्थितियों से मुक्ति पाता हुआ युवा और उसी में पुनः फँसता हुआ वयस्क उसको समान रूप में आनन्द प्रदान करेंगे। वह जीवन के इतिहासकार के रूप में ये अनेक दृश्य देखेगा; उन पर हँसेगा और दूसरा पृष्ठ उलट देगा। बुझती हुई धूमिल आँखों से युवाओं के जीवन की रंगरलियाँ देखने वाले वयोवृद्ध; बालकों सी क्रीड़ा में निमग्न युवा और युवती; जीवन को संजो कर रखने वाले सूम; जीवन-व्यापार में खुल-खेलने वाले लोलुप, सभी का हर्षोन्मादित कारवाँ उसके सम्मुख

अबाध गति से चला करता है जिन्हें देख-देख उसे मुस्कुराहट आती जाती है। विचारशील व्यक्ति जीवन को समझता है; इसलिये वह उसपर हँसता है।

इसके प्रतिकूल भावनाशील व्यक्ति जीवन को दुःख का आगार समझ कर आँसू बहायेगा। वह सबके दुःख-दर्द में सहानुभूति प्रकट कर सहयोगी बन जायगा; वह दूसरों को आँसू बहाते देख स्वयं साश्रु हो उठेगा। उसके रोम-रोम में दूसरों का दुःख व्याप्त हो जायगा और वह जीवन की दुःखदायिनी शक्ति के सम्मुख घुटने टेक बैठ जायगा। वह क्लेश का पुरोहित तथा दुःख का पुजारी बन जायगा। मधुयामिनी में वह विरहाग्नि की ज्वाला के दर्शन करेगा; बाल्यावस्था को वृद्धावस्था की भूमिका समझेगा; जीवन को नर्क की संज्ञा प्रदान करेगा। क्रीड़ा में व्यस्त बालक; प्रेम-पयोधि में डूबते-तिराते प्रेमी; आशा की डोर पकड़े हुये वृद्धों को वह मूर्ख, उन्मादित तथा नेत्रविहीन समझेगा। उसे जीवन में पतझड़ ही दिखाई देगा; वसन्त उसकी आँखों से कहीं दूर अपने राग छेड़ता होगा। शोक और दुःख, क्लेश और वेदना, भय तथा मृत्यु इन्हीं के व्यापक रूप को देख-देख कर वह आनन्दविहीन तथा आशाहीन हो जीवन पथ पर सजल आँखों और डगमग पग से अग्रसर होगा। भावनाशील व्यक्ति जीवन से भय खाता है और उसका अर्थ नहीं समझता। इसीलिये वह उस पर आँसू बहाता है।

ऐसी परिस्थिति में क्या ही अच्छा होता कि हम व्यक्ति के भावना-जगत और विचार-जगत को अलग-अलग रख पाते। यदि उसका मस्तिष्क और उसका हृदय एक दूसरे से पूर्णतः विमुख हो जाता और किसी परिस्थिति में भी एक दूसरे का मुँह न देखता तो साहित्य क्षेत्र की हास्य-सम्बन्धी जटिल समस्या कभी की हल हो जाती और परिभाषा के निर्माण में भी कठिनाई न होती। परन्तु क्या यह सम्भव है? यदि यह सम्भव होता तो हम जब चाहते हँसते; जब चाहते रोते; और रोते ही क्यों? भावना जगत पर प्रतिबन्ध लगा कर सतत ठहाका लगाते रहते। जब किसी असहाय वृद्धा के अकेले बालक को रोग-शैयाग्रस्त देखते तो अपने भावना क्षेत्र का पट बन्द कर देतेः विचारशीलता धारण कर लेते और हँस पड़ते; और जब इच्छा होती विचारशीलता का स्रोत खोल कर आनन्दविभोर हो जाते। परन्तु न तो जीवन इतना सरल है और न हमारा व्यक्तित्व ही इतना सहज है कि इस प्रकार का विभेद संभव हो जाय। हमारा मस्तिष्क जितना जटिल है उतना ही हमारा हृदय भी है और दोनों ने मिलकर जिस जटिल व्यक्तित्व का निर्माण किया है उसका सुलझाव बड़े-बड़े मनोविज्ञानज्ञ तथा प्रकाण्ड मनस्तत्वशास्त्री आज तक नहीं प्रस्तुत कर सके।

दोनों में अत्यन्त गूढ़ एवं सूक्ष्म सम्बन्ध है। हम कभी भी केवल मस्तिष्क को कार्यरत नहीं रख सकतेः हृदय किसी न किसी क्षण उसमें अवश्य बाधा डालेगा और हृदय की कार्य-शैली कभी भी मस्तिष्क से अछूती नहीं रह सकती। दोनों मिलजुल कर ही मानव व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। कुछ विचारक यह कहा करते हैं कि हमारे सोच-विचार का क्षेत्र भावना-क्षेत्र से अलग किया जा सकता है परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जब हम विचार करते हैं तो किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना अथवा भावना पर ही विचार करते हैं और जहाँ किसी चुनाव का प्रश्न उठा कि हृदय कार्यशील हो पड़ता है और विचार क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित करने लगता है।

उपरोक्त विवेचन के फलस्वरूप यह निष्कर्ष सहज ही निकलेगा कि जीवन में जब हृदय और मस्तिष्क का पृथक होना संभव नहीं और दोनों एक दूसरे की छाया ग्रहण करते रहेंगे तो इसके अर्थ यह हुये कि जीवन सुखान्तक तथा दुःखान्तक भावनाओं के झूले में सतत झूला करता है; झूले की हर पेंग उसे एक दूसरे से बाल-बाल बचाती हुयी झुलाया करती है और जीवन दोनों के बीच अपनी घड़ियाँ गिना करता है। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि हमारे रोदन में ही हास्य निहित है और हास्य में रोदन। हम हँसते हँसते रो पड़ते हैं; और रोते रोते हँसने लगते हैं। फलतः हास्य और रोदन के जटिल पाश में जीवन अपनी सांस भरा करता है।

उपरोक्त सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है और कहाँ तक इसके द्वारा हास्य की व्यापक आत्मा का सफल विवेचन संभव हुआ कहना कठिन नहीं। इसकी न्यूनता की ओर हम पहले संकेत भी कर चुके हैं; यह केवल एक असंभव आधार पर आरोपित है। इसके द्वारा हम कुछ विशेष कलाकारों[1] की ही कृतियों

---

१. फ्रांस के श्रेष्ठ सुखान्तकी लेखक-मुलियर की रचनाओं द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की मान्यता स्थापित की जा सकेगी। मुलियर के सुखान्तकीयों तथा प्रहसनों के पात्र अपने सामाजिक दोषों के कारण हास्य की परिधि में आकर हास्यास्पद बन जाते हैं। वे ही समाज के साधारण आचार-विचार से विमुख रह कर अपने चरित्र का संशोधन कराते हैं। उनके सामाजिक दोष—गर्व तथा उच्चाकांक्षा; धन लिप्सा; अतिशय चातुर्य्य; भावुकता की प्रचुरता इत्यादि समाज में वैषम्य लाकर उसे अव्यवस्थित करते हैं और समाज की चेतनापूर्ण आत्मा उनके संशोधन के लिये उन पर अपनी वक्र-दृष्टि डाला करती है। मुलियर एक ऐसे कलाकार हैं जो तटस्थ हो जीवन का अभिनय देखते हैं; उनकी तीक्ष्ण

में प्रदर्शित हास्य को समझ पायेंगे : अन्य कलाकारों के हास्याधार इस सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं होंगे। उदाहरण के लिये अनेक अंग्रेज़ी सुखान्तकों तथा प्रहसन लेखकों की रचनायें इस सिद्धान्त विशेष का विरोध करेंगी और उनके ऊपर यह सिद्धान्त किसी मात्रा में भी लागू नहीं हो सकेगा। प्रायः जो अंग्रेजी सुखान्तकी लेखक इस सिद्धान्त के अनुरूप रचनायें करते रहे लोकप्रिय न हो पाये : उनमें मानवता तथा सहानुभूति की न्यूनता पाई गई; वे साधारण पाठकों के हृदय में अपना घर नहीं बना सके। केवल तर्क तथा मानसिकता को अपनानेवाले मानवता के शत्रु प्रमाणित किये गये; केवल नैतिकता का जयघोष करने वाले अमानुषिक ठहराये गये और समस्त जीवन को धर्म-काँटे पर तौलने वाले स्वार्थी, बर्बर तथा हेय समझे गये। तर्क तथा मानसिकता हमें जीवन से दूर ले जाती है; वह हमें उसकी ओर आकृष्ट ही नहीं होने देती। और जब साहित्य जीवन के प्रति हमें आकृष्ट नहीं करता तो उसका प्रयोजन ही क्या? जीवन के प्रति हमें उन्मुख करने का बीड़ा साहित्य जब तक नहीं उठाता उसका कोई मूल्य नहीं: वह निरर्थक है। इसके साथ-साथ वह साहित्य जो हमारे जीवन के टुकड़े-टुकड़े कर उसकी अव्यवस्था अथवा दुर्व्यवस्था का दर्शन कराये वह भी हीन तथा निकृष्ट रहेगा। जीवन के प्रत्येक पहलू को एकांगी रूप में प्रद-

---

मानसिक दृष्टि मानव के सामाजिक दोषों को घेर लेती है और जब तक उनका संशोधन नहीं हो जाता व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार न्यायाधीश अपने सम्मुख लाये गये अभियुक्त पर लगे अभियोग की पूरी जांच पड़तालकर अपना निर्णय तटस्थ हो दिया करता है, वही दृष्टिकोण मुलियर का भी रहता है। यही कारण है कि फ्रांसीसी, अंग्रेजी सुखान्तकीयों की आत्मा को कभी भी नहीं परख पाते: वे उनके लिये नीरस तथा अमानुषिक रहती हैं। शेक्सपियर जैसे लेखक तो उनकी समझ के सदैव परे रहे और उन्होने शेक्सपियर की अनेक श्रेष्ठ सुखान्तकीयों की आलोचना अत्यन्त कटु शब्दों में की। उन्होंने शेक्सपियर को 'मदांध बर्बर' कह कर पुकारा है। समस्त फ्रांसीसी समाज अपने भावना तथा विचार जगत में पृथकत्व देखना चाहता है; यह पृथकत्व अन्य देशों के निवासियों के लिये संभव ही नहीं, फलतः एक दूसरे की शैली तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझना असंभव रहा है। जो नाटककार जीवन को हास्य तथा रोदनयुक्त प्रदर्शित करेगा और जिसे जीवन में हृदय तथा मस्तिष्क एक दूसरे से सम्मिलित जान पड़ेंगे वह उन्हें कदापि भी प्रिय न होगा। वे मिश्रितांकी[1] के घोर विरोधी हैं।

१, देखिये—'नाटक की परख'

र्शित करने से क्या लाभ ? जीवन का श्रेष्ठ तथा आकर्षक चित्र तो समन्वय के फलस्वरूप ही प्रस्तुत हो सकेगा जो लेखक भावना-क्षेत्र पर प्रतिबन्ध लगा कर केवल विचार-क्षेत्र को ही श्रेष्ठ समझे; जो व्यक्ति मस्तिष्क का दास हो और हृदय का शत्रु; जो केवल तर्क का स्वामी हो उससे सामाजिक कल्याण की आशा कैसी ? वह हमें दानवी अनुभूति देगा; मानवता से वह विमुख होगा और श्रेष्ठ साहित्य रचना में भी नितान्त असमर्थ रहेगा; और जब तक लेखक विचार तथा भावना-क्षेत्र दोनों का समन्वय प्रस्तुत नहीं करेगा उसकी कला निष्प्राण रहेगी। प्रायः सभी श्रेष्ठ लेखकों में यह पृथकत्व दिखाई नहीं देगा: यही उनकी श्रेष्ठता का प्रमाण भी रहेगा। उनकी सभी श्रेष्ठ रचनाओं में विचार तथा भावना; मस्तिष्क तथा हृदय; तर्क तथा सहानुभूति दोनों का मधुर मिलन सतत दृष्टिगत होगा। और जब कभी यह पृथकत्व संभव हुआ और कलाकार ने केवल अपनी मानसिकता की परिधि में पात्र को विचरण करने दिया और उसे हास्यास्पद प्रमाणित करने के प्रयत्न में अपने भावना जगत पर प्रतिबन्ध लगाने के फलस्वरूप जिस पात्र का निर्माण किया वह हास्यास्पद न होकर दुःखान्तक हो गया। इस एकांगी दृष्टिकोण से हास्यपूर्ण पात्र अपना हास्य खो बैठा; वह अश्रुपूर्ण हो हमारी दुःखद भावनाओं को प्रेरणा देने लगा। प्रायः सभी श्रेष्ठ कलाकारों ने केवल मानसिक दृष्टिकोण द्वारा हास्य प्रस्तुत नहीं किया; उनका भावना-क्षेत्र भी साथ ही साथ उद्वेलित तथा प्रेरित रहा; उन्होंने मस्तिष्क द्वारा ही हास्य-सुन्दरी को वरण नहीं किया; उन्होंने उसको हृदय से भी वरण किया तभी वह इतनी आकर्षक तथा हृदयग्राही बनी। श्रेष्ठ लेखकों ने अपने व्यक्तित्व का विकेंद्रीकरण नहीं किया; उन्होंने उसके टुकड़े नहीं किये; उन्होंने अपनी समस्त आत्मा तथा अपने समस्त व्यक्तित्व को प्रयुक्त कर जीवन का जटिल नाटक प्रस्तुत किया और दर्शक तथा पाठकवर्ग के हृदय में युग-युगान्तर के लिये अपना स्थान बना लिया।

श्रेष्ठ सुखान्तक कलाकारों की कला का एक विशेष तत्व यह रहा है कि उनकी कला मानवता से ओत-प्रोत रही; उस मानवता में सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हुई थी और उस सहानुभूति में मानवीय बन्धुत्व की भावना सतत साकार होती दिखलाई देती थी। जिस व्यक्ति पर वे हँसे, उसके उन्होंने आँसू भी पोंछे; जिस व्यक्ति को उन्होंने हास्यास्पद प्रमाणित किया उसकी आत्मा को आशीर्वाद भी दिया और जिस दोष की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की उसमें मानवीयता का भी दर्शन कराया। उन्होंने साश्रु होकर अपने हास्यपूर्ण पात्रों की कल्पना की; अपने मस्तिष्क तथा अपने हृदय दोनों के सहयोग द्वारा

उनमें जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने यथार्थ परिचय देने के साथ-साथ कल्पनात्मक सहानुभूति भी सतत प्रस्तुत की। यही कारण है कि अनेक हास्यास्पद तथा हास्यपूर्ण पात्रों के दोषों के प्रति हमारी घृणा की भावना नहीं जागती; हमारी मानवता की भावना जागती है। दोषों के प्रति हमारी सहानुभूतिपूर्ण आँखें 'सजल' रहती हैं और हम सजल आँखों से ही उन पर हँसते चलते हैं। हम यह प्रमाणित करते चलते हैं कि जिस मनुष्य में दोष नहीं, वह मानव नहीं; या तो वह देवता है अथवा ऐसा निरीह प्राणी जिसका समाज में कोई स्थान नहीं। तांबे का पुट पाकर ही स्वर्ण की आत्मा खिल उठती है; उस पर दूनी चमक आ जाती है। श्रेष्ठ हास्य प्रसारक पात्र दोषों के कारण और भी प्रिय हो जायँगे: वे हमारे ही स्वजन जान पड़ेंगे; वे पग-पग पर हमारी सहानुभूति की प्रेममय याचना करेंगे और हम हँसते-हँसते उन्हें गले लगा लेंगे। श्रेष्ठ हास्य सहानुभूति द्वारा ही आविर्भूत होगा। इस हास्य में परिहास की आत्मा सजग रहेगी और परिहास ही श्रेष्ठ कोटि का हास्य प्रस्तुत कर सकेगा।

प्रकरण—११

हास्य-सिद्धान्तों की समीक्षा

हास्य की आत्मा के अनेक रूपी प्रदर्शन के अनुसन्धान के पश्चात् उनके आधार पर परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों का निर्माण करने का जब हम प्रयत्न करेंगे तो हमें कदाचित सफलता मिल सकेगी। सिद्धान्त निर्माण में जैसा कि स्पष्ट है हास्य की अनेक रूपता ही सतत कठिनाई प्रस्तुत करती रही है और जो सिद्धान्त इस अनेकरूपता का ध्यान न रखेंगे वे कभी भी मान्य न होंगे और वे हास्य को अपनी परिधि में बाँध भी न सकेंगे। जैसा हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं कभी प्रतिकूल परिस्थिति द्वारा हास्य प्रस्तुत हुआ, कभी वैषम्य उसका आधार रहा और कभी मानवी कुरूपता द्वारा उसका आविर्भाव हुआ। कभी शब्दों की अव्यवस्था, कभी उपमाओं की नूतनता तथा कभी हमारी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति द्वारा भी उसका जन्म हुआ। हमने कभी अट्टहास किया; कभी हम मुस्कुराये और इन सभी आधारों को सफल सिद्धान्त निर्माताओं को दृष्टिगत रखना होगा।

साहित्य-क्षेत्र के अनेक विषयों के सम्बन्ध में सिद्धान्त बनाने के कार्य में यूनानी विचारकों[1] ने ही पहले-पहल कदम उठाया है। यद्यपि वे हास्य की आत्मा का पूर्णरूपेण दर्शन नहीं कर सके थे फिर भी उन्होंने इस अनुसंधान में अपनी मौलिकता का प्रमाण दिया और कम से कम दो चार ऐसे उपकरणों की ओर संकेत किया जो आगे चलकर सिद्धान्त-निर्माण में सहायक हुये। उन्होंने ही सुखान्तकी की व्याख्या करते हुये निम्न अथवा हीन कोटि के व्यक्तियों द्वारा हास्य-प्रदर्शन का आदेश दिया था और ऐसी शारीरिक कुरूपता अथवा दोष के आधार पर हास्य-प्रदर्शन सम्भव समझा था जिसमें दुःख अथवा पीड़ा की भावना[2] का किंचित मात्र भी संकेत न मिले। आजकल के व्यापक अनुसंधान की दृष्टि से यह सिद्धान्त अत्यन्त एकांगी तथा असंतोषजनक अवश्य ज्ञात होगा परन्तु ऐसे युग में जहाँ साहित्य न्यून था और साहित्यकार कम थे यह दोष क्षम्य होगा। सफल तथा व्यापक सिद्धान्त निर्माण के लिये विस्तृत तथा व्यापक साहित्यिक प्रयास आवश्यक होंगे। कला पहले जन्मती

---

१. अरस्तू—देखिये—'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त'

२. अरस्तू—देखिये—'नाटक की परख'-सुखान्तकी खण्ड

है, कला-सिद्धान्त बाद में निर्मित होते हैं। यही कारण है कि हास्य सम्बन्धी इस प्रथम सिद्धान्त में हमें दो एक संकेत मात्र ही मिल पाये और यूनानियों द्वारा किसी सन्तोषजनक सिद्धान्त का निर्माण संभव न हुआ।

दूसरे सिद्धान्त-निर्माताओं[1] ने पहले पहल वस्तु अथवा व्यक्ति की हीनावस्था द्वारा ही हास्य का आर्विभाव संभव समझा था और जहाँ कहीं भी उन्हें उस व्यक्ति के दर्शन हुए जो उनकी मानसिक तुलना में हीन अथवा निकृष्ट ज्ञात हुआ उनके लिये हास्य का कारण बन गया। मनुष्य की निजी गर्व की भावना ने दूसरे व्यक्ति को हीन समझा, उसे श्रेष्ठतर से गिरता हुआ देखा और उसे हास्यास्पद ठहराया। सहज रूप में, प्रत्येक व्यक्ति में, गर्व की भावना निहित रहती है और अपने प्रदर्शन के अवसर ढूँढ़ा करती है और जब कभी और जहाँ कहीं उस गर्व का शमन हुआ हास्य का भी आर्विभाव होगा। यह रहस्यपूर्ण सहज स्वभाव मनुष्य में क्योंकर आया और उसका ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण क्या है, इस अनुसंधान का क्षेत्र दर्शन तथा मनोविज्ञान होगा परन्तु हमारे प्रयोजन के लिये इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रायः हीनता अथवा तुच्छता की भावना जब कभी तुलनात्मक रूप में, हमारे सम्मुख आयेगी, हास्य प्रस्फुटित होगा। ज्यों-ज्यों वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति यह भावना ज़ोर पकड़ती जायगी मुस्कान, अट्टहास में परिवर्तित होता जायगा। यह भी संभव है कि हमारे मानस में यह भावना सहसा प्रस्तुत हो जाय और जहाँ ऐसा होगा वहाँ एकाएक अट्टहास भी होगा। हास्य की गति आकस्मिकता की मात्रा द्वारा ही नियन्त्रित अथवा परिचालित रहेगी। इसी अनुभव के आधार पर अँग्रेज़ी आलोचकों ने हास्य-प्रदर्शन का सिद्धान्त निर्मित किया। उनका विचार था कि व्यक्तियों के प्रति हीन भावना द्वारा ही हास्य आर्विभूत होगा और जहाँ कहीं उनकी हीनावस्था, तुच्छता अथवा अधोगति का संकेत मिलेगा वहीं हास्य भी जन्म लेगा। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में यूनानी सिद्धान्त संकेत रूप में उपस्थित हैं। यूनानियों ने कुरूपता तथा निम्न कोटि के व्यक्तियों के जीवन द्वारा हास्य आर्विभूत समझा था और उनका सिद्धान्त विशेषतः शारीरिक आधारों पर ही निर्भर था। अंग्रेज़ी आलोचकों ने इन शारीरिक आधारों की न्यूनता समझ कर मनोवैज्ञानिक आधारों पर चिन्तन किया और सहज गर्व की भावना में ही हास्य के मूल-स्रोत के दर्शन किये। इसके अतिरिक्त गर्व की भावना का आर्विभाव तथा उसका शमन हीनता

१. टॉमस हॉब्स

अथवा तुच्छता की भावना की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही प्रस्तुत होगा और साधारणतः ये भावनाएं निम्नकोटि के व्यक्तियों तथा उनके शारीरिक दोषों एवं कुरूपताओं से ही संबंधित रहेंगी। इस सिद्धान्त पर भी प्राचीनयुग के सिद्धान्त की छाया स्पष्ट है।

इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त भी पूर्णतः सन्तोष-जनक नहीं; इसमें भी हास्य की अनेकरूपता को परिलक्षित करने की सामर्थ्य नहीं। वास्तव में हम अनेकरूपी हास्य को इस एकांगी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं रख सकते क्योंकि परिस्थिति-द्वारा प्रादुर्भूत हास्य जिसका विवेचन हम कर चुके हैं इसकी परिधि में नहीं आ सकेगा। हां, यह सही है कि मानवी-चरित्र द्वारा आविर्भूत हास्य बहुत कुछ इस सिद्धान्त से स्पष्ट होगा परन्तु हास्य के इतने अनगिनत अवसर हैं जो इस सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट न हो सकेंगे। स्थूल-काय व्यक्ति को केले के छिलके पर फिसलते हुये देख कर हमारी गर्व की भावना अवश्य जागृत होगी और हास्य प्रस्तुत करने का प्रयास भी करेगी परन्तु मानव-जगत में अनेक ऐसे अवसर भी आते हैं जहां हममें गर्व की भावना नहीं वरन एक विचित्र प्रकार की छल एवं द्वेषपूर्ण भावना का जन्म होता है और हमें मन ही मन या स्पष्ट रूप में हंसी आने लगती है। सर्कस में एक तार पर नृत्य करते हुये व्यक्ति का असमंजस हमारे हृदय में एक विशेष भावना को जन्म देता है जो स्पष्टतः गर्व की भावना नहीं होती फिर भी हम मुस्कुराते अथवा हंसते रहते हैं। हवा में पतंग समान जब किसी व्यक्ति की टोपी अठखेलियां करती हुई उड़ने लगती है और वह व्यक्ति उसके पास पहुँच कर भी उसे पकड़ नहीं पाता तब भी हमारे हृदय में एक विद्वेषपूर्ण भावना के जन्म द्वारा हास्य आविर्भूत होने लगता है। केवल गर्व की भावना के प्रसार द्वारा, कदाचित् हास्य का प्रस्फुटन प्रमाणित नहीं हो सकेगा। फलतः हमें किसी दूसरे सिद्धान्त का आश्रय ढूंढना पड़ेगा जो हास्य के अनेक आधारों पर नियंत्रण रख सके।

उपरोक्त सिद्धान्त को आधार-रूप मान कर उसमें संशोधन प्रस्तुत करते हुये यह[1] तर्कपूर्ण विचार रखा गया कि हास्य का आविर्भाव तभी होगा जब कोई ऐसा व्यक्ति हीनता अथवा अधोगति को प्राप्त हो जो स्वयं गर्वपूर्ण भाव-भंगी बनाये हो और अहंभाव से प्रेरित हो परन्तु साथ ही साथ वह किसी अन्य तीव्र भावना का प्रसार भी न करे। यदि व्यक्ति स्वतः अहंभाव से प्रेरित नहीं और गर्व-पूर्ण मुद्रा नहीं बना सका तो हास्य का सफल प्रदर्शन न हो

१. अलेक्जाण्डर बेन

पायेगा। ऐसे अवसर भी जो किसी अहंभाव से ग्रसित व्यक्ति के जीवन की पृष्ठ-भूमि बन कर आयेंगे हास्य की छाया प्रस्तुत करेंगे। अतएव यह स्पष्ट है कि केवल दर्शक-वर्ग में गर्व की भावना के आविर्भाव द्वारा सतत हास्य प्रस्तुत नहीं हो सकेगा। दूसरे यह भी विचारणीय है कि हास्य केवल व्यक्ति के कार्यों के आधार पर नहीं वरन परिस्थितियों, संस्थाओं, साहित्य-शैलियों इत्यादि के आधार पर भी प्रस्तुत होता आया है। इस तर्क से यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि व्यक्ति अथवा मनुष्य की उपस्थिति नितान्त अनावश्यक होगी क्यों कि यह सिद्धान्त तो सतत सर्व-मान्य रहा है कि बिना किसी स्पष्ट मानवी सम्बन्ध के हास्य का जन्म नहीं होगा। परन्तु यह सम्बन्ध यदि स्पष्ट नहीं तो अव्यक्त अथवा अस्पष्ट अवश्य होना चाहिये तभी हास्य का प्रस्फुटन संभव होगा। जब हम परिस्थिति-जन्य अथवा संस्था एवं साहित्य-शैलियों द्वारा आविर्भूत हास्य का अनुसंधान करेंगे तो हमें उनके पीछे मानवी-सम्बन्धों की छाया सतत मिलेगी। व्यक्ति ही परिस्थिति को जन्म देते अथवा उसके शिकार होते हैं; संस्थायें व्यक्तियों द्वारा ही संरक्षित होती हैं और साहित्य-शैलियों को जन्म देने वाले साहित्यकार, व्यक्ति ही होंगे!

वास्तव में इस संशोधित सिद्धान्त में भी हमें यूनानी आलोचक अरस्तू के सिद्धान्त की पूर्ण झलक मिलेगी। अरस्तू ने ही यह स्पष्टतः सिद्धान्त रूप में कहा था कि हास्य-प्रदर्शन में किसी पीड़ात्मक अथवा दुःखपूर्ण अथवा किसी प्रकार की विपरीत भावना अहितकर होगी; वह हास्य को कुण्ठित करेगी। यदि किसी हास्यास्पद व्यक्ति ने अपने हास्यास्पद कार्यों में करुणा अथवा रोष की भावना अथवा सहानुभूति का प्रसार किया तो हास्य प्रस्फुटित नहीं होगा। करुणा अथवा रोष की विपरीत भावना उसे निष्क्रिय बना देगी और हँसने के विपरीत हम क्रमशः आँसू बहायेंगे अथवा प्रतिशोध लेने का विचार करेंगे। अरस्तू के सिद्धान्त का यह अंश पूर्णतः नवीन सिद्धान्त में सम्मिलित हुआ। पिछले युग के आलोचक[१] ने दर्शक-वर्ग में गर्व की भावना अपेक्षित समझी थी और नवीन सिद्धान्तानुसार यह गर्व की भावना अब दर्शक वर्ग में अपेक्षित न समझी गई। हास्यपूर्ण कार्य करते हुये व्यक्ति में ही यह भावना स्थानान्तरित की गई तभी नवीन सिद्धान्त कुछ अधिक व्यापक बन सका। इस नवीन संशोधित सिद्धान्त में यूनानी तथा अंग्रेज़ी आलोचकों के सिद्धान्त की न्यूनता दूर की गई और हास्य सिद्धान्त को व्यापकता प्राप्त हुई।

---

१. हॉब्स

इस नवीन सिद्धान्त को भी यदि तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो हमें अनेक ऐसे अवसर अथवा स्थल स्मरण आयेंगे जो इस सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि हास्य के अनेक रूप इससे नियन्त्रित अवश्य होंगे परन्तु फिर भी इसमें इतनी व्यापकता नहीं जो सम्पूर्ण हास्य-संसार को अपने में समेट ले। मानव-जीवन के अनेक छोटे-मोटे स्थल जो न तो पीड़ा कारक और नरोष-दायक होंगे और हास्य प्रस्तुत करेंगे, इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाँयगे। अनपेक्षित घटनाओं, चरित्र-सम्बन्धी दोषों, पाखण्ड इत्यादि अथवा नैतिक त्रुटियों अथवा आशिष्टता प्रसूत हास्य इस सिद्धान्त से मर्यादित तो रहेंगे परन्तु फिर भी अनेक प्रकार के हास्य इसकी परिधि के बाहर ही रहेंगे। साधारणतः हास्य-प्रदर्शन के लिये अनेक हास्य-प्रसारक लेखकों ने वैषम्य की सहायता ले हास्य प्रस्तुत किया है और यह विचारणीय है कि क्या वैषम्य द्वारा प्रसूत हास्य इस सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थान पा सकेगा। वैषम्य की उपस्थिति में तो हमें किसी प्रकार की हीनता अथवा अधोगति के दर्शन नहीं हो पायेंगे। रंग-मंच पर उलटी टोपी, उलटी कमीज़ अथवा उलटा कोट पहन कर जब विदूषक नृत्य करता है और अपने नृत्य की तुलना में श्रेष्ठ नर्तकी के नृत्य को हीन प्रमाणित करता है तो हम वैषम्य की उपस्थिति द्वारा हास्य प्रस्तुत करते हैं। इस अवसर पर किसी भी प्रकार की हीन भावना आविर्भूत नहीं होती परन्तु फिर भी हम हँसते और आनन्द उठाते हैं। यदि कोई कोरा तर्कवेत्ता यह कहे कि उलटी टोपी और उलटी कमीज हीनता की परिचायक है तो हम उससे सहमत न हो पायेंगे। वास्तव में अनुसंधान तो इस बात का करना है कि क्या जब हास्य प्रस्तुत होता है तो हीनता की भावना अवश्यमेव प्रस्तुत रहेगी? अनेक वैषम्यपूर्ण परिस्थितियों तथा कथनों द्वारा प्रसूत हास्य इसका अपवाद होगा। उदाहरण के लिये जब अपनी माता की गोद में बालक एक बड़े गुड्डे को सोते देखता है, तो उसे बरबस हँसी आती है। यह हास्य हीनता अथवा अधोगति की भावना द्वारा प्रसूत नहीं होगा : इसका कारण वैषम्य ही होगा। बन्दरों की टोली में, दो चार छोटे-मोटे बन्दरों को कलाबाज़ियाँ लगाते हुये देख कर बालक अट्टहास कर चलते हैं और इस दृश्य द्वारा प्रस्तुत हास्य में तो अधोगति अथवा हीन-भावना के किंचित-मात्र भी दर्शन नहीं होंगे। इसके साथ-साथ भाषा-प्रयोग द्वारा प्रस्तुत हास्य तो इस सिद्धान्त का पूर्ण अपवाद प्रस्तुत करेगा।

हास्य-सिद्धान्तों के अनुसंधान में कुछ पाश्चात्य देशों के विचारकों ने बहुत परिश्रम किया और नवीन सिद्धान्तों के निर्मित करने का प्रयत्न भी किया।

परन्तु उन्होंने हास्य को मानसिक-क्षेत्र का बन्दी बना दिया और यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि हास्य का आर्विभाव केवल मानसिक-क्षेत्र में विफल आशा के फल-स्वरूप होगा। जहां कहीं भी हमारी वांच्छित आशा विफल होगी हास्य प्रस्तुत होगा, और जब कभी हम किसी शुभ-आशा की अकारण विफलता का अनुभव करेंगे हास्य प्रसारित होगा। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त में वैषम्य द्वारा प्रसूत हास्य-सिद्धान्त की पूर्ण छाया है परन्तु यह सिद्धान्त भी व्यापक न प्रमाणित होगा। इसका कारण यह है कि केवल मानसिक-क्षेत्र की तर्कपूर्ण अनुभूतियों द्वारा हास्य नहीं प्रस्तुत हुआ करता। विफलता अथवा सफलता तर्क क्षेत्र की मानसिक अनुभूतियां रहेंगी और वे अनेक रूपी हास्य की आत्मा को अपनी परिधि में न ला सकेंगी। इस न्यूनता का कारण यह है कि विचारक विशेष[1] ने केवल वक्रोक्ति पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया

१—इमैन्युयेल कान्ट। अपने सिद्धान्त के समर्थन में दर्शनज्ञ कान्ट ने जो उदाहरण दिया उस से ही इस सिद्धान्त की न्यूनता स्वतः प्रमाणित हो जायगी—कहा जाता है कि एक दावत में एक निमंत्रित व्यक्ति ने एक गिलास में शराब ढ़लती देखी और गिलास थोड़ी ही देर में नकानक भर गया और झाग बह चला और फिर भी बोतल आधी भी खाली नहीं हुई। यह देख कर उस व्यक्ति ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया। जब उस व्यक्ति से पूछा गया कि इसमें आश्चर्य की बात क्या है तो उसने उत्तर दिया कि मुझे इस पर आश्चर्य नहीं कि गिलास पूरा भर गया और बोतल आधी भी खाली नहीं हुई; मुझे तो आश्चर्य इस बात पर है कि इतना झाग और इतनी शराब इस बोतल में किस प्रकार भर दी गई। इस उदाहरण से स्पष्ट होगा कि इसके द्वारा प्रस्तुत हास्य में अवांच्छित विफलता की भावना तो कम, हीनता अथवा तुच्छता की भावना अधिक दृष्टिगत होगी। हम व्यक्ति के बाल-तुल्य सरल अज्ञान पर मुस्कुरायेंगे; उसे हीन समझेंगे।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमें कुछ प्रश्न ऐसे दे दिये जाते हैं जिनको हल करने में हम घण्टों उलझे रहते हैं और जब हम अधीर हो उसका हल पूछते हैं तो यह उत्तर मिलता है कि उसका हल कोई है ही नहीं। इतना सुनते ही हमारी हँसी फूट पड़ती है। हास्य का कारण यही है कि हमें यह आभास मिला कि हमें बेवकूफ़ बनाया गया और हम सहज ही बेवकूफ़ प्रमाणित हो गये। इस परिस्थिति में भी अधोगति की भावना अधिक होगी, अवांच्छित विफलता की कम।

और अन्य हास्य-प्रसारक अवसरों पर ध्यान नहीं दिया। वास्तव में वक्रोक्ति विचार-क्षेत्र में ही जन्म लेती है और उसी क्षेत्र में रह कर वह प्रायः हास्य प्रस्तुत करती है और संभवतः यही कारण है कि उसका आनन्द केवल मानसिक-क्षेत्र का आनन्द होगा और वह अवांछित विफलता की भावना द्वारा आविर्भूत भी होगा। अन्य किसी प्रकार का भी हास्य इस सिद्धान्त द्वारा न तो स्पष्ट होगा और न इस आधार पर प्रस्तुत प्रमाण सन्तोषजनक ही होंगे।

हास्य की आत्मा को मानसिक-क्षेत्र में ही सीमित रखने तथा उसके प्रदर्शन के आधार और उनके प्रमाण ढूंढ़ने का प्रयत्न एक दूसरे[1] पाश्चात्य विचारक ने भी किया। उन्होंने भी हास्य को मानसिक क्रिया एवं प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही आविर्भूत समझा। हमारे मानस में अनेक वस्तुओं की प्रतिच्छाया प्रस्तुत रहती है और उसी के सहारे हम जो भी वस्तु प्रत्यक्ष देखते हैं उसकी तुलना किया करते हैं और जब दोनों की तुलना ठीक नहीं बैठती तो इस असम भावना के फलस्वरूप हास्य प्रसूत होने लगता है। दृष्टिगत वस्तु और उसकी मूल प्रतिच्छाया में जहाँ कहीं भी असाम्य के दर्शन होंगे, हास्य प्रस्फुटित होगा। परन्तु इस असाम्य का बोध एकाएक होना चाहिये; जितना ही यह बोध आकस्मिक होगा उतना ही हास्य तीव्र रूप में प्रस्तुत होगा; और उस असमानता का अनुभव जितना अनपेक्षित होगा उतना ही सफल हास्य-प्रदर्शन भी होगा। परन्तु इस आकस्मिक बोध का सिद्धान्त भी अनेक रूपेण हास्य को स्पष्ट करने में सफल न होगा। और सच तो यह है कि जिन-जिन उदाहरणों से दर्शनज्ञ ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि करनी चाही है वे उदाहरण पर्याप्त नहीं और उनके द्वारा सिद्धान्त को पूर्णरूप से समझना असम्भव होगा। विशेषतः जब हमारे सम्मुख ऐसे उदाहरण आयेंगे जिनमें न तो असाम्य का आकस्मिक बोध होगा और न हास्य मानसिक-क्षेत्र में सीमित होगा तो इस सिद्धान्त की न्यूनता और भी अधिक विदित हो जायगी। यह कहना कि प्रत्येक वस्तु की प्रतिच्छाया के ही सहारे हम प्रस्तुत अथवा दृष्टिगत वस्तु की जांच करते हैं और उसे समझते हैं अत्युक्ति होगी। अनेक अवसर ऐसे होंगे जब बिना इस मानसिक मंत्रणा के हम दृष्टि-गत वस्तु को पहचान लेंगे और उसकी स्वाभाविकता अथवा कृत्रिमता की परख कर लेंगे। उदाहरण के लिये जब हम किसी छोटे बालक को अपने पिता के लम्बे-चौड़े जूते पहन कर इधर-उधर घूमते देखते हैं; तो हँसने लगते हैं और यह भी

१—शॉपेनहायर

सत्य है कि हमारे मानस में बालक के पिताकी न तो कोई प्रतिच्छाया है और न उससे हमारा कोई परिचय ही है । नाटक-क्षेत्र के कुछ उदाहरणों से इस सिद्धांत की न्यूनता और भी स्पष्ट हो जायगी । नाटकों के कुछ प्रसिद्ध पात्र ऐसे हैं जिनकी मूर्खता अथवा सरल अज्ञान, जिनकी बाल-सुलभ चंचलता तथा शरारतें देख कर हम सतत हँसते आये हैं और हमें उनकी मूर्खताओं, सरल अज्ञान तथा शरारतों का कोई सम अथवा असम रूप हमारे मानस में (प्रतिच्छाया रूप में) चित्रित नहीं रहता । होना तो यह चाहिये कि इनकी मूल-प्रतिच्छाया हमारे मानस में हो; हम उनसे विचार-विमर्ष करें, उनकी आकस्मिक असमानता का बोध प्राप्त करें, तत्पश्चात् खिलखिला कर हँसें । साधारण जीवन में प्रायः ऐसा होता रहता है कि हम मूर्खता को केवल मूर्खता समझ कर हँसते हैं : ज्ञान से उसका साम्य नहीं बैठाते ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य देश के दर्शनज्ञों ने जिन सिद्धान्तों की परिधि में हास्य की आत्मा को रखना चाहा है वे विफल ही रहे । केवल मानसिक-क्षेत्र की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप हास्य की अनेकरूपेण रूप-रेखा की परख न हो पायेगी । हाँ, इतना इन सिद्धान्तों द्वारा प्रमाणित अवश्य हुआ कि किसी न किसी रूप में वैषम्य की भावना का सहयोग हास्य-प्रदर्शन में अवश्य दृष्टिगत होगा परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि केवल इसी आधार पर समस्त हास्य-प्रदर्शन के अवसरों का अनुसंधान संभव होगा। इन एकांगी सिद्धांतों द्वारा हास्य के कुछ एक अवसर ही, और वह भी थोड़े बहुत अंश में ही परिलक्षित हो पायेंगे । सच तो यह है कि प्रायः अनेक अवसरों पर तुच्छता, हीनता अथवा अधोगति की भावना का सहयोग भी हास्य-प्रदर्शन में अवश्य दिखलाई देगा । जिस घटना, अवसर अथवा व्यक्ति पर हम हास्य प्रस्तुत करते हैं प्रायः हीनता की भावना, किसी न किसी मात्रा में अवश्य झलक मार जाती है । परन्तु यह ध्यान रहे कि केवल अधोगति की भावना द्वारा ही हम समस्त मानवी जीवन का हास्य प्रमाणित नहीं कर पायेंगे । तर्क रूप में, संभवतः हम यह अवश्य कहेंगे कि जहाँ कहीं हास्य प्रस्तुत होगा वैषम्य की भावना दृष्टिगत होगी परन्तु जब हम मनोवैज्ञानिक रूप में, हास्य के मूल स्रोत का अनुसंधान करने में संलग्न होंगे तो हमें अनेक अपवाद खड़े दिखाई देंगे । तर्क, मनोविज्ञान का साथ नहीं दे पायेगा; दोनों की समष्टि प्रस्तुत न हो पायेगी । कहीं-कहीं, तर्क द्वारा हम अधोगति की भावना का भी संकेत पायेंगे परन्तु मनोविज्ञान हमें उसी समय ऐसे अवसरों का स्मरण करायेगा जिन पर हम सहज-रूप से हँसते आये हैं । वट-वृक्ष की छाया में वानर दम्पति के किलोल पूर्ण बालकों

की उछल-कूद तथा उनकी हास्यपूर्ण भावभंगी देख कर संसार का समस्त बालक-वर्ग हँसता आया है। जब छोटे बन्दर अपने छोटे हाथों से अपनी पीठ खुजलाने की विफल चेष्टा करते हैं अथवा अपने घुटनों पर दाहिनी कोहनी टेक कर अपनी तर्जनी नाक पर रख कर हताश मुद्रा बनाकर बैठ जाते हैं तो कौन ऐसा बालक है जो इन्हें देख कर खिलखिला न पड़े। परन्तु इस अवसर पर अधोगति की भावना के किंचित मात्र भी दर्शन नहीं होते : हास्य फिर भी प्रस्फुटित होता है। उपरोक्त विश्लेषण द्वारा इस बात की आवश्यकता प्रमाणित होगी कि यदि इन दोनों एकांगी सिद्धान्तों की समष्टि द्वारा एक तीसरा व्यापक सिद्धान्त बन जाता तो हास्य के व्यापक रूप को हम सरलता पूर्वक हृदयंगम कर लेते। इसी समन्वय का प्रयास भी कुछ लेखकों[1] तथा साहित्यकारों ने किया और उन्होंने हास्य-प्रदर्शन में प्रयुक्त तर्क और मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से यह सिद्धान्त मान्य ठहराया कि जब और जहां कहीं हमारी मानवी प्रतीक्षा, किसी प्रकार की कुरूपता (वस्तु अथवा व्यक्ति की) अथवा असुविधा द्वारा एकाएक निष्फल होगी तो वैषम्य की भावना द्वारा हास्य का आविर्भाव होगा। इस समन्वित सिद्धान्त में हम देखेंगे कि इसमें हमारे पार्थिव तथा मानसिक—दोनों अनुभवों का सहारा लिया गया। साधारणत: यह कहा जा सकता है कि हास्यप्रद व्यक्ति के कार्य तथा घटनायें हमारे मानसिक क्षेत्र की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा हास्य का प्रसार करेंगी और हास्यास्पद व्यक्ति अथवा घटना हमें हीनता अथवा तुच्छता का आभास देकर हास्य प्रदर्शन का आवाहन देगी। परन्तु थोड़े से ही विचार के पश्चात हमें ज्ञात होगा कि हास्य की व्यापक-आत्मा इस प्रकार सीमा-बद्ध न रह पायेगी। दोनों क्षेत्र प्रायः एक दूसरे से घुल-मिल जायंगे। फलतः इस प्रकार का तर्कपूर्ण विश्लेषण अधिक उपयोगी न होगा परन्तु जिन दोनों एकांगी सिद्धान्तों का समन्वय हमने प्रस्तुत किया है उसके द्वारा बहुत कुछ अंश में हमें व्यापक हास्य की आत्मा का परिचय सहज ही मिल जायगा। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि जब कभी हमारे सम्मुख शारीरिक, मामसिक, व्यवहारिक, सामाजिक तथा नैतिक पीड़ारहित कार्य अथवा घटना अपने साधारण और अभिमत स्तर से गिरती हुई दिखलाई देगी और जिसके फलस्वरूप किसी प्रकार की क्षति न होगी हास्य के आविर्भाव में सहायक होगी।

प्रायः कुछ विचारकों ने हास्य को केवल मनोविज्ञान, तर्क अथवा दर्शन-क्षेत्र में रख कर उस पर विचार किया और इसके फलस्वरूप उन्हीं क्षेत्रों

---

१. हेज़ालिट

की शब्दावली द्वारा उसकी परिभाषा निर्मित करने का प्रयास भी हुआ। साधारणतः कुछ अन्य लेखकों ने हास्य का अध्ययन सामाजिक क्षेत्र में ही सीमित रखा और हास्य की प्रायोगिक उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुये यह सिद्धान्तरूप में निश्चित करना चाहा कि हास्य समाज एवं व्यक्ति का सफल नियंत्रणकर्त्ता है और साहित्य में उसका प्रयोग भी इसी दृष्टिकोण से होना चाहिये; और जो सिद्धान्त हास्य की सामाजिक उपयोगिता का लेखा न रख पायेंगे एकांगी होंगे। हास्य की आत्मा को उपयोगिता तथा प्रायोगिकता के बंधन में डालने वाले विचारकों ने कदाचित हास्य के उन अवसरों पर किंचित मात्र भी दृष्टिपात नहीं किया जहाँ उपयोगिता के दर्शन किसी भी रूप में नहीं होते। हास्य की ऐतिहासिक गाथा के अन्तर्गत हम देख चुके हैं कि हास्य का कोई प्रायोगिक रूप उस प्राचीन काल में न था। यही नहीं, बाल-जीवन के हास्य में भी हमें प्रायोगिकता के दर्शन नहीं होंगे। विदूषक की उलझी हुई वेष-भूषा तथा उनका निरर्थक वार्तालाप बालकों को सतत आनन्ददायक रहा और वे हास्य प्रदर्शित करते रहे हैं। इसका सहज कारण यह हो सकता है कि बालक में प्रस्तुत सहज हास्य की मात्रा में एकाएक वृद्धि हो जाती है और वह खिलखिलाहट अथवा अट्टहास का रूप ले लेता है। हो सकता है कि कुछ खींच-तान के पश्चात् हमें तर्करूप में, इन हास्यास्पद दृश्यों अथवा कार्यों में हीनता अथवा अधोगति की भावना का भी आभास मिल जाय। परन्तु वस्तुतः जब ऐसे दृश्य अथवा कार्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते हैं तो हमारी नैसर्गिक गांभीर्य की भावना सहमी हुई चुपचाप खड़ी रहती है; हम अपने को नियंत्रित रखते हैं: हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर एक प्रकार का अप्रत्याशित निग्रह विद्यमान रहता है। हास्यप्रद अथवा हास्यास्पद कार्य अथवा विवरण हमारे निग्रह को हटा देता है; हम कुछ क्षणों के लिये वह नियंत्रण तोड़ देते हैं; और स्वतंत्र होते ही हास्य की आभा फूट पड़ती है। प्रायः मानसिक गांभीर्य अथवा नियन्त्रित भावों के स्वातंत्र्य द्वारा भी हास्य प्रस्फुटित होगा। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं कि जब किसी गंभीर अवसर पर कोई ऐसी घटना घट जाती है जो हमारा ध्यान एकाएक बटा कर उस गंभीर स्तर से गिरा देती है और उस गंभीर वातावरण में एक विचित्र लहर दौड़ जाती है तो हमारा नियंत्रित गांभीर्य एकाएक मुक्ति प्राप्त कर लेता है और उसी क्षण हम हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं। जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति, बर्फ की टोपी सिर पर रखते ही आँखें खोल देता है अथवा गंभीर भाषण सुनते हुये कोई व्यक्ति, अपनी

नासिका पर लगे सभ्यतासूचक नियंत्रण को हटा कर लगातार छींकने लगता है तो हास्य की धारा फूट पड़ती है। गांभीर्य से मुक्ति सफल हास्य प्रस्तुत करती आई है।

ऐतिहासिक रूप में प्रत्याशित हास्य-सिद्धान्त की प्रगति के सम्बन्ध में उस प्राचीन युग के बर्बर के हास्य की मनोवैज्ञानिक समीक्षा उपयोगी होगी जिसका साहित्य में विवरण नहीं मिलता। बर्बर-हास्य की पृष्ठ-भूमि में हमें साधारणतः घृणा की भावना के दर्शन होंगे। घृणा की भावना से ही प्रेरित होकर बर्बर ने पहले-पहल अट्टहास किया होगा; पराजित व्यक्ति ने अपनी अधोगति का अनुभव कर एक अत्यन्त घृणापूर्ण दृष्टि विजेता की ओर फेंकी होगी; और विजेता में गर्व की भावना प्रकाश पाकर हास्य रूप में प्रस्फुटित हुई होगी। वास्तव में विद्वेष की मूल भावना अत्यन्त रहस्यपूर्ण रूप में हमारे मानस में प्रस्तुत रहती है और अपने अनेक रूप में परिवर्तित होती हुई हमें समयानुसार वशीभूत किये रहती है। उसी का एक परिवर्तित एवं संशोधित रूप हास्य भी है। प्रायः सभी प्रकार के हास्य में इस मूल विद्वेष की भावना का कुछ न कुछ आंशिक रूप परिलक्षित होगा और जब कभी हम घटना, कार्य तथा भाषा-मूलक हास्य का आन्तरिक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन करेंगे हमें इस विद्वेष की भावना कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, अवश्य प्रस्तुत दिखलाई देगी। परंतु इस कोटि के हास्य को हम उस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही स्थान देंगे जो तुच्छता अथवा हीनता की भावना की पुष्टि में ही हास्य प्रदर्शन संभव समझती है। प्रतिद्वन्द्वी की हीनावस्था हममें सहज ही गर्व का प्रसार कर हास्य प्रस्तुत करती है और जब हम स्वयं विजित हो हास्य-प्रदर्शन का अवसर प्रस्तुत करते हैं तो हमारा निजी हास्य एक नवीन मानवता द्वारा संशोधित एवं परिमार्जित रूप में प्रस्तुत होने लगता है। जब हम किसी व्यक्ति को फिसलते देखकर हँसते हैं तो हमारे हास्य की पृष्ठ-भूमि में गर्व की भावना निश्चय ही साकार होती दिखलाई देगी; परंतु थोड़ी देर बाद में हम स्वयं फिसल जाते हैं तो भी हम हँसते हैं—उस क्षण विद्वेष अथवा गर्व की भावना पूर्णतः अपने मूल रूप में नहीं प्रदर्शित होती। वह मानवी आवरण ग्रहण कर लेती है: वह सौजन्य और मानवता का पुट लिये अवतरित होती है। संभव है कि कुछ विचारक गर्व की भावना द्वारा हास्य का आविर्भाव न मानें परंतु तर्क इसका सफल उत्तर देगा। कदाचित् समाज का कोई विरला ही व्यक्ति होगा जो हास्य का कारण बनना चाहे: वह सतत उस टोली में रहना चाहेगा जो दूसरों पर हँसे, क्योंकि अपने को उपहासित व्यक्तियों

से श्रेष्ठ समझने की इच्छा सतत उसमें बनी रहेगी। अतएव स्पष्ट है कि जो दूसरों पर हँसते हैं, वे अपने को श्रेष्ठ समझते हैं; और दूसरों को हीन : तथा अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना के पीछे गर्व की भावना के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

इस संबंध में आश्चर्य-मूलक हास्य की समीक्षा भी हितकर होगी जिस पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं। किसी भी हास्यप्रद अथवा हास्यास्पद वस्तु, घटना अथवा कार्य को देखते ही हम एक विचित्र प्रकार से चौंक उठते हैं, हमारी सांस कुछ आंशिक क्षणों के लिये रुक सी जाती है। जितनी आश्चर्यजनक घटना होती है उतनी ही मात्रा में हम चौंकते भी हैं; और इससे छुटकारा पाने का सफल साधन हास्य रहेगा। हास्य हमें उसी क्षण मुक्ति प्रदान करता है और आश्चर्य का क्षण हास्य की खिलखिलाहट में परिवर्तित हो जाता है।

अन्त में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन अनेक हास्याधारों के अतिरिक्त एक ऐसा हास्याधार है जिस पर अनेक विशेषज्ञों[1] ने विचार किया है और हास्य के सिद्धान्त-निर्माण में सहयोग दिया है।

हास्य-प्रदर्शन के अन्य मनोवैज्ञानिक आधार : क्रीड़ा-प्रियता

साधारणतः मानव-प्रकृति में क्रीड़ा के प्रति एक विचित्र आकर्षण रहता है। बालकों के जीवन में इस रुचि के प्रमाण और उनके उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। युवकों तथा वयस्कों, प्रौढ़ों तथा वृद्धों में भी इस रुचि की प्रायः कमी नहीं मिलेगी। ये सब समयानुसार और मनोनुकूल ऐसे अवसर ढूंढ़ ही निकालते हैं जिसके द्वारा उनकी सहज क्रीड़ा-प्रियता की तुष्टि हो जाय। जन्तु-जगत में भी इसके अनगिनत उदाहरण देखने को मिलेंगे जिसका आशय कदाचित यह हो सकता है कि उन्हें अपने शरीर को शक्तिपूर्ण रखने का चाव रहता है और वे अकारण ही उछल-कूद मचाये रहते हैं : यहाँ तक कि अपने परिवार अथवा अपनी टोली के वयस्कों से भी छेड़खानी करने में वे जरा भी असमंजस नहीं दिखलाते। क्रीड़ा-कलाप की शारीरिक आवश्यकता के अतिरिक्त यह भी संभव है कि इसके द्वारा अपने आगामी जीवन के उत्तर-दायित्व का निर्वाह करने के लिये वे उछल-कूद में संलग्न रहते हों। अपने जीवन के कठिन-प्रांगण में उतरने के लिये साहस तथा वीरता की भावनायें उनमें अपेक्षित होंगी और इसी तैयारी में उनकी बाल-क्रीड़ा सहयोग देती रहती है। मानव समाज में भी

१. ग्रूज ; लायड मॉरगन।

बालकों की भाग-दौड़, लुका-छिपी, धींगा-मुश्ती इत्यादि उनके शारीरिक स्नायुओं को शक्ति प्रदान करती है, मानसिक सतर्कता लाती है और उन्हें जीवन-पथ का सफल यात्री अथवा कर्म-भूमि का सफल नायक बनाने में सहायक होती हैं। प्राचीन-युग का बर्बर अपनी संचित शारीरिक शक्ति द्वारा अपने विरोधियों, शत्रुओं अथवा प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर अट्टहास करता हुआ अपनी विजय की सूचना देता है : उसी का आधुनिक परन्तु संशोधित एवं सुसंस्कृत रूप हमें बाल-क्रीड़ा इत्यादि में दृष्टिगत होगा । इसी क्रीड़ा-कलाप के द्वारा बालक अपने को सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनाता है । परन्तु इस तर्क से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि यह समस्त क्रिया-कलाप बालक आगामी जीवन के उत्तरदायित्व को समझ कर ही करता है । ऐसा नहीं होता । बालकों की तो यह सहज प्रवृत्ति रहती है और इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में ही हमें उसकी उपयोगिता का माप लगाना पड़ेगा । वयस्कों अथवा प्रौढ़ों की गोष्ठी में जब व्यंग्य-वाण चलते हैं और वक्रोक्ति अपने पूर्ण-रूप में प्रयुक्त होने लगती है तो हमें उस बर्बर की याद आती है जो अपनी विजय पर अट्टहास किया करता था । उनके आधुनिक सुसंस्कृत वंशज व्यंग्य तथा वक्रोक्ति के अस्त्रों के प्रयोग द्वारा अपनी मानसिक शक्ति का परिचय देने का प्रयत्न करते हैं और इनके मूल में हास्य की आत्मा निहित रहती है । प्राचीन काल का असभ्य व्यक्ति लोहे अथवा प्रस्तर के अस्त्रों द्वारा अपनी विजय-प्राप्ति के पश्चात् अट्टहास करता था, आज का मानव शब्दों के वक्रोक्तिपूर्ण प्रयोग द्वारा, मानसिक-क्षेत्र में, विजय पाकर हास्य प्रदर्शित करता है । यही कारण है कि छद्म-वेश, कुटिल कार्य और भाग-दौड़ इत्यादि जब सफलतापूर्वक अपनी उद्देश्य-सिद्धि करते हैं तो हमें हंसी आती है : ये हमारी सहज क्रीड़ा-प्रियता के संशोधित एवं सामाजिक रूप रहेंगे । कभी-कभी निरर्थक कार्यों, अटपटे बैन तथा क्रिया-विहीन वाक्यों द्वारा हास्य-धारा फूट पड़ती है और वे भी हमारी क्रीड़ा-प्रियता के सफल प्रमाण रहेंगे । हमारे मानस के एक कोने में क्रीड़ा-प्रियता का बांध बंधा रहता है और उसका वाह्य प्रदर्शन जहाँ कहीं भी हम देखते हैं, हमारा बांध तोड़ देता है और हास्य-धारा अबाध गति से बह चलती है । अपनी मूर्खतावश अथवा भाग्य की कुटिलता द्वारा जब हमसे ऐसे अवांछित कार्य होने लगते हैं जिनमें पीड़ा की भावना का लेश भी नहीं रहता तो हमारी क्रीड़ा-प्रियता की भावना जागृत हो जाती है और हम हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि क्रीड़ा-प्रियता भी मानवी हास्य का प्रामाणिक आधार रहेगा । परन्तु जैसा अन्य सिद्धान्तों के विषय में प्रमाणित हो चुका है केवल इसी सिद्धान्त पर अनेकरूपेण हास्य

की परख असंभव होगी। इसका सरल प्रमाण यह है कि हास्य के अनेक रूप ऐसे भी होंगे जिनमें क्रीड़ा-प्रवृत्ति किंचित मात्र भी दिखलाई नहीं देगी फिर भी हास्य सफलतापूर्वक प्रदर्शित होगा। अनेक ऐसे व्यक्तियों के कार्यों पर हम हँसते आये हैं जो बहुत विस्मरणशील रहे हैं और अनेक ऐसे दोषों पर भी हास्य प्रस्तुत करते आये हैं जहाँ क्रीड़ा की भावना कभी भी प्रस्तुत नहीं रह सकती। परन्तु विचारक यदि इस बात पर तुल जाय कि इस सिद्धान्त को खींचतान के पश्चात कुछ अधिक व्यापक बनाए तो वे सहज ही यह कह सकते हैं कि जब कभी ऐसे गम्भीर अवसरों पर हास्य प्रदर्शित होता है तो वह भी क्रीड़ा-प्रवृत्ति का एक नूतन रूप रहता है। क्रीड़ा-प्रवृत्ति, जब कभी स्पष्टतः प्रस्तुत नहीं रहती तब भी वह अव्यक्त रूप में प्रेरणा प्रदान कर सकती है। वह हमारे सम्मुख एक ऐसी चित्तवृत्ति ला सकती है जो रह रह कर क्रीड़ा-प्रवृत्ति से सम्बन्ध जोड़ती रहेगी और हमें इस बात पर विवश करेगी कि हम परिस्थिति को किंचित मात्र भी गम्भीर न समझें, उसे क्रीड़ा-प्रवृत्ति के क्षेत्र में ले आयें और उस पर हास्य प्रदर्शित करें। अनेक निरर्थक, नवीन, एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वार्तालाप अथवा अवांछित गम्भीर अवसरों पर हम हँस पड़ते हैं और इस प्रकार का समस्त हास्य क्रीड़ा-प्रवृत्ति के अन्तर्गत प्रमाणित हो सकता है। अनेक आकस्मिक घटनाएँ, मानसिक कमज़ोरियाँ, वितर्क तथा कुतर्क जो सहज ही गम्भीर वातावरण लिये प्रस्तुत होंगे हमें अपनी गम्भीर मुद्रा कुछ क्षणों के लिये भुला देने पर विवश करेंगे और हमें अपनी नैसर्गिक क्रीड़ा-प्रियता के वशीभूत हो हास्य-प्रदर्शित करने लगेंगे।

अश्लील तथा अशिष्ट के प्रति भी जो हास्य हम प्रस्तुत करते हैं सहज ही क्रीड़ा-क्षेत्र से संबंधित रह सकता है। जब हम किसी व्यक्ति को अश्लील अथवा अशिष्ट के प्रति अत्यन्त अस्पष्ट एवं कलापूर्ण ढंग से संकेत करते देखते हैं तो हमारी चंचल क्रीड़ा-प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है। गम्भीर स्तर से एकाएक हमारी कला-प्रवृत्ति उस संकेत को चंचल क्रीड़ा-क्षेत्र में ले आती है। इसी प्रकार पाखण्ड, गर्व, दंभ इत्यादि द्वारा प्रदर्शित हास्य का सम्बन्ध भी हम क्रीड़ा-जगत से स्थापित कर सकते हैं क्योंकि जब कभी पाखण्ड अथवा गर्व द्वारा निर्मित गम्भीर वातावरण हमारे सम्मुख आता है तो हम उस परिस्थिति को उलट-पलट कर देखने लगते हैं और क्रीड़ा-प्रवृत्ति अपने प्रायोगिक रूप में हमारे सम्मुख आने लगती है। जिस प्रकार छोटे बालक उछलते हुये गेंद अथवा गुब्बारे को दबा-दबा कर और उसे छेद कर उसकी सारी हवा निकालकर ही दम मारते हैं और अट्टहास करते हैं उसी प्रकार हम भी दम्भ

तथा पाखण्ड की भावना को झटके दे-देकर और उसे झकझोर कर अपनी अन्तर्हित क्रीड़ा-प्रवृत्ति की तुष्टि करते हुए हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं।

थोड़े बहुत तर्क के उपरान्त हम गम्भीर, मानसिक क्षेत्र के अनेकरूपी हास्य को भी इसी उपरोक्त सिद्धांत के अन्तर्गत प्रमाणित कर सकते हैं। समाज में, जहाँ कहीं भी हमें हास्यप्रद तथा हास्यास्पद अवसर अथवा व्यक्ति तथा संवाद-क्षेत्र में श्लेष, व्यंग्यार्थ, इत्यादि के उदाहरण मिलते हैं हमारे मानसिक क्षेत्र में खलबली मच जाती है। साधारणतः समाज का व्यक्ति तर्कपूर्ण तथा सुसंबद्ध विचारों वाला व्यक्ति होता है; वह किसी प्रकार का व्यतिक्रम अथवा असंबद्धता अथवा शब्द प्रयोग की असमंजसपूर्ण भूमिका सहन नहीं कर पाता। वह वार्तालाप में स्पष्टता वांच्छनीय समझता है जिससे वह शीघ्र ही आशय हृदयंगम कर सके। फलतः जब ऐसे अवसर आते हैं अथवा ऐसे कार्य होने लगते हैं जो मनुष्य के गम्भीर मानसिक वातावरण से साम्य नहीं बैठा पाते तो विषम परिस्थिति को स्पष्ट करने के लिये हम हास्य प्रस्तुत करने लगते हैं। गम्भीर मानसिक वातावरण में जब उस स्तर में गिरी हुई कोई भावना हस्त-क्षेप करेगी तो हास्य अवश्य प्रस्तुत होगा। यही हस्तक्षेप हमारी क्रीड़ा-प्रवृति का परिचायक रहेगा। परंतु इस विवेचन के आधार पर यह भ्रामक तर्क नहीं करना चाहिये कि समस्त मानव-समाज सतत गम्भीर वातावरण ही अपेक्षित समझता है : उसकी भी एक सीमा रहेगी। गम्भीर वातावरण कुछ देर तक तो प्रिय रहता है परन्तु यह गम्भीर नियंत्रण बहुत समय तक न तो रुचिकर होगा और न हितकर। मनुष्य थोड़े समय के बाद उस वातावरण के बाहर भी झांकना चाहता है। वह उस मानसिक बोझ से मुक्ति भी पाना चाहता है; अतएव जब कभी इस छुटकारा पाने की इच्छा बलवती होती है तो उसका सरल साधन केवल हमारी क्रीड़ा-प्रियता ही रहेगी। इसी साधन की सहायता से हम उन सभी ऐसे अवसरों की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं जो हमें मुक्तिदायक होंगे। और किसी भी क्षेत्र से ऐसा अवसर आते ही हम उसे अपना लेते हैं; फलतः हास्य की सृष्टि होने लगती है। उदाहरण के लिये गम्भीर मुद्रा बनाये जब घर का हिसाब लगाते-लगाते गृहणी थक जाती है और उसका छोटा बालक आकर एक पैर पर खड़ा होकर भैरवी का आलाप छेड़ता है तो वह एकाएक मुस्कुरा पड़ती है; अथवा किसी प्रकाण्ड विद्वान द्वारा आत्मा के अमरत्व पर प्रवचन के समय अर्ध-निद्रित अवस्था में कोई व्यक्ति 'धत् तेरे की' कहता हुआ सुन पड़ता है तो हँसी रोके नहीं रुकती।

मानव को बहुत काल तक गम्भीर वातावरण में रहना रुचिकर नहीं रहता; यह उसका सहज स्वभाव है।

इस सिद्धांत के विरोध में कुछ विचारक यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि उपहास-काव्य[1] द्वारा आविर्भूत हास्य में क्रीड़ा-प्रवृत्ति की छाया नहीं के बराबर होगी। प्रायः यह तर्क अकाट्य रहेगा; परन्तु हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हास्य की आत्मा अनेक स्वरों से हमारा आवाहन करती है। जिस प्रकार वीणा पर गत बजाने वाला अनेक रसों का संचार कर सकता है और अनेक रूप में हमें प्रभावित कर सकता है उसी प्रकार हास्य हमें व्यापक रूप में प्रेरित करता है। बीन की धुन सुनकर मृग चकित होते हैं; सर्प फन निकाल कर झूमने लगते हैं; नायिका अपने प्रेमी का आवाहन सुनने लगती है और नायक उसमें अपने भाग्य का अरुणोदय देखता है उसी प्रकार हास्य की चंचल, विस्मयकारिणी व्यापक आत्मा अपने विविध रूप में मानव-हृदय में प्रकाश पाती है। जैसा हम पहले कह चुके हैं हास्य की प्रगति का इतिहास मानव-संस्कृति की प्रगति का इतिहास है। बर्बर युग के हास्य से लेकर आधुनिक युग के हास्याधारों की समीक्षा के उपरान्त हम यह निःसंकोच कह सकेंगे कि जिस प्रकार मनुष्य का मानस अथाह है और मनोविज्ञान एवं मनस्तलशास्त्र केवल उसकी कोरें ही छू पाये हैं उसी प्रकार हास्य का विशाल साम्राज्य दो चार तर्क पूर्ण अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की परिधि में ही सीमित नहीं रखा जा सकेगा।

---

१. देखिये—'काव्य की परख'

प्रकरण—१२

हास्य के मनोवैज्ञानिक आधारों की समीक्षा एवं अनुसंधान के अन्तर्गत इस तथ्य का अनुसंधान बहुत रोचक होगा कि किस प्रकार मानव-समाज में हास्य आविर्भूत हुआ और उसका आदिरूप क्या था।

हास्य का उद्गम: मानवी क्रीड़ा-क्षेत्र आधुनिक काल में, इसमें तो शायद संदेह नहीं रह गया कि मानव, विकासवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत, अपना विकास करता आया है और कालान्तर में उसने जन्तु-जगत से अपने को बहुत ऊँचा उठाया और श्रेष्ठ स्तर प्राप्त कर लिया। प्रायः समस्त पक्षी-वृन्द तथा जीव-जगत में आनन्द प्रदर्शित करने के कुछ न कुछ नाद-विशेष रहे हैं और श्वान-समाज तथा वानर-वर्ग के जीवन का समुचित अध्ययन करने के उपरान्त तर्करूप में यह कहा जा सकता है कि अपने आनन्द को प्रदर्शित करने के लिये मनुष्य के आदि समाज ने भी कुछ नाद-विशेष ही उच्चारण किये होंगे। यह अनुमान किया जा सकता है कि उसके सहज हास्य-प्रदर्शन के वे ही अवसर रहे होंगे जिन अवसरों पर बालक सहज ही हास्य प्रस्फुटित करते हैं। आकस्मिकता तथा आश्चर्य की भावना ही कदाचित उसके मूल आधार रहे होंगे। और जिस प्रकार बालक अपनी क्रीड़ा-प्रियता का परिचय अनायास ही दिया करते हैं उसी प्रकार मनुष्य के आदि समाज ने भी प्रायः इन्हीं भावाधारों पर हास्य प्रस्तुत किया होगा। बालक के जन्म से लेकर वृद्ध होने तक यदि इस बात का अनुसंधान किया जाय कि हास्य उसने स्पष्टतः कब प्रदर्शित किया, किन उपकरणों द्वारा प्रदर्शित किया और कैसे-कैसे उसकी आनन्द-मुद्रा, मुस्कान, हास्य तथा अट्टहास में परिणत हुई तो यह विषय अत्यन्त रोचक प्रमाणित होगा। इसका अनुसंधान अनेक अनुसंधान कर्त्ताओं[1] ने किया भी है और वे अत्यन्त रोचक और फलप्रद निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

अनुसंधान कर्त्ताओं के विवरण द्वारा यह सरलतापूर्वक प्रमाणित किया जा सकता है कि शिशुओं एवं बालकों के मुख पर जब कभी मुस्कान का प्रस्फुटन दिखाई दिया आनन्द-प्रद आश्चर्य की भावना उसके मूलमें अवश्य प्रस्तुत रही। शिशुने जब कभी शारीरिक आनन्द का अनुभव किया और जब उसकी

---

१ डार्विन; प्रेयर; मिस शीन; मिसिज़ मूर; डॉ. हिल; रीवॉ; ए. लेहमान।

रसेन्द्रियों ने प्रसन्नता की अनुभूति उसे दी तो वह मुस्कुराया और आगे चल-कर खिलखिलाया । माता की उपस्थिति क्षुधा-शान्ति, गुदगुदे बिछौने पर कलाबाज़ियाँ, गुदगुदी इत्यादि द्वारा, जिसकी व्यापक समीक्षा हम कर चुके हैं, उसने हास्य के जो अनेक मूल रूप अपने बाल-मुख पर प्रस्तुत किये उनके तर्कपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से प्रमाणित होगा कि ये गुण कुछ तो उसमें जन्म-जात थे और कुछ अनुकरण-प्रवृत्ति द्वारा स्पष्ट हुये और कुछ आयु पाकर अपने आधुनिक रूप में आर्विभूत हुये । परन्तु जब यह प्रश्न किया जाता है कि मुस्कान के प्रदर्शन तथा उस रूप को स्पष्टतः हास्य में परिवर्तित होने की प्रेरणा, कब और कैसे मिली तो केवल अनुमान का ही सहारा लेकर यह कहा जा सकता है कि जब मनुष्य बर्बर अवस्था से बहुत आगे बढ़ा होगा तभी उसने स्पष्ट हास्य का प्रदर्शन भी किया होगा क्योंकि इसके लिये आदि-मनुष्य के नाद्-तन्तुओं का परिष्कार आवश्यक था और बिना उनके पूर्ण विकास के हास्य-प्रदर्शन का स्पष्ट रूप संभव न हो सकता था । फलतः इसी अनुमाना-त्मक परन्तु तर्कपूर्ण आधार पर यह कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों बालक के शारीरिक एवं मानसिक गुणों का विकास होता गया वैसे ही वैसे हास्य की भी रूप-रेखा परिवर्तित होती गई; जो आनन्दपूर्ण मनोभाव केवल शारीरिक संकेत अथवा अस्पष्ट नाद-रूप में आर्विभूत हुये, समाज की प्रगति के साथ-साथ, हास्य का व्यापक रूप प्रस्तुत करने लगे ।

सामाजिक क्षेत्र में हास्य की प्रगति

हास्य के मूल स्रोत और मूल-स्वरूप के अनुसंधान के पश्चात् यह प्रश्न सहज ही उठेगा कि आधुनिक समाज में हास्य का मूलरूप किन-किन व्यवधानों, अवसरों, उपक्रमों इत्यादि द्वारा हास्य, उपहास, व्यंग्य तथा परिहास के अनेक रहस्यपूर्ण रूप में अवतरित हुआ । समाज से उसे कैसी और कितनी सहायता मिली और इस सहायता द्वारा उसने अमुकरूप क्यों कर ग्रहण किया ? इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि ज्यों ज्यों हमारा समाज प्रगति करता गया; ज्यों ज्यों बर्बर अवस्था से सामाजिक जीवन की ओर मानव अग्रसर होता गया; ज्यों ज्यों उसके नैतिक आचरण का परिष्कार होता गया और ज्यों ज्यों उसके अन्य मानवी गुणों का प्रकाश होता गया त्यों त्यों हास्य की रूप रेखा भी परिष्कृत एवं सुसंस्कृत होती गई । आज के हास्य की परिष्कृत रूपरेखा मानवी प्रगति का पदानुसरण करती आई है और बिना हमारे समाज के व्यापक तथा अनेक-रूपेण परिष्कार के हास्य का आधुनिक रूप में आर्विभूत होना असंभव ही होता । सामाजिक प्रगति ने हास्य के मूल-स्वरूप

की ऐसी काया-पलट कर दी है कि अब उसके मूल-स्वरूप की परख साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में ही संभव होगी।

किसी भी देश, जाति अथवा राष्ट्र के इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि बर्बर अवस्था से मनुष्य ने किस प्रकार और किस गति से प्रगति की। उसने अपने जीवन का विकास किस-किस क्षेत्र में किया; उसका मानसिक-क्षेत्र किस प्रकार विस्तृत हुआ और उसके बर्बर मानस में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति किस प्रकार और कितनी मात्रा में आलोक प्रदर्शित करती आई है। मनुष्य ने, समाज की पाठशाला में, व्यापक शिक्षा ग्रहण की; उसने उसके संरक्षण में रह कर और स्वयं उसकी रक्षा करते हुये स्वतः अपने जीवन की प्रगति की है। समाज ने ही उसे समस्त गुण सिखलाये; वहीं रह कर उसने अपने श्रेष्ठ स्तर का अनुभव किया; उसी के सम्पर्क द्वारा उसने दैनिक जीवन की कठिनाइयाँ तथा दैनिक जीवन के उत्तरदायित्व का अनुभव किया। मध्य युग का विश्वास और मध्ययुग की श्रद्धा उसने समाज द्वारा ही अपने चरित्र में परिवेष्टित की; और आधुनिक युग के व्यवसायी, द्वन्द्वपूर्ण तथा वर्ग-संघर्ष पूर्ण जीवन का परिचय भी उसने समाज द्वारा ही प्राप्त किया। समाज ने ही उसे वस्तु और गुण का मूल्यांकन सिखलाया; उसके द्वारा ही उसने अपने आधुनिक जटिल जीवन की गुत्थियों एवं संघर्षों का अनुभव किया, उसके द्वारा ही वह उनका सुलझाव ढूंढ़ रहा है। इसी सामाजिक विकास का अनुसरण करते हुये हास्य ने भी जटिल तथा रहस्य पूर्ण रूप ग्रहण किया है।

इस तथ्य की ओर तो हम स्पष्टतः संकेत कर चुके हैं कि हास्य मूलतः सामाजिक गुण है और बिना सामाजिक पृष्ठ-भूमि के उसका कोई विशेष महत्व नहीं। इस मानवी गुण की मुख्य विशेषता यह है कि जहां कहीं भी किसी एक व्यक्ति ने इस गुण को प्रदर्शित किया वहां अनेक इस गुण के वशीभूत हो हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं। इस गुण को सहज सहयोग प्राप्त करने का कदाचित कोई दैवी वरदान प्राप्त है। जिस प्रकार कूकती कोयल दस-पाँच आस-पास बैठी हुई कोयलों का मधुर कण्ठ स्वरित कर देती है उसी प्रकार हास्य अपनी प्रतिध्वनि अवश्य प्रस्तुत करेगा। वह सामाजिक भावना को पुष्ट करता है; उसके द्वारा मानवता अपना प्रसार करती है। और जब हमने हास्य के इस सामाजिक गुण का प्रमाण हृदयंगम कर लिया तो इस तत्व के प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि हास्य केवल मानवी पृष्ठ-भूमि पर अवतरित होगा। बिना इस पृष्ठ-भूमि अथवा बिना किसी मानवी-संकेत के, चाहे वह कितना भी अस्पष्ट क्यों न हो, उसका

आर्विभाव असम्भव होगा। मनव-समाज सतत एक दूसरे पर हँसता आया है; उसने ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ निकाला जो समाज को सदा प्रमुदित करते और हास्य के सफल आधार बने रहते। उन्होंने उस व्यक्ति के चारो-ओर एक प्रकार की हास्य-मण्डली एकत्र करली, जिसमें कुछ ऐसे चलते-फिरते अवगुण होते जिससे सबका मनोरंजन हुआ करता। प्रायः ऐसे व्यक्ति समाज के इस प्रेम-विशेष से अप्रसन्न होते और सबसे संबंध-विच्छेद की धमकी देते; परन्तु यह प्रेमी समाज उनका कोप-भाजन बनते हुये भी उन्हें अपने प्रेम-पाश से मुक्त नहीं करता और उनके द्वारा आनन्द-प्राप्ति की चेष्टा में संलग्न रहता। ऐसी परिस्थिति की कल्पना करना सम्भव है कि कुछ पाठक यह अनुमान लगायें कि जब कुछ व्यक्ति हास्य के आधार बनने के फलस्वरूप क्रोधित होते हैं तो हास्य में, समाज को एक सूत्र में बांधने की शक्ति कहाँ? परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि जब वह व्यक्ति जो हास्य का आधार बनने के फलस्वरूप क्रोधित होता है और सम्बन्ध-विच्छेद की धमकी देता है तो हम उसे अपने प्रेम-पाश से मुक्त नहीं करते; हम उसे और भी आग्रहपूर्वक अपनी टोली में रखने का प्रयत्न करते हैं : हमारा उससे स्नेह हो जाता है; वह हमारे जीवन का अविच्छिन्न अंग बन जाता है। इसका प्रमाण हमें मनुष्य के बर्बर समाज में भी मिलेगा। उस समाज ने भी हास्य को ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त किया जब उन्हें किसी का सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ी अथवा उन्हें जब किसी विषम परिस्थिति से छुटकारा पाना आवश्यक हुआ। ऐसी परिस्थिति में हमें फिर उसी सिद्धान्त का संकेत मिलेगा जिसका विश्लेषण हम अन्यत्र प्रस्तुत कर चुके हैं। यह हमारी क्रीड़ा-प्रियता का ही प्रमाण है कि हम गम्भीर विवाद, शत्रुता की आशंका इत्यादि की परिस्थिति में उसे क्रीड़ा-क्षेत्र में लाकर हास्य प्रस्तुत करने लगते हैं। क्रीड़ा-क्षेत्र में पहुँचते ही हम हास्य के वशीभूत हो जाते हैं और अनेक मानवी गुणों की आवश्यकताओं की ओर लक्ष्य करने लगते हैं। सड़कों पर विवाद करते हुये और द्वन्द्व युद्ध पर तैयार बालकों की टोली में से जब कोई हास्य-प्रिय बालक कोई ऐसी बात कह देता है जिससे गम्भीर शत्रुता की भावना मिट जाती है और सबके सब पुनः एक हो जाते हैं और एक साथ हँसने लगते हैं तो उसी क्षण हमारी क्रीड़ा-प्रवृत्ति के व्यापक दर्शन होने लगते हैं। समाज में तो हास्य द्वारा प्रस्तुत इस सहयोग के अनेक उदाहरण मिलेंगे। बर्बर तथा मध्य-युगीन समाज ने अपनी सामाजिक शक्ति तथा अपनी सामाजिक एकता को सुरक्षित रखने के लिये हास्य का बहुल प्रयोग किया; और समाज के किसी भी क्षेत्र में यदि किसी व्यक्ति ने उसमें व्यतिक्रम अथवा अवरोध

प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया तो वह हास्य का शिकार बनाया गया और उसे इस पर विवश किया गया कि वह समाज की सुरक्षा करे, रूढ़ि तथा परम्परा को छिन्न-भिन्न न करे और उसका पोषण किया करे। आदिकाल से आज तक हास्य हमारी सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों का पोषक रहा है। उसने सामाजिक जीवन को एक सूत्र में बाँध रखा है और व्यक्तिगत जीवन पर अंकुश रख कर उसे समाज का वांच्छित अंग बनने पर विवश किया है। इस दृष्टि से उसकी महत्ता अवर्णनीय है।

परन्तु हास्य की इस व्यापक महत्ता का प्रमाण पाते हुये भी समाज ने हास्य को स्वयं नियन्त्रित रखने का सतत प्रयत्न किया है और उसके सहज तथा सरल जीवन को निरंकुश नहीं छोड़ा जिससे यह प्रमाणित होता है कि हास्य की प्रगति तथा सामाजिक विकास में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ज्यों ज्यों हमारे विचारों, सिद्धान्तों, अनुभवों तथा आदर्शों में परिवर्त्तन होता गया त्यों त्यों हास्य की तीव्रता, उसकी तीक्ष्णता और उसके प्रयोग में परिवर्त्तन होता गया।

हास्य की सामाजिक रूप-रेखा के अध्ययन के अन्तर्गत यह कथन समीचीन होगा कि ज्यों ज्यों व्यक्ति एक दूसरे से मिल कर अपनी मण्डली, गोष्ठी अथवा वर्ग विशेष बनाता गया त्यों त्यों हास्य का भी विभिन्नता पूर्ण प्रयोग संभव होता गया। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि बर्बर अवस्था में व्यक्ति अपने गर्व, दर्प एवं दंभ के वश स्त्री की शक्ति-हीनता पर हँसा होगा और स्त्री ने किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा की होगी जो उसे इस लाञ्छन का सहज ही प्रतिशोध दिला सकती। हास्य के इस आदि आधार ने आगामी युगों में अनेक नूतन एवं विभिन्न रूप ग्रहण किये और पति-पत्नी; श्वशुर-वधू, भाई-बहिन, पड़ोसी-पड़ोसिन; शिक्षक-शिक्षिका; भिक्षु-भिक्षुणी-संबंधी जितने भी हास्यपूर्ण अवसर अथवा संवाद मिलेंगे उनमें इसी की छाया दृष्टिगत होगी। समाज ने ज्यों ज्यों अपने को वर्गों में विभाजित किया वर्ग-विशेष का हास्य पृथक् होता गया और अन्त में एक ऐसे समय की कल्पना की जा सकती है कि यह वर्ग-वैभिन्य इतना अधिक हो जायगा कि एक दूसरे के हास्य का आनन्द उठाना कठिन ही नहीं वरन असम्भव भी होगा। इस तथ्य पर हम पहले भी प्रकाश डाल चुके हैं और वर्ग-विशेष द्वारा हास्य की सीमायें निर्धारित कर चुके हैं।

फलतः समीक्षात्मक रूप में हम यह कह सकते हैं कि जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति होती जायगी समाज सुसंस्कृत रूप ग्रहण करता जायगा; ज्यों ज्यों हमारे मनोवेग परिष्कृत होते जायेंगे, हमारे विचार परिमार्जित होते जायेंगे,

हमारे आदर्श संशोधित होते जाँयेगे वैसे ही वैसे हमारा हास्य भी परिष्कृत, परिमार्जित, एवं संशोधित होता जायगा। अट्टहास मानसिक मुस्कान का रूप लेगा; प्रहसन सुखान्तकी रूप लेगा और मानवी हास्य एक दैवी मानवता से परिप्लुत होगा। यह तो हम देख ही चुके हैं कि यूनान में किस प्रकार समाज के हित के लिये 'मूर्ख-महोत्सव, मनाये जाते थे और वर्षागमन तथा लहलहाते खेतों की श्रीवृद्धि देख कर हास्य पूर्ण रंगरलियां होती थीं। यही हास्य आगे चलकर व्यंग्य, उपहास, वक्रोक्ति तथा परिहास रूप में आविर्भूत हुआ और कालान्तर में यूनानी प्रहसनों का मूर्ख-विदूषक, शेक्सपियर के दुःखान्तकीयों में मुस्कानपूर्ण दर्शनज्ञ के रूप में रंगस्थल पर आया।

प्रकरण—१३

हास्य-क्षेत्र की शब्दावली में कदाचित ही कोई ऐसा अन्य शब्द हो जो 'परिहास' का पर्याय हो। यद्यपि यह शब्द अनेक लेखकों ने प्रयुक्त किया और साधारण शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों ने इसका बहुल प्रयोग किया परन्तु फिर भी इस शब्द में निहित भावों तथा मानसिक संकेतों को बिरले ही परख पाये। यही नहीं, अनेक संदर्भों में प्रयुक्त होने के कारण इस शब्द की व्यापक आत्मा को परखने में और भी कठिनाई प्रस्तुत हो गई है। प्रायः जिन व्यक्तियों ने इसका चलता-फिरता प्रयोग किया उनका आशय इस शब्द से यही था कि परिहास-पूर्ण व्यक्ति हास्य-प्रेमी है और कुछ नहीं। वास्तव में इस शब्द में इससे कहीं अधिक अर्थ निहित हैं, इसी कारण इसका कोई समुचित पर्याय नहीं। सच तो यह है इस शब्द के पीछे मानवी हास्य का सम्पूर्ण इतिहास संकेत रूप में प्रस्तुत है और इसका लक्ष्यार्थ ही महत्वपूर्ण है : इसके शब्दार्थ का कोई मूल्य नहीं।

क्रीड़ा-भावना तथा परिहास

परिहास शब्द के पीछे हमें अनेक मनोभाव दिखलाई देंगे। यह, पहले पहल व्यक्ति के मानसिक-क्षेत्र की ओर संकेत करता है और उसके समस्त मानसिक तथा चरित्र-सम्बन्धी गुणों से समन्वित है। वह व्यक्ति के मनोद्वेगों की सहज समष्टि में अन्तर्हित रहता है और जिस प्रकार पुष्प में सौरभ और बयार में शीतलता छिपी रहती है और उनका कोई अलग अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार परिहास मनुष्य की मानसिक वाटिका में सुवास-रूप फैला रहता है। फलतः यह गुण व्यक्तिगत गुण रहेगा और इसी कारण इसका अध्ययन और भी कठिन होगा। प्रायः सामाजिक गुणों की बहुलता उसके अनुसंधान में सहायक होगी : व्यक्तिगत गुणों की न्यूनता अथवा उनका एकाकी होना इस अनुसंधान में सतत कठिनाई प्रस्तुत करेगा। इस कठिनाई को सुलझाने का सरल उपाय केवल यह है कि परिहास की सम्यक परिभाषा निर्मित करने के पहले हम परिहासपूर्ण व्यक्ति के गुणों का परिचय दें। परिहास, जैसा हम स्पष्टतः कह चुके हैं मानसिक गुण होने के कारण व्यक्ति को साधारण समाज की चहल-पहल, धींगा-मुश्ती, चीख-पुकार से दूर रखेगा; और परिहासपूर्ण व्यक्ति समाज में साधारण रूप में प्रदर्शित अट्टहास का साझीदार न रह सकेगा। उसका

मानसिक स्तर ऊँचा होगा, और सामूहिक रूप में प्रदर्शित किसी प्रकार के भी हास्य में वह भाग न ले सकेगा। सम्भव है कि इस गुण-विशेष के कारण उसके स्वभाव में एक प्रकार का पृथकत्व आ जाय और उसके बहुत से साथी अथवा अनेक मित्र न होकर केवल दो एक ही उसके घनिष्ठ स्वजन बाकी रह जाँय। इसी सीमित समाज में ये परिहासपूर्ण व्यक्ति प्रमुदित रह पायेंगे तथा सन्तोषप्रिय जीवन व्यतीत कर सकेंगे। उन्हें अपने मानसिक-क्षेत्र में, जहाँ उनके दो एक साथी उनके भावना-संसार को समझ कर उनसे अपना मानसिक साम्य बैठाते रहें, विचरण करने पर ही आनन्द आयेगा। उनका हास्य-प्रदर्शन बालकों की किलकारी तथा युवाओं की तर्क-हीन और निरर्थक हँसी से कहीं विभिन्न होगा। बालक तो शारीरिक उद्वेग और सहज चपल-स्वभाव-वश, स्वतन्त्र पक्षी-वृन्द के समान चहकते हैं और क्रीड़ा में निमग्न किलकारी भरते फिरते हैं। उन्हें जीवन की स्फूर्त्ति, उसकी उत्तेजना, उसका प्रवाह बहाये फिरता है। बाल-हास्य चपल, अनियन्त्रित तथा उद्वेग पूर्ण होगा। इसी प्रकार युवाओं का सीमित अनुभव-क्षेत्र, उनके स्वर्णिम स्वप्न, उनकी अगम आशा उन्हें निरर्थक हास्य-प्रदर्शन पर बाध्य करती है। वे अपने प्रवाहपूर्ण जीवन को और भी गति-प्रदान करने में पीछे नहीं हटते और जीवन के आशापूर्ण क्षेत्रों में प्रदर्शित हास्य की प्रतिध्वनि दूनी गति से स्वरित करते हैं। परन्तु परिहासपूर्ण व्यक्ति का हास्य अत्यधिक नियन्त्रित संयत तथा गम्भीर होगा। जिस प्रकार जब माँझी मिलकर गायन और नृत्य करते हैं और उनके उच्चस्वर से आकाश तक गूँज उठता है परन्तु उनकी छोटी नावों के नीचे मन्दगति की लहरें, नावों के किनारों को थपकियाँ देती रहती हैं उसी प्रकार परिहास अपने सरल, मन्द तथा अस्पष्ट रूप में अपनी लोल लहरियों द्वारा जीवन की वैषम्य-पूर्ण नौका को थपकियां देता रहता है। परिहास के स्वर में न तो आवेग और न उद्वेग रहेगा; वह किसी दूर दिशा से आती हुई वंशी की धुन के समान होगा। उसमें न तो गर्व की झलक मिलेगी और न कहीं ईर्ष्या का ही आभास मिलेगा। परिहास न तो किसी को हीन प्रमाणित करेगा और न किसी पर त्योरी चढ़ायेगा; वह न तो किसी की अधोगति से सन्तुष्ट होगा और न किसी क्रूर, आमानुषिक विद्वेष से प्रेरित होगा। उसमें सौजन्य की आत्मा सतत साकार होती हुई दिखलाई देगी।

परिहास, वास्तव में, एक अद्‌भुत मानवी-भावना द्वारा प्रसूत होगा और उसमें मनुष्य के प्रति एक गहरी सहानुभूति छिपी रहेगी। वह जीवनाभिनय को एक पटु, अनुभवी तथा गंभीर निरीक्षक अथवा दर्शक की दृष्टि से देखेगा।

उसमें भी क्रीड़ा-प्रियता होगी परन्तु उसमें गंभीरता का अंश विशेष होगा; वह जीवन के प्रति आकृष्ट तो रहेगा परन्तु वह आकर्षण संयत होगा; वह जीवन सागर के विशाल आवेग में बहेगा नहीं वरन आवेग की कठिनाइयों की ओर कभी मूक और कभी अस्पष्ट संकेत देगा। मानवी भावना उसकी पोषक रहेगी और सहानुभूति उसकी चिरसंगिनी।

परिहास की आत्मा के इस विश्लेषण के फलस्वरूप यह असंभव प्रतीत होगा कि इसका भी मूल स्रोत हमें वहीं मिलेगा जहां अन्य प्रकार के हास्य का मिला है। यूनानी समाज अपने अनेक प्रादेशिक तथा देशीय एवं राष्ट्रीय महोत्सवों में हास्य प्रस्तुत किया करता था और मूर्ख-महोत्सवों द्वारा अपने सामाजिक संगठनों तथा राष्ट्रीय एकता को साधना किया करता था। मध्ययुगीन समाज भी अपनी रूढ़ि तथा परम्पराओं के पोषण में हास्य का अविरल प्रयोग किया करता था और सभी प्रकार की अव्यवस्था, उच्छृंखलता तथा व्यतिक्रम; अनरीत, वैषम्य तथा असावधानी; गर्व, दंभ तथा पाखण्ड इत्यादि जितने भी मनुष्य के मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र के अवगुण होते थे उन सब पर उसकी वक्र-दृष्टि रहा करती थी। इसी वक्र दृष्टि के संशोधित तथा परिमार्जित रूप द्वारा परिहास का अवतरण हुआ। आधुनिक युग में परिहास की आत्मा जब अपने सफल रूप में अवतरित हुई तो उसकी आंखें सजल थीं; उसकी गति मन्द थी; और उसकी वाणी में सहानुभूति सांस भर रही थी। बर्बर के अट्टहास ने मुस्कान का रूप लिया; क्रूरता कोमलता में परिवर्तित हुई; गर्व सहानुभूति में रूपान्तरित हुआ; ईर्ष्या तथा विद्वेष की तीव्र भावनायें सहज़ मानवता में परिणत हुईं। परिहास का यह नवीन मानवी रूप आदि बर्बर के हास्य से आविर्भूत होते हुये भी उससे कहीं दूर था।

परन्तु परिहास की आधुनिक रूप-रेखा यह बतलाती है कि हास्य का यह सुसंस्कृत रूप बहुत समय के बाद ही संभव हुआ है। जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं हास्य के आधार ज्यों ज्यों परिवर्तित होते गये; समाज की अवस्था ज्यों ज्यों सुचारु रूप ग्रहण करती गई; मानव-मस्तिष्क ज्यों ज्यों परिष्कृत होता गया; सभ्यता जैसे जैसे विकास पाती गई वैसे ही वैसे हास्य की रूप-रेखा परिवर्तित, परिमार्जित तथा सुसंस्कृत होती गई। वास्तव में इस प्रगति तथा विकास का क्षेत्र विशेषतः मानसिक था और हास्य जैसे जैसे मानसिक क्षेत्र की ओर अग्रसर होता गया और जैसे जैसे उसके पार्थिव तथा शारीरिक आधार छूटते गये उसमें नवीन गुणों का प्रकाश आता गया। परन्तु इस प्रगति का इतिहास और उसके क्रमागत विकास का विवेचन तथा विश्लेषण अत्यन्त

दुष्कर होगा। इसका एक विशेष कारण है। परिहास स्वतः अत्यन्त जटिल, रहस्यपूर्ण तथा मानसिक गुण है जिसका तर्कपूर्ण विवेचन नहीं हो सकता। जिस प्रकार रेशम का कपड़ा देखने में अत्यन्त सुन्दर तथा चित्ताकर्षक जान पड़ता है परन्तु उसके धागे-धागे अलग करने पर सब एक दूसरे से उलझ जाते हैं उसी प्रकार परिहास अनेक गुणों, अनेक दृष्टिकोणों, अनेक मनोभावों की समष्टि तथा उनके अभूतपूर्ण सामंजस्य द्वारा आविर्भूत होता है और उसके धागे-धागे अलग विलग करने में वे और भी उलझ जाँयगे।

इसमें सन्देह नहीं कि परिहास का वास्तविक जीवन-क्षेत्र हमारा विचार-क्षेत्र ही रहेगा। विचारों के आधार पर तथा उन्ही की छत्र-छाया में वह पल्लवित-पुष्पित होगा। जिस प्रकार बड़े-बड़े बागों में बने हुये ग्रीष्म-गृहों में सुरक्षित रह कर ही, चिलचिलाती धूप से दूर, छोटे-छोटे पौधे हरियाली लिये रहते हैं उसी प्रकार मानसिक छाया के अन्तर्गत ही परिहास का जन्म तथा विकास संभव होगा। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि परिहास का विचार-क्षेत्र अनोखा, अपूर्व तथा साधारण विचार-क्षेत्र से दूर और पृथक् रहेगा। जिस प्रकार वाटिकाओं के ग्रीष्म-गृहों में चिलचिलाती धूप लोहे की जाली और उस पर आच्छादित हरी लताओं और वल्लरियों से छन-छन कर आती है उसी प्रकार साधारण-विचार क्षेत्र की छाया वहाँ भी प्रस्तुत रहती है। वह साधारण मानवी विचारों का ही आधार ढूँढती है; उन्हीं का सहयोग चाहती है। यदि वह साधारण मानवी विचारों के क्षेत्र से दूर चली गई तो वह अपना आकर्षण खो देगी; वह केवल समाज के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ स्तर के व्यक्तियों से संबंधित रह पायेगी और साधारण मनुष्य-समाज के लिये वह निष्प्रयोजन तथा निरर्थक हो जायगी। साहित्य तथा समाज में प्रदर्शित अनेक परिहास के अवसरों और परिहास के उदाहरणों[1] से यह तत्व और भी स्पष्ट हो जायगा। निम्नलिखित

---

१. एक पति महोदय, आवश्यक कार्य का बहाना कर अपने मित्रों के साथ रँगरलियाँ मनाने जा रहे थे और उन्होंने अपनी पत्नी को सन्तोष देने के लिये अपनी पहुँच का तार पहले से ही लिखकर जेब में रख लिया जिससे उसको सन्देह न हो। पत्नी उन्हें स्टेशन पहुँचाने गई। ज्यों ही गाड़ी चलने को हुई पति ने सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा—"प्रिये चिन्ता न करना; मैं अपनी पहुँच का तार शीघ्र ही भेजूँगा।" स्त्री ने उसी सान्त्वनापूर्ण स्वरों में कहा—"देखो! पैसे न खराब करना; मैंने पहले से ही वह तार तुम्हारी जेब में रखा हुआ देख लिया है।"

२. एक मौलवी साहेब को उनकी बीवी बहुत गालियाँ देती थी मगर मौलवी

विविध क्षेत्रों से संकलित उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि परिहास साधारण सुबुद्धि क्षेत्र में ही जन्म लेता है। पारिवारिक क्षेत्र में, पतिओं की उच्छृंखलता तथा पत्नियों की सहनशीलता और साथ ही साथ पत्नियों की वाक् विदग्धता तथा पतियों का शान्त आचरण साधारण अनुभव के अन्तर्गत ही रहेंगे। परिहास सहज ही उन्हे अपना कर अपना वरदहस्त दोनों पर फैला देता है। शिक्षण-क्षेत्र में, ऊब कर सोते हुये तथा इतनी कठिन परिस्थिति मे जागरूक विद्यार्थी

साहेब सदा खामोशी से काम लेते थे जिससे बीबी का क्रोध और भी बढ़ जाता था। एक दिन वह मौलवी साहेब पर बहुत बिगड़ी और चुनी हुई गालियों की बौछार शुरू की। मगर मौलवी साहेब ज़रा भी न सनके। बीबी का क्रोध और भी बढ़ा और उन्होंने चिल्लाकर कहा—"तुम आदमी हो या मरा हुआ चूहा जो इतना सुनने पर भी तुम्हारे कानों पर जूँ नहीं रेंगती"। मौलवी साहेब ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा—"बीबी! मैं आदमी हूँ; अगर मैं चूहा होता तो तुम चारपाई पर उछलती नजर आतीं ओर चीखने लगतीं कि जान गई।"

३. एक कालेज के प्रोफेसर की आवाज़ बहुत भद्दी थी और उनके पढ़ाने पर ऊब कर कुछ लड़के सो जाते थे। एक दिन जब वे पढ़ा रहे थे तो सामने की ही बेंच पर बैठा हुआ एक विद्यार्थी बिलकुल सो गया। अध्यापक ने उसे देख लिया और पास के लड़के की ओर अनेक बार इशारा किया कि वह अपने साथी को उठा दे। कई बार इशारा पाकर लड़का झुँझला उठा और बोला—"जनाब! आप मुझे क्यों परेशान कर रहे हैं; आपने उसे सुलाया है; आपही उसे उठाइये।"

४. फ्रांस के प्रसिद्ध हास्य-साहित्य के लेखक रैबेलेस का जब अन्तिम समय निकट आया तो उन्हें देखने के लिये देश के बड़े से बड़े चिकित्सक आये और सबने कोई न कोई ओषधि शीघ्र मगाँने का आदेश दिया। रैबेलेस ने मुस्कुरा कर धीरे से कहा—"सज्जनों! क्या मैं आप से यह अनुरोध करूँ कि आप मुझे स्वाभाविक मौत मरने दीजिये।"

५. जब स्वीडेन के राजा बारहवें चार्ल्स लड़ाई पर चलने को प्रस्तुत हुये तो उनका प्रधान सेनापति उनके पास दौड़ा हुआ आया और कहा—"महाराज! आप लड़ाई न करें; शत्रुओं की संख्या बहुत है; हमारे एक एक सिपाही के हिसाब से शत्रु के पास चौगुने सिपाही हैं।" चार्ल्स ने अविचलित परन्तु ललकपूर्ण स्वर में कहा—"सेनापति! यह तो तुमने बहुत अच्छी खबर दी। तब तो हमें वहाँ मारने के लिये काफ़ी आदमी मिलेंगे; बन्दियों की भी कमी न होगी और हमारी तरफ भाग कर आनेवाले सिपाहियों की भी कमी न रहेगी।

भी किसी अलौकिक क्षेत्र के प्राणी नहीं। दैनिक जीवन में रैबेलेस की अनुभूति और उनका अनुरोध साधारण जीवन का ही अनुरोध रहेगा; और युद्ध-क्षेत्र के समस्त सफल विजेताओं का भी यही परिहासपूर्ण दृष्टि कोण साधारणतः रहा है। परिहास, साधारण जीवन के अनुभवों एवं विचारों द्वारा परिवेष्ठित रहेगा जिसे साधारण होते हुये भी हमने भुला दिया था और जिसका मूल्य हमने नहीं पहिचाना था।

परिहास की आत्मा, जीवन-क्षेत्र में, समन्वय की प्रतीक है। असाम्य में वह साम्य का अनुसंधान करती है; वैषम्य में वह सामंजस्य ढूंढ़ती है। और तर्क की दृष्टि से यही उसकी कला भी है। वह किसी भी गुण अथवा अवगुण पर, उसे मानवी-पृष्ठ-भूमि से पृथक् कर, कटाक्ष नहीं करती। जिस प्रकार जब बालक अपने प्रिय गुड्डे को तोड़-फोड़ कर रोने लगता है तो उसकी माता उसकी एक टांग जोड़ कर, बालक के सम्मुख लंगड़ा गुड्डा बना कर चलाने लगती है और बालक पुनः हर्षित हो उठता है उसी प्रकार परिहास की आत्मा हमारे जीवन के एकांगी दृष्टिकोण, वैषम्यग्रस्त अनुभव एवं अव्यवस्थित विचारों को अपने सहज स्वभाव द्वारा सर्वांगीण तथा सुव्यवस्थित बनाने का मानवी प्रयत्न किया करती है; और परिहास के इस गम्भीर प्रयत्न के आवरण में हम मनुष्य की क्रीड़ा-प्रियता के प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे। परिहास की आत्मा एक ओर तो पति की उच्छृंखलता[1] पर गम्भीर कटाक्ष करती है और दूसरी ओर पत्नी की मितव्ययिता तथा प्रेयसी-सुलभ आकर्षणों की कमी की ओर भी अस्पष्ट संकेत देती है। एक ओर तो वह मौलवी साहेब[2] के पारिवारिक दुर्भाग्य; उनकी सहनशीलता तथा विवाह परम्परा की मूर्खता पर कटाक्ष करती है और दूसरी ओर स्त्री-सुलभ कायरता तथा दंभ और विवाह की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालती है। जहाँ[3] वह विद्यार्थियों की विवश अन्य-मनस्कता पर दृष्टिपात करती है वहाँ शिक्षक की मानसिक न्यूनता और उसके तर्कहीन गर्व की ओर भी त्योरी चढ़ाती है। और जहाँ वह मानवी चिकित्सा के प्रति रैबेलेस[4] की दबी हुई अनिच्छा, अविश्वास तथा घृणा का परिचय देती

---

१. देखिये—पृष्ठ १८५—(१)
२. ,, ,, ,, —(२)
३. ,, ,, १८६—(३)
४. ,, ,, ,, —(४)

है वहाँ अकिंचन चिकित्सकों की मूर्खता, उनके विश्वास और उनकी उत्सुकता तथा गर्व की ओर भी उँगली उठाती है। जिस प्रकार सांसारिक-जीवन यापन में पटु व्यक्ति एक तीर से दो शिकार कर लेते हैं उसी प्रकार परिहास जीवन के वैषम्य तथा उसमें निहित साम्य का दर्शन एक ही झलक में दिखला देता है। जिस प्रकार दुधमुँहा शिशु अपने दाँत-रहित छोटे और कोमल जबड़ों से माता की उँगली कुचल-कुचल कर आनन्द पाता है और क्षति रहित उँगलियाँ माता को भी आनन्दित करती हैं उसी प्रकार परिहास भी अपने मधुर परन्तु विद्वेषहीन कटाक्ष से जीवन के वैषम्य को इधर-उधर उलट-पलट कर आनन्द का प्रसार किया करता है। प्रस्तुत उदाहरणों से कदाचित यह भ्रामक संकेत मिल सकता है कि परिहास किसी न किसी घटना विशेष का आधार ढूँढ़ेगा और उसका आर्विभाव बिना किसी हास्यपूर्ण घटना के संभव न होगा। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि परिहास के लिये यद्यपि साधारणतः घटनाओं की उपस्थिति अनिवार्य जान पड़ेगी किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। परिहास प्रायः दृष्टिकोण में ही निहित रहेगा। हाँ, घटना की उपस्थिति द्वारा वह दृष्टिकोण ज़रा और भी तीखा हो जायगा। परिहास की आत्मा से परिप्लुत व्यक्ति का मस्तिष्क एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने लगता है और यदि हम उस दृष्टिकोण का तर्कपूर्ण विश्लेषण कर सकते तो हमें मानव-मस्तिष्क की अनुपम विशेषताओं का भी बोध होने लगता। अनुमान कीजिये कि कोई स्थूल-काय व्यक्ति भरी सड़क पर फिसला और उसके फिसलते ही अन्यान्य व्यक्ति हास्य प्रदर्शित करने लगे। परिहास पूर्ण व्यक्ति इस घटना को पार्थिव जगत से उठा कर मानसिक जगत में ले जायगा। उसे यह आभास मिलेगा कि कदाचित यह व्यक्ति पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति को चुनौती दे रहा था और अपने को उसकी आकर्षण-शक्ति से परे रखने का प्रयत्न कर रहा था; कदाचित जहाँ वह गिरा, कहीं पृथ्वी के आकर्षण की धुरी वहीं तो नहीं? आखिर वह इस भरी सड़क पर निकला ही क्यों; भीड़ छट जाने पर निकलता; और केले का छिलका भी विचित्र वस्तु है; उसकी औकात ही क्या; मगर एक बड़े तरबूज के छिलके पर एक हाथी के भी फिसलने की सूचना उसने देखी थी; उसका चित्र भी छपा था; इस व्यक्ति के गिरने पर भी वही दृश्य सामने आ रहा है—फिसलता हुआ पैर; सम्भलने की चेष्टा करते हुये हाथ; अर्धनग्न शरीर को ढकने की कोशिश करती हुई गर्दन और मंडलाता हुआ सिर। और यह सिर भी खूब चीज है; कभी तो भीड़ में अपने को ऐसा बचा लेता है जैसे छिपकिली के मुँह से चतुर झींगुर उछल भागता है और कहीं

इतना बेहोश कि उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता ; और यह झींगुर भी क्या चीज है : सभी राग-रागिनियाँ वह समयानुसार प्रस्तुत कर सकता है ; क्या पिछले जन्म में यह कोई खयाल का गायक तो नहीं था ; नहीं नहीं ; ऐसा सोचना तो कला का अपमान करना है, मगर झींगुर है भी खूब चीज़ ।' यदि हम केवल इसी अवस्था तक परिहासपूर्ण मस्तिष्क का आचरण समझने का प्रयत्न करे तो परिहासपूर्ण दृष्टिकोण संबंधी एक सत्य अवश्य स्पष्ट होगा। परिहास-पूर्ण दृष्टिकोण अपने को विचार और चिन्तन की भूल भुलैया में निःशंक और निर्विरोध छोड़ देता है और प्रस्तुत परिस्थिति का आधार लेकर उसका दृष्टिकोण पूर्ण स्वतन्त्रता से इधर-उधर विचरण करता रहता है : विचारों की एक विचित्र शृङ्खला चलने लगती है—कहाँ विशालकाय फिसलता हुआ व्यक्ति, कहाँ बेचारा चार टाँग का झींगुर ! ऐसी कार्य-शैली परिहास की आत्मा की विशेषता है । वह प्रति क्षण नित नूतन सन्दर्भ ढूंढ़ती है ; अन्यान्य वस्तुओं अथवा विचारों के कोष से वह मनोनुकूल चुनाव किया करती है और मन ही मन जैसे-जैसे उसकी विचार-शृंखला बनती चलती है वैसे ही वैसे वह मुस्कुराती रहती है । जीवन के सभी क्षेत्रों में वह मानवी सन्दर्भ ढूँढ़ने में प्रयत्नशील रहती है । पंचम स्वर में सहगान करता हुआ और आसावरी की अवतारणा में विकल गर्दभ-समाज ; बालकों की क्रूरता को झेल कर, दुम का लंगोट बाँध कर मैदान छोड़ता हुआ श्वान-समाज ; अपने दादा की दाढ़ी के पीछे हौआ का निवास-स्थान ढूँढ़ता हुआ छोटा बालक ; अपनी धाराप्रवाह वक्तृता में खाँसी और छींक का अर्ध-विराम सहन करता हुआ राजनीतिज्ञ ; मास के अन्त में पति की जेब टटोलती हुई पत्नी ; रेशमी आवरण से ढकी हुई पालकी पर नव-दम्पति को ठुमक ठुमक कर ढोते हुये नौकर-चाकर—जीवन के अन्यान्य, विभिन्न क्षेत्रों के असंख्य दृश्यों पर परिहास की आत्मा अपनी आँखें दौड़ाती रहती हैं और मानसिक हास्य का अवतरण किया करती है ।

मानसिक क्षेत्र में, परिहास कभी-कभी साम्य में वैषम्य की भावना ढूंढ़ने में भी नहीं चूकता । कभी-कभी क्या वह अक्सर तर्क-शक्ति को अवकाश ग्रहण करा देता है और स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगता है । वह कभी-कभी उस दर्शनज्ञ के समान बन जाता है जिससे यह पूछने पर कि वह पागलखाने में कैसे भरती कर दिया गया उत्तर दिया कि वह कहता था कि दुनिया पागल है और दुनियां कहती थी कि वह पागल है । फलतः वोट लिये गये और उसके नाम केवल एक उसका वोट था और सब विरुद्ध । कभी वह मनुष्य

में जन्तु-जगत के गुणों का दर्शन करता है और कभी पीपल की छाया में वानर परिवार को सुला कर, अपने घुटने पर वृद्ध वानर का सिर झुकाये उसके सिर का चीलर मारती हुई नवोढ़ा वानरी को देख वह मनुष्य परिवार की कल्पना करता है। उसकी कल्पना की कोई सीमा नहीं; उसकी विचारधारा पर कोई अवरोध नहीं, उसकी क्रीड़ा-प्रियता पर कोई नियंत्रण नहीं; उसकी गम्भीरता पर किसी को विश्वास नहीं।

परिहास का एक दूसरा विशेष तत्व जिसकी ओर हम संकेत भी कर चुके हैं यह है कि जब कभी उसका प्रकाश होता है तो उस प्रकाश की पृष्ठभूमि में हमें करुण भाव की बदली मंडलाती हुई दिखाई दे जाती है। जो सत्य हमने गीत-काव्य[1] की आत्मा में परिलक्षित देखा है वही परिहास-प्रदर्शन में भी स्पष्टतः दिखाई दे जायगा। कवि की विकलता सुमधुर गीत का रूप लेती है और उसके स्वप्न हमारे यथार्थ अनुभव बन जाते हैं; उसी प्रकार परिहास की विकल आत्मा भी सुमधुर हास्य को जन्म देती है। उसकी क्रीड़ापूर्ण एवं गम्भीर विचार-श्रृंखला हमारा ध्यान यथार्थ जीवन की मधुरिम झांकी की ओर आकृष्ट करती रहती है। वास्तव में करुणा, सहानुभूति द्वारा ही प्रसूत होती है और जब हम सहानुभूति को परिहास का एक विशिष्ट अंग मान चुके तो उसमें करुणा का सहयोग और उसका प्रकाश अवश्य दृष्टिगत होगा। साधारणतः पाठक वर्ग यह समझता है कि करुणा तथा हास्य में सहयोग कैसा? ये दोनों तो प्रायः विरोधी मनोभाव हैं। परन्तु सच तो यह है कि जिस प्रकार सात रंग मिलकर ही शुभ्र-प्रकाश को जन्म देते हैं वैसे ही हमारे हृदय तथा मस्तिष्क के मनोभाव तथा विचार अनेक रूप में मिल-जुल कर परिहास को रूप रेखा बनाते हैं। पूर्णिमा की रात में, पानी पर मन्थर गति से चलती हुई नाव पर रंगरलियां मनाती हुई मित्र-मण्डली 'पिकनिक' कहलाती है; और मन्द गति से रंगरलियां मनाती हुई मण्डली को एक ओर झुका कर पानी की गोद में सोती और सुलाती हुई नौका—'नाव-दुर्घटना' कहलाती है। यही और इतना ही भेद सुखान्तकी[2] तथा दुःखान्तकी में है। झुकाव की उपस्थिति एक को दूसरे में प्रतिक्षण परिवर्तित करती रहती है। वस्तुतः परिवर्तित कुछ नहीं होता: एक, दूसरे का नवीन रूप मात्र है। जो इस सत्य को तर्क की दृष्टि से देखता है दर्शनज्ञ कहलाता है; जो इसे जीवन का साधारण अनुभव समझ कर नित

---

१. देखिए-'काव्य की परख'

२. देखिये-'नाटक की परख'

नूतन 'पिकनिक' का आयोजन करता है परिहास-प्रेमी कहलाता है। अनेक मनोभावों की समष्टि का ही नाम परिहास है।

जैसा हम अनेक बार दुहरा चुके हैं परिहास तभी सफल रूप में प्रदर्शित होगा जब उसे सहानुभूति का सहयोग प्राप्त होगा। प्ररन्तु विचार करने की बात यह है कि परिहास प्रदर्शन में सहानुभूति की मात्रा क्या हो। क्या सहानुभूति की मात्रा इतनी हो जितनी माता को अपने चोट खाये बालक को देखकर होती है ? कदाचित नहीं। जिस प्रकार अपना शिकार ढूँढता हुआ शिकारी, चुपचाप बिना आहट दिये, धीरे-धीरे अपने शिकार की ओर बढ़ता है और उचित स्थान और दूरी पर पहुंच कर गोली चलाता है तत्पश्चात् इस आशंका में कहीं गोली खाली तो नहीं गई तेज़ दौड़ता है और थोड़ी देर में वहाँ पहुंच कर अपने शिकार को आहत देख हर्षित होता है उसी प्रकार परिहास की आत्मा अपना शिकार ढूंढ कर उस पर तीव्र कटाक्ष करती है और व्यक्ति को आहत समझ उसकी दशा देखने ज़ोर से दौड़ती है : और इसी दौड़ में सहानुभूति उसके साथ रहती है। खेल-खेल में दौड़ता हुआ बालक जब गिर पड़ता है तो माता को पहले तो हँसी छूटती है, फिर वह दौड़कर धरती को दो-चार धौल-धप्प लगाकर बालक को यह सन्तोष दे देती है कि उसको गिरानेवाली धरती की काफी मरम्मत कर दी गई और गिरने का पूरा-पूरा प्रतिशोध ले लिया गया। इस नाटक से बालक की तुष्टि हो जाती है और वह उसी पुरानी गति से दौड़ में भाग लेने लगता है उसी प्रकार परिहास की आत्मा में निहित सहानुभूति अनेक क्षतिपूर्ण अवसरों पर सम्मुख आकर मनुष्य की धूल-झाड़ कर उसे पुनः जीवन-क्षेत्र में उत्साहपूर्ण बनाकर छोड़ देती है। सहानुभूति, परिहास की सहगामिनी नहीं; वह उसके पीछे-पीछे चलती है : वह उसकी सेविका है। परिहास के साथ, क़दम से क़दम मिलाकर चलती हुई सहानुभूति की भावना परिहास को क्षति पहुंचायेगी और उसका समुचित प्रकाश न होने देगी। परिहास का विशिष्ट रूप स्नेह और कारुण्य तथा सहानुभूति तीनों के द्वारा अलंकृत होगा।

परिहास प्रदर्शन के संबंध में दूसरी विचित्र बात यह है कि प्रायः यह मानवी अवगुणों का आधार नहीं ढूँढ़ता; वह साधारणतया मानवी गुणों के ही आधार पर अपना प्रदर्शन करता है। मानवी अवगुण व्यंग्य, उपहास तथा वक्रोक्ति द्वारा उपहासित होकर हमें आनन्द देते हैं और प्रहसन इनका क्षेत्र रहता है; परन्तु मानवी गुणों के आधिक्य पर ही विशेषतः परिहास की दृष्टि पड़ती है; उसकी चिन्तन-शीलता को प्रेरणा मिलती है; उसकी

विचार-शक्ति को गति प्राप्त होती है। कभी-कभी तो वह मानवी अवगुण[1] को इतना दुलराती है कि वह गुण के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होने लगता है। कोयल के समान वह कौए के अण्डे को प्रेम से सेने का प्रयत्न करती है और उस पर अपना स्नेह और अपनी करुणा न्योछावर करती है; और ज्यों ही उसे आभास मिलता है कि इतने स्नेह और इतनी सहानुभूति के पश्चात् भी छोटा पक्षी काग-वर्ग का बना हुआ है तो उसे वह तत्काल व्यंग्य तथा उपहास क्षेत्र में निर्वासित कर देती है। यही कारण है कि संसार की श्रेष्ठातिश्रेष्ठ

---

१. इसी परिहासपूर्ण दृष्टिकोण द्वारा शेक्सपियर निर्मित सर्वश्रेष्ठ हास्य प्रसारक पात्र फ़ाल्सटाफ़ के प्रति हमारा प्रेम आज तक बना हुआ है। उसमें कौन से अवगुण नहीं: वह मद्यप है; असत्य वक्ता है; कायर है; भोजन-प्रेमी है; क़र्ज़खोर है। परन्तु परिहास की आत्मा इन अवगुणों पर इतनी मानवी सहानुभूति न्योछावर करती है कि वह हमारा प्रेम-पात्र बन जाता है। वह मद्यप अवश्य है परन्तु उसकी मदिरा तो उसकी बुद्धि का विकास करती है और उसे जीवन को रंगीन बनाने का उत्साह प्रदान करती है। कौन बुद्धि का विकास नहीं चाहेगा और जीवन की रंगीनियों से विमुख रहेगा? वह पग-पग पर असत्य बोलता है; परन्तु उसका असत्य भाषण किसी को त्रास तो नहीं देता; नर्क में तो नहीं डालता! वह तो केवल असत्य इसलिये बोलता है कि उसे कुछ सुविधाओं की विशेष आवश्यकता है जो इस प्रयोग से शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। वह अपना ही परलोक तो बिगाडता है: दूसरे का तो नहीं। वह कायर है? मगर अपने से बलिष्ट शत्रु से लड़ने में कौन सी बुद्धिमानी है। अकेला व्यक्ति यदि इस प्रयोग से अपनी शरीर-रक्षा कर लेता है ता उसकी यह बुद्धिमानी ही होगी। जुहार करने से लाभ क्या? इस दुनियाँ के परे किसने देखा है कि क्या है? वह अति भोजन-प्रिय है। परन्तु उसका शरीर तो देखिये; उसकी आवश्यकता पर कौन द्रवित नहीं होगा। उसे भूख बहुत सताती है परन्तु वह अपना शरीर क्यों जलाये; वह तो भगवान की निराली देन है: और भगवान की इस कृपा और उनके इस वरदान को त्रस्त करना कौन सी बुद्धिमानी है; कौन सी मानवता है। क़र्ज़खोर भी वह है। परन्तु यह तो देखिये वह क़र्ज़ लेता किससे है? वह कर्ज उससे नहीं लेता जो स्वयं मिटा हुआ है। सराय की मालकिन अकेली है; विधवा है; उसकी शादी की अवस्था कभी की बीत चुकी है। उसके पास धन है। वह उसका करेगी क्या? उसके बाल-बच्चे नहीं! उस पर कोई भार नहीं! और यदि वह अपना प्रेम का नाटक दिखा कर कुछ धन ले भी लेता है तो उसे जोड़ता तो नहीं, वह भी तो संसार में

सुखान्तकीयों में मानवी गुणों के आधिक्य को विषय-रूप मान कर परिहास की सृष्टि की गई है[१]।

जब परिहास-प्रदर्शन में हमने मानसिक सुबुद्धि, विचार-प्रियता तथा चिन्तन गुण आवश्यक प्रमाणित कर दिये तो यह स्वतः प्रमाणित हो गया कि बालक-वर्ग में परिहास का आर्विभाव असम्भव होगा क्योंकि बालक न तो विचार-शील होते हैं न चिन्तन-शील। उनमें केवल सहज हास्य की अनुभूति रहती है और वे केवल पार्थिव-जगत की घटनाओं द्वारा प्रसूत हास्य से ही प्रभावित होंगे। दूसरे, परिहासपूर्ण दृष्टिकोण अत्यन्त जटिल रहता है और अनेक विचित्र मनोभावों के घुलने-मिलने के पश्चात् नवीन रूप में जन्म लेता है इसलिये साधारण स्वभाव के बालकों में इस गुण का ढूंढना निरर्थक होगा। उनकी भावनाओं में प्रवाह होता है; वेग होता है; लय नहीं होता; समन्वय नहीं होता। उनका भाव-सागर केवल किसी एकांगी मनोवेग द्वारा उद्वेलित रहता है; उसमें विचार-वीथियों का लय-विलय नहीं होता। वे ऊंचे जल प्रपात के नादयुक्त वेग से ही प्रभावित होते हैं; सागर तट पर मन्द गति से थिरकती हुई लोल लहरियाँ उन्हें आकर्षित नहीं करतीं। और जब तक स्वभाव में मनोभाव स्थायित्व नहीं पा जाते; जब तक उनका वेग गहराई में नहीं परिवर्तित हो जाता; जब तक मानवी जीवन के प्रति करुणा तथा सहानुभूति की भावना हृदय में अपना घर नहीं बना लेती और जब तक मनुष्य सुदूर पर्वत की चोटियों के पीछे धीरे-धीरे डूबते सूर्य की रक्ताभ लालिमा में जीवन-सूर्य के तिरोहित होने का आभास नहीं पा लेता, परिहासपूर्ण दृष्टिकोण का जन्म नहीं होता। परिहास सहगान से नहीं, वरन् एकाकी रोदन[२] द्वारा आर्विभूत होगा। इस तथ्य का एक विचित्र प्रमाण और भी मिलता है। अनेक

अकेला है; मालकिन भी अकेली है; अगर एक का धन दूसरे के काम आगया तो कौन सी नैतिकता का गला घुट गया। फिर वह पग-पग पर तो अपराध क्षमा कराता है; अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की दुहाई देता और यदि समाज को बिना कोई गहरी क्षति पहुँचाये वह सुखी तथा आनन्दपूर्ण जीवन बनाने की व्यवस्था सहज ही बना लेता है तो हमें उसकी सुबुद्धि, उसके चातुर्य, उसकी दुनियादारी की प्रशंसा करनी चाहिये। वास्तव में शेक्सपियर द्वारा निर्मित यह अमर पात्र परिहास का जीता-जागता उदाहरण है।

१. शेक्सपियर के सभी श्रेष्ठ सुखान्तकीयों में इसके उदाहरण मिलेंगे।

२. इन्हीं गुणों का दर्शन हमें संसार के श्रेष्ठ परिहासपूर्ण लेखकों की रचनाओं में मिलेगा। सर्वान्ते, शेक्सपियर, मुलियर, बटलर, रैबेलेस, जैसे लेखकों

श्रेष्ठ परिहास लेखक ऐसे हुये हैं जो शायद ही कभी मुस्कुराये हों। उनका गांभीर्य ही बाह्य जीवन में व्यक्त होता रहा; परन्तु वे अपने अन्तरतम में सतत मुस्कुराते रहे होंगे नहीं तो उनकी रचनाओं में परिहास की धारा इतनी अबाध गति से कैसे प्रवाहित होती। परिहास गांभीर्य की गोद में ही पोषित होता आया है। मेघ-राशि के पीछे आँख-मिचौनी खेलता हुआ चाँद, पूर्णिमा के चाँद से कहीं अधिक चित्ताकर्षक होगा। सजल आँखों का हास्य ही अधिक हृदय-ग्राही तथा मार्मिक होगा।

समाजिक क्षेत्र में, प्रायः शिक्षक-समाज और अन्यत्र भी कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिनमें एक विशेष गुण यह रहता है कि वे स्वतः अपने ऊपर हँसते हैं और परिहास की आत्मा को अपनी ओर एकाग्र करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में, स्पष्ट है कि परिहास की श्रेष्ठ अनुभूति होगी। जिस प्रकार व्यंग्य-चित्रकार किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक कमज़ोरी को देख-सुन लेता है और उसको अतिशयोक्ति का आवरण पहना कर हास्य प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ परिहास प्रेमी स्वतः अपना आधार भी प्रस्तुत करने में नहीं संकोच करता। इस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति अत्यन्त कठिनाई से जन्म लेती है; परन्तु वह व्यक्ति अथवा लेखक जो स्वयं अपने पर हँसने की क्षमता रखता है परिहास की विशिष्ट आत्मा से पूर्णतः परिचित होगा। यों तो हास्य का आधार बनना, जैसा हम प्रमाणित कर चुके हैं, किसी को रुचिकर नहीं और सब दूसरों पर ही हँसना चाहते हैं अतः जिस व्यक्ति में यह गुण होगा उसके मस्तिष्क में परिहास का व्यापक स्थान अवश्य रहेगा। ऐसा व्यक्ति अपनी

में परिहास की पराकाष्ठा दिखलाई देगी। उनमें जीवन की गहराई नापने की शक्ति थी; उनमें जीवन के प्रति उत्साह था; उनमें चिन्तनशीलता थी; उन्होंने मानव को मानव रूप में ही देखने का प्रयत्न किया था; फलतः उनकी विशिष्ट रचनाओं में प्रदर्शित परिहास, हृदय तथा मस्तिष्क दोनों के सहज समन्वय से प्रसूत है। मस्तिष्क की गम्भीरता तथा हृदय की चपलता दोनों ही उनमें यथेष्ट मात्रा में प्रस्तुत हैं और वे अपने पाठक-वर्ग को हँसाते-हँसाते रुला देते हैं और रुलाते-रुलाते हँसा देते हैं। मानव जीवन के वैषम्य के पीछे समन्वय की भावना को देखने की उन्हें दिव्य-दृष्टि प्राप्त थी। उनमें बाल्यकाल का चापल्य तथा वृद्धावस्था की गम्भीर मनन शक्ति दोनों, एक ही मात्रा में प्रस्तुत थी। उनमें पार्थिवता तथा आध्यात्मिकता दोनों का सहज सामंजस्य था। वे जीवन के यथार्थ से परिचित थे परन्तु उन्हें अपने स्वप्न-देश से भी प्रेम था। इसी कारण उनकी रचनाएँ अमर हैं।

स्थूलता पर स्वयं मुस्कुराता है; अपने और दरियाई घोड़े के होठ पर लगी नाक में वह एक विचित्र साम्य देखकर हँसता है; मच्छर मारने के प्रयत्न में वह ताली बजा कर सोये हुये शिशु को अनायास जगा कर मुस्कुरा देता है; और स्लेट पर पुत्र द्वारा खींचे हुये चित्र में अपना बुढ़ापा परिलक्षित देख कर विहँस उठता है। यह गुण सहज नहीं; यह गुण चिन्तन की पराकाष्ठा है। जो व्यक्ति केवल दूसरों पर हँसता है दर्शक मात्र रहता है; अपने पर हँसने वाला दर्शनज्ञ कहलाता है।

प्रायः लेखकों का यह विचार रहा है कि हास्य का प्रयोग व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अवगुणों के संशोधन के लिये होना चाहिये। और कुछ हास्यपूर्ण कृतियों के पढ़ने के उपरान्त यह धारणा दृढ़ भी होने लगती है कि हास्य का कदाचित् यही प्रयोग सफल प्रयोग कहा जायगा। परंतु जहाँ-जहाँ परिहास श्रेष्ठ-स्तर को छूता हुआ दृष्टिगत होगा इस प्रकार के विचार असंगत जान पड़ेंगे। परिहास, जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, मनुष्य का व्यक्तिगत गुण है और जब किसी व्यक्ति का मस्तिष्क चिन्तन के उस श्रेष्ठ स्तर पर पहुंच जाता है जहाँ उसे जीवन के वैषम्य में साम्य के दर्शन होने लगते हैं तो उसमें परिहास की आत्मा जागृत होने लगती है। फलतः इस आंतरिक गुण से समाज के अनेक दोषों का स्पष्ट संशोधन कठिन ही जान पड़ेगा। वह मानसिक गुण होने के कारण चिन्तन-क्षेत्रों का ही परिमार्जन कर सकेगा और हास्यास्पद कारणों को जन्म देने की संभावना भी कम करेगा। सामाजिक संशोधन परिहास का प्रमुख लक्ष्य नहीं होगा : वह अव्यक्त रूप में ही अपना कार्य सुचारु रूप में कर पायेगा। संशोधन कार्य केवल गौण रूप में ही अभिमत हो सकेगा। परिहास उस शिक्षक की भाँति नहीं जो अपने विद्यार्थियों के सम्मुख नित्य नैतिकता के विषय पर तर्कपूर्ण भाषण करता है और अनैतिक कार्यों को देखकर क्रोध और भर्त्सनापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता है जिससे विद्यार्थीवर्ग सुधर जाय। जिस प्रकार किसी कमरे के एक कोने में सुलगती हुई अगरबत्ती चारो ओर एक हलकी सुगन्धि प्रसारित कर देती है और हम उस ओर देखते भी नहीं परंतु उसकी भीनी सुगन्धि ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देती है कि उसमें अन्य किसी प्रकार की दुर्गन्धि का प्रसार संभव नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार परिहास की आत्मा एक रहस्यमय नैतिक वातावरण प्रस्तुत कर देती है और अनैतिक, असामाजिक अथवा अमानवी कार्यों पर स्वतः एक प्रकार का निषेध लग जाता है। गिर्जे के विशाल गुंबद के नीचे, ईसा की सूली पर लटकी हुई प्रतिमा के

परिहासकी उपयोगिता

सम्मुख जब भक्तवर प्रार्थना के स्वर उच्चरित करते हैं तो वहाँ गिरह काटने की इच्छा बड़े से बड़े गिरहकट की भी शान्त हो जाती है। उसी प्रकार परिहास अव्यक्त रूप में नैतिक तथा मानवी वातावरण प्रस्तुत कर देता है।

परिहास व्यक्तिगत गुण होने के कारण, अनेक व्यक्तियों के लिये हितकर भी होगा और उसकी उपस्थिति सतत हर्ष तथा आनन्द का अव्यक्त प्रसार किया करेगी; वह चित्त को उत्फुल्ल रखेगी और उसके सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों को भी प्रफुल्लचित्त बनायेगी। मानव-जीवन-यापन के पथ में पड़े हुये रोड़ों को शायद वह फूल प्रमाणित न करे फिर भी आनन्दपूर्ण मुद्रा बना कर, उन्हें झेल जाने का उत्साह वह अवश्य प्रदान करेगी। जीवन की विषम परिस्थितियाँ, उसके दुःख तथा क्लेश परिहास की उपस्थिति द्वारा अपनी तीव्रता कम कर देते हैं। जिस प्रकार मानव के लिये ईश्वर के वरदानों में आशा तथा निद्रा दो वरदान सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार परिहास रूपी वरदान भी इसी श्रेणी का श्रेष्ठ वरदान है। परिहास, संसार-यात्रा का श्रेष्ठ संबल रहेगा।

मनुष्य के लिये इस गुण की कितनी आवश्यकता है इसका माप साधारण पाठक शायद ही लगा सकें। व्यक्तिगत रूप में यह मनुष्य को प्रफुल्लित करेगी, सामाजिक रूप में उसे मित्र मण्डली का प्राण बनायेगी; राजनीतिक क्षेत्र में उसके अनुयायी बढ़ायेगी और पारिवारिक क्षेत्र में तो उसकी आवश्यकता प्रतिक्षण प्रमाणित हुआ करेगी। श्रेष्ठ परिहास मैत्री का पोषक तथा वैमनस्य का निवारण-कर्त्ता होगा। वह शत्रुता को मैत्री में परिवर्त्तित करेगा और मैत्री को अनन्य मानवी सम्बन्धों में परिणत करेगा। उसकी ही कृपा से इतने रक्त-पात के पश्चात् भी मानव के उदासमुख से मुस्कान तिरोहित नहीं हुई है। यह उसी के दृष्टिकोण का फल है कि संसार रंग-मंच प्रमाणित हो चुका है और समस्त मानव और जीव-जन्तु-समाज नाटकीय पात्र। उसी ने संकुचित मानव-हृदय को विशालता प्रदान की; उसके एकांगी दृष्टिकोण को सर्वांगीण बनाया। उसने यह प्रमाणित किया कि मानसिक आनन्द सर्व श्रेष्ठ होगा; क्योंकि शारीरिक आनन्द के विपरीत मानसिक आनन्द दुहराने से बढ़ता है; ध्यान करने से दुगना होता है और मनन करने से तिगुना हो जाता है। परिहास मानसिक आनन्द का अमर कोष है।

प्रकरण—१४

क्रीड़ा-सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य का कलात्मक प्रयोग

साहित्य-क्षेत्र में, हास्य का कलात्मक प्रयोग कब और कैसे आरम्भ हुआ इसकी समीक्षा के लिये हमें पुनः मनुष्य के आदि बर्बर समाज की ओर देखना होगा। मनुष्य की बर्बर अवस्था में हास्य प्रदर्शन के साधनों में सबसे अधिक प्रयुक्त साधन, हास्यास्पद मूर्ख की वेश-भूषा तथा उसके इंगित और उसका नृत्य था। इसी प्रदर्शन को देख कर आदि समाज अपनी हास्य-लिप्सा की तृप्ति किया करता था। अपने शिकार में सफल तथा भोजन से तृप्त आदि अवस्था का मनुष्य सहज ही हास्य-प्रेमी रहा होगा। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जब मनुष्य ने सफल शिकार किया होगा तो उसे एक विचित्र आनन्द का अनुभव हुआ होगा; उसे अपने शिकार की कला-बाज़ियाँ, उसके छिपने और भाग-दौड़ कर जान बचाने का प्रयत्न, उसकी स्मरण-शक्ति के सम्मुख पुनः साकार हुआ होगा। अपने शिकार को निराश्रित, पराजित, मृत देख कर उसने उसकी प्राणहीन मुद्रा का अनुकरण किया होगा; उसकी कला-बाजियाँ पुनः दुहराई होंगी और नाद विशेष द्वारा अपने आनन्द का प्रदर्शन किया होगा। सामूहिक रूप में, सफल शिकार-व्यवस्था और सबके सहयोग से पराजित और मृत शिकार को देख-देख कर सबने उस शिकार की भाव-भंगी दुहराई होगी और उछल-कूद मचा कर उसका आनन्द उठाया होगा। और इस सामूहिक उछल-कूद तथा कला-बाज़ी प्रदर्शन में किसी न किसी व्यक्ति ने विशेष लय और गति का परिचय दिया होगा जिसकी ओर सबकी आँखें उठी होंगी; और सबने उसे सराहा होगा। आदि समाज का यही नर्तक और आनन्द प्रसारक व्यक्ति, साहित्य में प्रयुक्त; विदूषक का मूल-रूप होगा। ऐसे ही, युद्ध से लौटे हुये सफल नायक-वीर ने अपनी विजय में मस्त कुछ आनन्द प्रदर्शन विशेष रूप में किये होंगे और उसके सहयोगियों ने उसमें और भी गति ला दी होगी। और इसी आनन्द प्रदर्शन में हमें आधुनिक युग के सामूहिक हास्य-प्रदर्शन की सुदूर छाया दिखाई देगी। ऐसे वातावरण में बर्बर समाज के व्यक्ति की नैसर्गिक क्रीड़ा-प्रियता अवश्य ही अपने उत्कर्ष पर रही होगी और उसने शिकार अथवा युद्ध-क्षेत्र में, अपने क्रीड़ा-क्षेत्र का अवतरण किया होगा। इस परिवर्तित

क्षेत्र में व्यक्तिगत तथा सामूहिक हास्य भी अपने उत्कर्ष पर आने का प्रयत्न करता होगा। व्यक्ति और वर्ग की यह उत्कट इच्छा हुआ करती होगी कि उसका समाज आनन्दित हो और वह स्वयं भी आनन्द उठाए। फलतः सभी प्रकार के हास्य में सामाजिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता आज तक प्रमाणित है। परन्तु इस सामाजिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त उस आवश्यक गांभीर्य की उपस्थिति भी, जिसकी आवश्यकता हम श्रेष्ठ कोटि के हास्य के लिये प्रमाणित कर चुके हैं, अपेक्षित होगी। समाज का आदि विदूषक जितनी ही गम्भीर मुद्रा के आवरण में हास्य का प्रदर्शन करेगा उतना हो उसका हास्य सफल होगा और परिहास की परिधि में आयेगा।

जब हम यह प्रमाणित कर चुके कि मानवी कार्य अथवा विचार ही हास्य के सफल आधार होंगे तो हम यह साधारण रूप में कह सकते हैं कि जिस साहित्य में मानवी कार्यों और विचारों की उपस्थिति होगी वहीं हास्य भी प्रदर्शित होगा। और इसी कारण नृत्य-गीत, प्रहसन, सुखान्तकी इत्यादि हास्य प्रदर्शन के फलप्रद क्षेत्र रहे हैं। और जैसे-जैसे समाज प्रगति करता गया साहित्य ने भी जीवन का अनुसरण कर अन्य नूतन आधार ढूँढ़ निकाले। प्रायः इंगित में निहित हास्य नृत्य-गीतों में; परिस्थिति-मूलक हास्य प्रहसन में तथा विचार-सम्बन्धी हास्य सुखान्तकी में अवतरित हुआ। परन्तु इस वर्गीकरण का यह आशय नहीं कि अनेक एवं विभिन्न रूप में प्रदर्शित हास्य-क्षेत्रों की सीमा निर्धारित कर दी गई। साधारणतः एक क्षेत्र का हास्य दूसरे क्षेत्र में सरलतापूर्वक आ जायगा और उस पर कोई वाह्य नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। प्राचीन युग की हास्य-प्रियता, साहित्य रूप में, हास्यपूर्ण चुटकुलों के संकलन में ; हास्यपूर्ण कथानकों और देव-गाथाओं में ; मध्ययुग की हास्यपूर्ण कहानियों तथा अनुकरणात्मक संवाद में और आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण में प्रदर्शित मिलेगी। 'मूर्ख महोत्सवों'[१] के अतिरिक्त, धार्मिक क्षेत्र के सन्तों की जीवनी से संबंधित अद्भुत-रस-पूर्ण छोटे छोटे नाटकों[२] इत्यादि में, आधुनिक साहित्य के चिन्तन शील परिहास की छाया मिलेगी। आधुनिक युग के सुखान्त साहित्य ने, व्यापक मानव जीवन के सभी क्षेत्रों का अनुसंधान कर, हास्यपूर्ण आधार एकत्र किये हैं और हास्य-क्षेत्र में आने वाले क्रिया-कलाप का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसे उन्होंने अछूता छोड़ दिया हो। इन आधारों की समुचित समीक्षा हम विस्तार पूर्वक करेंगे और इस स्थल पर केवल

---

१. देखिये पृष्ठ—

२. देखिये 'अंगरेज़ी साहित्य का इतिहास'

इन आधारों की सांकेतिक तालिका देना ही पर्याप्त होगा। साधारणतः हास्य निम्नांकित आधारों पर ही प्रदर्शित किया गया है :

१. मार-पीट के दृश्य
२. कार्यों अथवा इंगितों और शब्दों की पुनरावृत्ति
३. अनुकरण-कला
४. छल-प्रपंच, मन्दमति, मूर्खता, दंभ
५. छद्म-वेष
६. विस्मरणशीलता
७. नवीन फ़ैशन प्रियता
८. आडम्बर : (वेष अथवा संवाद में)
९. आचार-विचार : एकांगी मति ; असाधारण मति ; अस्वाभाविकता ; कृत्रिमता
१०. सामाजिक द्वन्द : (अवैध प्रेम क्षेत्र के) ; मानवी कमज़ोरियां ;
११. पारिवारिक उलझनें
१२. नारी-चरित्र की विषमतायें
१३. भोजन-प्रियता
१४. मदिरा-प्रियता
१५. वक्रोक्ति ; व्यंग्य, उपहास
१६. श्लेष ; अतिशयोक्ति
१७. अशुद्ध, असंयत, निरर्थक शब्द अथवा भाषा-प्रयोग

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उपरोक्त सभी आधारों की गणना घटना अथवा परिस्थिति ; आचरण तथा चरित्र संबंधी तीन प्रकार की सुखान्त-कीयों के अन्तर्गत की जा सकती है जिनके अनेक उदाहरण पश्चिम तथा पूर्व के साहित्य से मनोनुकूल चुने जा सकते हैं।

हास्य-प्रदर्शन के विषय : मारपीट के दृश्य

प्रायः नाटककारों ने आपस की मारपीट अथवा विरोधी-वर्गों की झगड़ालू प्रवृत्ति का सफल आधार हास्य प्रदर्शन के लिये अपनाया है। युवावर्ग, साधारणतः, अपने निजी झगड़ों का अन्त मारपीट द्वारा ही किया करते हैं और इसमें उनको आनन्द भी आया करता है। इसी प्रकार का आनन्द मनुष्य के आदि समाज को भी प्राप्त था और वे इसकी ओर विशेष रूप में आकर्षित हुआ करते थे। इसी आदि परम्परा का अनुसरण आधुनिक सर्कसों में प्रदर्शित विदूषक-वर्ग की धींगा-मुश्ती, कुश्तम-कुश्ती, उछल-कूद, मार-पीट

में किया गया और हास्य-प्रसार की चेष्टा की गई। इस परम्परा का अनुसरण यूनानी[1] तथा रोमीय[2] सुखान्तकी लेखकों ने भी किया और वे समाज के प्रिय साहित्यकार बने रहे।

नाट्य-प्रदर्शन में, दर्शक-वर्ग का सफल मनोरंजन, प्रायः इंगितों की पुनरावृत्ति द्वारा भी सफल रूपमें हुआ है। कुछ इंगित विशेष की पुनरावृत्ति बरबस हँसी लायेगी और इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वयस प्राप्त करने के उपरान्त भी बाल्यावस्था की आँख-मिचौनी के प्रति बहुत आकर्षण रहता है और जब कोई व्यक्ति, इंगित विशेष अथवा भाव-भंगी रह-रह कर हमारे सम्मुख बार-बार प्रदर्शित करने लगता है तो हमारी क्रीड़ा-प्रेरणा पुनः जागृत हो जाती है और हास्य का सहज प्रसार होने लगता है।

पुनरावृत्ति

अनेक हास्य-साहित्य के निर्माताओं ने अनुकरण द्वारा भी सफल हास्य-प्रदर्शन किया है और इस सफलता में हमें अपनी इसी क्रीड़ा-चेतना का आभास मिलेगा जिसके द्वारा अन्य आधारों पर भी हास्य प्रस्तुत हुआ है। हमें उस समय जीव-जगत की अनेक अनुकरणात्मक अठखेलियाँ याद आयेंगी जो हम प्रायः देखते आये हैं और जिनका साम्य हमारे बाल्यकाल की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति से सरलता से बैठ जायगा। बालक-वृन्द, अपनी गोष्ठी में, एक दूसरे को प्रायः मुँह चिढ़ा कर यह सिद्ध किया करते हैं कि जन्तु-जगत के बहुत से गुण हममें मनुष्य होते हुये भी निहित हैं। ऐसे अवसरों पर बाल्यकाल की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति हमारी नैसर्गिक क्रीड़ा-प्रियता के सहयोग से, और भी कार्य-शील होकर हास्य-प्रदर्शन में सहयोग देने लगती है।

अनुकरण

छल, प्रपंच तथा पाखण्ड का आधार तो सभी हास्य-साहित्य के लेखकों ने लिया है और कभी-कभी सम्पूर्ण नाटक छल पर ही आधारित कर दिया गया है; और मुख्य पात्र को प्रपंच के बन्धन में बाँध कर उसके कार्यों द्वारा हास्य प्रस्तुत किया गया है। जब तक नायक प्रपंच के फन्दे से निकल कर अपना भ्रम नहीं दूर कर लेता हास्य सतत प्रस्तुत होता रहता है। इस प्रकार के हास्य-प्रदर्शन में दर्शक-वर्ग में सहानुभूति की मात्रा कहीं अधिक रहेगी।

---

१. ऐरिस्टाफ़ेनीज़

२. प्लॉटस

बहुत से लेखकों[1] ने प्रायः नाटकों में छद्म-वेश के सहारे दर्शक-वर्ग को बहुत हर्षित किया है और इस सफल रूप में प्रदर्शित हास्य का प्रमुख कारण यह है कि प्रहसन अथवा सुखान्तकी के पात्रों में उतनी तीव्र मानसिक शक्ति नहीं रहती जो छद्म-वेश को सहज ही पहचान लें। परन्तु यह शक्ति उनमें हम चाहते भी नहीं क्योंकि यदि इस मानसिक शक्ति का वरदान उन्हें प्राप्त होता तो फिर हम हँसते ही कैसे। परन्तु इस साधना के विषय में यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि छद्म-वेश पूर्णतः छद्म न हो। उसमें इस बात की संभावना अवश्य रहनी चाहिये कि संदेह की भावना बनी रहे: सन्देह और संशय जितना ही तीव्र होगा, हास्य उतना ही व्यापक होगा। यदि छद्म-वेश इतना संपूर्ण और ऐसा सन्देहविहीन हुआ कि किसी को उस पर शक ही न हो तो वह छद्म-वेश किस काम का। छद्म के आवरण से झलकती हुई यथार्थता ही हमें खिलखिलाने पर विवश करती रहेगी।

छद्म-वेश

विस्मरणशीलता के अवगुण द्वारा तो अपूर्व रूप में हास्य प्रदर्शित हुआ है। इस अवगुण का प्रकाश समाज के सभी-क्षेत्रों के व्यक्तियों में मिलता रहा है और लेखकों ने इस आधार से लाभ भी बहुत उठाया है। माता, पिता, विशेषतः शिक्षक-वर्ग, महाजन, कर्ज़खोर इत्यादि सभी के चरित्र में इस अवगुण के विशेष समावेश द्वारा हास्य प्रदर्शन की सफल चेष्टा की गई है। विस्मरणशील व्यक्ति ने, नाटकों में, जितना सफल हास्य-प्रदर्शन किया है उतना और किसी वर्ग के पात्र ने शायद ही किया हो।

विस्मरणशीलता

नाटक-कारों ने, साधारणतः, कुछ व्यक्तियों को ऐसे वातावरण अथवा ऐसी परिस्थिति में रख कर भी हास्य-प्रदर्शन का प्रयास किया है, जिस वातावरण अथवा परिस्थिति में वे कार्य करने के अभ्यस्त न थे। रसोई में पति तथा दफ्तर में पत्नी; जलाशय में तैरने से अनभिज्ञ व्यक्ति; अनेक ऐसी ही विषम परिस्थितियों का आधार प्रहसनों में हास्य-प्रदर्शन के लिये लिया गया है।

परिस्थिति

समाज में प्रचलित, अप्रचलित तथा पाश्चात्य और प्राच्य फैशन संबंधी विषयों को प्रयुक्त कर भी कम हास्य प्रस्तुत नहीं किया गया। साधारणतया पाश्चात्य वातावरण में प्राच्य तथा प्राच्य वातावरण में पश्चात्य फैशनों को

१ रोमीय लेखको ने इस आधार का बहुत प्रयोग किया है: शेक्सपीयर ने भी इसी साधन को अपने अनेक सुखान्तकीयों में प्रयोग किया है।

स्थानान्तरित करके प्रहसनों ने अत्यधिक सफलता पाई। यों भी, समाज में साधारणतः ऐसे ही व्यक्ति अधिक रहते हैं जो परम्परानुयायी होते हैं और सरलतापूर्वक नवीनता की ओर नहीं झुकते। केवल कुछ अल्पसंख्यक ही इस ओर आकृष्ट होंगे; और इन्हीं को विषय-रूप रखकर अट्टहास तक प्रस्तुत किया गया है। ये व्यक्ति अपने निजी सामाजिक स्तर से ऊँचे उठने के प्रयत्न में अत्यधिक हास्यास्पद प्रमाणित किये गये हैं। प्रायः लेखकों ने दास-वर्ग से श्रेष्ठ वर्ग की भाषा तथा उनके आचार-विचार और वेष-भूषा के प्रयोग द्वारा गहरे रूप में हास्य प्रदर्शित किया है। इस प्रकार का हास्य दर्शकों को अधिक प्रिय रहा है और उन्होंने इसके द्वारा यथेष्ट आनन्द भी उठाया है।

फ़ैशन

प्रायः नाटककारों ने, हास्य प्रदर्शन के लिये ऐसे विषयों का मनोनुकूल प्रयोग किया है जिनमें किसी न किसी रूप में सामाजिक द्वन्द्व[1] प्रस्तुत था। भारतीय समाज में पति-पत्नी; सास-बहू; देवरानी-जेठानी; पड़ोसी-पड़ोसिन; बूढ़ा-युवती; इत्यादि अनेक द्वन्द्व-पूर्ण सामाजिक वर्गों के झगड़ों, विवाद तथा अतिशयोक्ति पूर्ण विशेषण प्रयोगों से सभी परिचित हैं और इनका विस्तृत प्रयोग यदि प्रहसनों में होता रहा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या। पुरुष और स्त्री का द्वन्द्व आज का नहीं वरन् बहुत पुराना है और शायद इसका अन्त असम्भव होगा। इसका कारण केवल यही है कि दोनों की उपस्थिति एक दूसरे के लिये ही आवश्यक नहीं वरन समाज तथा सभ्यता की प्रगति के लिये भी अनिवार्य है। इसी आधार के अन्तर्गत अन्य द्वन्द्वपूर्ण सामाजिक अंगों की भी गणना होगी जो हास्य-प्रदर्शन में सहज ही सहायक हुये हैं। पिता-पुत्र; शिक्षक-शिष्य; महाजन-मुनीम; अफ़सर-नौकर इत्यादि के संवाद द्वारा सफल हास्य-प्रदर्शन हुआ है और इनके उदाहरण दैनिक जीवन में पग-पग पर मिलेंगे। पारिवारिक प्रतिष्ठा की स्थापना में दत्तचित्त पिता तथा प्रेम-हिंडोले में झूलता हुआ पुत्र; पाण्डित्य का बोझ गिराता हुआ शिक्षक और उस बोझ से दबता हुआ शिष्य; सूद-दर-सूद की ओर आँखे गड़ाये महाजन और मूल की सफ़ाई करने वाला मुनीम, अभिजात वर्ग के आचार-विचार में लिप्त अफ़सर और ठेठ देहात से लाया हुआ नौकर[2]; सभी ने प्रहसनों तथा सुखान्तकीयों में अविरल हास्य-धारा बहाई है।

सामाजिक द्वन्द्व

---

१. देखिए—'नाटक की परख'—प्रहसन खण्ड

२. देखिए—'सात एकांकी'—'चौराहा'

भाषा तथा शब्द-प्रयोग द्वारा प्रदर्शित हास्य के तो असंख्य उदाहरण मिलेंगे और यही कारण है कि प्रायः सभी विचारकों ने इस प्रयोग द्वारा प्रदर्शित हास्य का विश्लेषण विशेष रूप में किया है। सभी दर्शनज्ञों ने कुछ न कुछ विचार वक्रोक्ति तथा श्लेष प्रयोग पर प्रस्तुत किये और साधारणतया वक्रोक्ति का सफल प्रयोग तभी सराहनीय माना जब उसके द्वारा असमान तत्वों के अन्तर्गत समान गुणों का संकेत मिले[1] और मनुष्य की बुद्धि इस संकेत को इतने शीघ्र तथा सूक्ष्म और आकस्मिक रूप में स्पष्ट करे कि हमें चकित तथा आश्चर्यित कर दे। आकस्मिक संकेत में ही वक्रोक्ति की सफल अभिव्यक्ति मिलेगी। इस सिद्धान्त को व्यापक बनाने की दृष्टि से यह विचार प्रस्तुत किया गया कि वक्रोक्ति में समानता की ओर आकस्मिक संकेत होना तो चाहिये परन्तु यह समानता असमान वस्तुओं अथवा विचारों के अन्तर्गत ही परिलक्षित होनी चाहिये। जहाँ कहीं असमानता में साम्य के दर्शन होंगे वक्रोक्ति के सहज उदाहरण मिलेंगे।[2] परन्तु असाम्य में साम्य का संकेत तीव्र बुद्धि के व्यक्ति ही दे पायेंगे फलतः यह प्रमाणित है कि वक्रोक्ति प्रदर्शन में तीक्ष्ण-बुद्धि अत्यावश्यक होगी। इन्हीं दोनों विचारों के समन्वय[3] के फलस्वरूप यह विचार साधारणतः अभिमत रहा कि वैषम्य-पूर्ण विचारों की ओट में जहाँ कहीं भी समानता अथवा असमानता अथवा दोनों का आनन्ददायी संकेत मिलेगा वक्रोक्ति का जन्म होगा।

भाषा: वक्रोक्ति

वास्तव में वक्रोक्ति संबंधी उपरोक्त सभी विचार ऐसे प्रतीत होंगे मानों लेखकों तथा विचारकों ने वक्रोक्ति की सीमायें बांध दी हैं और वे केवल असाम्य में साम्य के दर्शन के फल-स्वरूप ही वक्रोक्ति को परख पायेंगे। यदि सूक्ष्म रूप में देखा जाय तो वक्रोक्ति के प्रदर्शन में हमें बुद्धि का ही अधिक चमत्कार दिखाई देगा। हमारी बुद्धि की तीक्ष्णता तथा तीव्रता, उसकी विलक्षण दृष्टि, उसकी आकस्मिक प्रेरणा जो एकाएक हमें वैषम्यपूर्ण, कारण[4], वस्तु,

१—लॉक

२—ज़ोज़ेफ ऐडिसन

३—हैज़लिट

४. एक वकील साहेब, जो गवाहों को घबड़ा देने में मशहूर थे एक खून के अभियोग में बहस कर रहे थे। एक गवाह जो वकील साहेब की चालों से पूर्णतः परिचित था गवाही के लिए उपस्थित हुआ और वकील साहेब ने जिरह प्रारंभ की—

'क्यों जी! जब खून हुआ तब तुम कहाँ खड़े थे?'

विचार[1], कार्य[2] इत्यादि में साम्य की झलक दिखलायेगी वक्रोक्ति को जन्म देगी। जिस प्रकार शिकारी अपने शिकार की खोज में इधर-उधर ताक-झांक लगाये फिरता है उसी प्रकार वक्रोक्ति की आत्मा भी अपना शिकार वैषम्य के क्षेत्रों में ढूँढती फिरती है। संवाद अथवा नाटकों में, कथोपकथन-क्षेत्र ही वक्रोक्ति-प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है और संवाद कर्त्ताओं में जितनी अधिक, एक दूसरे के प्रति एक ओर विरोध अथवा विद्वेष तथा दूसरी ओर आकर्षण की भावना तीव्र रहेगी उतनी ही तीव्रगति से वक्रोक्ति का प्रदर्शन होगा। मन्दबुद्धि प्रायः तीव्र-बुद्धि वालों से उलझ जाते हैं अथवा विदूषक जब बुद्धिपूर्ण व्यक्तियों से होड़ लेने लगते हैं तो वक्रोक्ति अपने उत्कर्ष पर रहती है। प्रेमी के आग्रह तथा प्रेमिका के दुराग्रह; सफल जीवन की प्रशंसा करने वाले और विफल जीवन की दुहाई देने वाले; आदर्शवादियों तथा यथार्थवादियों इत्यादि द्वन्द्वपूर्ण वर्गों[3] द्वारा

'मैं, मौक़े से ठीक पन्द्रह गज़ साढ़ेग्यारह इंच की दूरी पर खड़ा था।'

'मगर तुमने इतनी दूरी ठीक-ठीक कैसे जान ली।'

'जनाब ! मैं जानता था कि कोई न कोई आदमी इस तरह की बेवक़ूफ़ी के सवाल जरूर करेगा इसलिये मैंने यह दूरी पहले से ही नाप ली थी।'

१. आयरलैण्ड के प्रसिद्ध वकील मिस्टर कुरन न्यायाधीशों को मुँह की खिलाने में बहुत अभ्यस्त थे। एक बहुत अनुभव-प्राप्त जज इनकी बहस से खीज उठे और क्रोध से बोले—'मिस्टर कुरन ! अगर आप जो मुझे समझा रहे हैं वही ठीक क़ानून है तो मुझे अपनी सब पुस्तकें जला देनी चाहियें !

कुरन ने बहुत नम्रता से कहा—'जी नहीं ! हुज़ूर ! उन्हें एक बार पढ़ डालना चाहिये।'

२. एक जज साहेब एक वकील से बहुत नाराज़ रहा करते थे और अपने इजलास पर अपना एक शिकारी कुत्ता लाया करते थे। वकील का अपमान करने और उसकी बहस को निरर्थक प्रमाणित करने के लिये वे अक्सर उस कुत्ते को पुचकारते और थपथपाते और बात अनसुनी कर जाते।

एक दिन वकील साहेब किसी संगीन मुक़दमें पर बहस कर रहे थे—मगर जज साहेब रह-रह कर कुत्ते को पुचकार रहे थे। थोड़ी ही देर बहस करने के बाद वकील साहब एकाएक रुक गये।

इतने में ही जज-साहेब बोले। 'वकील साहेब ! आप रुक क्यों गये ? बहस जारी रखिये ! वकील साहेब ने बहुत शान्त स्वर में कहा—'हुज़ूर मैं सोच रहा था कि शायद हुज़ूर आपस में कुछ मशविरा कर रहे हैं'।

३. देखिये—'नाटक की परख'—प्रहसन खण्ड।

वक्रोक्ति का अत्यन्त आकर्षक प्रदर्शन हुआ है। परन्तु वक्रोक्ति प्रयुक्त करने वाले लेखकों में एक विशेष प्रकार की क्षमता दृष्टिगत होगी : उनमें संयत-विचार की प्रचुर मात्रा रहेगी और इसी संयत-विचार के साथ-साथ एक अपूर्व निर्लिप्तता भी उनमें दिखाई देगी। इस निर्लिप्तता अथवा पक्षपातहीनता के कारण वक्रोक्ति में तीक्ष्णता विकसित होगी जिसके कारण विशेष आनन्द का प्रसार होगा। वक्रोक्ति प्रयोग में पक्षपातहीन भावना की उपस्थिति द्वारा आनन्द का कितना अधिक प्रसार होगा इसके उदाहरण हम अनेक सामाजिक स्थलों में पायेंगे। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब कभी पति-पत्नी; सास-बहू; देवरानी-जेठानी के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ तो इस बात की अवश्य कोशिश की गई कि कुछ दर्शक-वर्ग हिमायती के रूप में प्रस्तुत रहें और उस विवाद में अपना मत-प्रदर्शन करते रहें। विवाद, यों भी दर्शकों का आधार ढूँढता है; एकान्त में विवाद या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो, एकान्त उसकी प्रगति नहीं होने देता। एकान्त, विवाद के लिये घातक होगा। दर्शक-वर्ग अथवा श्रोता विवाद करने वालों के सम्मुख एक नैतिक न्यायालय के रूप में दिखलाई देते हैं; और यदि इस नैतिक न्यायालय के सम्मुख पक्षपात-हीनता का आश्रय लिया गया तो तीर निशाने पर बैठने लगता है; वक्रोक्ति अपने उत्कर्ष पर आने लगती है।

प्रायः श्लेष द्वारा प्रदर्शित हास्य को, लेखकों ने कुछ अधिक महत्त्व नहीं दिया। इसका कारण यह था कि वे वक्रोक्ति की हो व्याख्या में उलझे रहे और उसका आकर्षण उनके लिये कुछ अधिक ही रहा।

श्लेष

श्लेष के द्वि-अर्थ ने हास्य का अविरल प्रसार किया है और यह साधन प्रायः सभी युगों[1] के लेखकों द्वारा अपनाया गया। ज्यों ही श्रोतावर्ग श्लेष-पूर्ण शब्द सुनते हैं उसके पहले अर्थ के साथ-साथ दूसरा अन्तर्हित अर्थ भी प्रकाश पाने लगता है; और जितनी शीघ्रता से यह गौण अर्थ हृदयंगम किया जायगा उतनी ही शीघ्रता से हास्य का प्रस्फुटन भी होगा। चुम्बक के आकर्षण से कुछ दूर रह कर छोटे लोहे के टुकड़े बहुत मन्द गति से उसकी ओर चलते हैं और उसके पास आते ही खटाक से उससे जुड़ जाते हैं। उसी प्रकार गौण अर्थ धीरे-धीरे संकेत रूप में प्रदर्शित होता है और पूर्णतः प्रदर्शित होने के अपूर्व क्षण से ही हास्य अपने उत्कर्ष पर आ जाता है।

---

१ ऐरिस्टॉफ़ेनीज़; प्लॉटस; शेक्सपियर; मुलियर।

वक्रोक्ति तथा श्लेष की व्याख्या के उपरान्त हम सहज ही क्रीड़ा-प्रवृत्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत उनके द्वारा प्रदर्शित हास्य का विश्लेषण कर सकेंगे।

क्रीड़ा-सिद्धान्त समीक्षा

जैसा हम स्पष्टतः कह चुके हैं वक्रोक्ति, संवाद-क्षेत्र में ही अपने उत्कर्ष पर रहती है और संवाद-क्षेत्र का सम्बन्ध हम सरलतापूर्वक अपनी नैसर्गिक क्रीड़ा-प्रियता से जोड़ सकते हैं। हम बाल्य-काल से ही क्रीड़ा प्रिय रहे हैं और संवाद में भी हमें क्रीड़ा की छाया दिखाई दे जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या। जिस प्रकार गुड्डों-गुड़ियों से खेलते हुये बालक उसे इधर-उधर उलट-पलट कर आनन्द पाते हैं और गेंद खेलने में व्यस्त बालक-वृन्द उसे इधर-उधर लुढ़कता देख हर्षित होते रहते हैं उसी प्रकार संवाद-क्षेत्र क्रीड़ा-स्थल बन जाता है। संवाद, गुड्डा अथवा गेंद का रूप ले लेता है और हम अपने विचार को मनोनुकूल इधर-उधर घुमा फिरा कर, उसके मनोरंजक पहलू परख कर, हास्य प्रकाशित किया करते हैं और वक्रोक्ति एवं श्लेष के उदाहरण प्रस्तुत होने लगते हैं। उदाहरण के लिये फुटबाल खेलते हुये बालक गोल के खम्भे के पास पहुंच कर पूरी शक्ति से उसे मारते हैं और जब गेंद गोल के अन्दर न जाकर खम्भे से टकरा कर लौटती है तो हास्य का प्रस्फुटन होने लगता है और जब दूनी गति से लौटी हुई गेंद खिलाड़ी के सिर से टकरा कर उसे गिरा देती है अथवा उसकी नाक पर जा बैठती है और इधर-उधर ढुलकने लगती है तो अट्टहास नहीं रुक पाता। ठीक इसी आधार पर संवाद-क्षेत्र में, वक्रोक्ति तथा श्लेष प्रयुक्त करने वाले वर्गों अथवा व्यक्तियों द्वारा हास्य प्रदर्शित होगा। लौटती हुई गेंद की चोट वक्रोक्ति और श्लेष के प्रभाव समान होगी।

सुखान्तकी तथा अन्य हास्य-रस प्रधान साहित्य-क्षेत्रों के अनुसंधान द्वारा यह सहज ही प्रमाणित होगा कि ऐसे नाटक, जिनमें चरित्र-प्रदर्शन द्वारा हास्य-

मानवीचरित्र प्रदर्शन

प्रदर्शन मुख्य ध्येय था बहुत दिनों बाद लिखे गये। प्रायः परिस्थिति-प्रधान वस्तु का आधार लेकर ही हास्य-पूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ और ज्यों ज्यों मानवी-ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता गया और जैसे जैसे मानव मस्तिष्क जटिल होता गया वैसे ही वैसे चरित्र-प्रधान हास्य-साहित्य की रचना सम्भव होने लगी[1]। सभ्यता की

---

१. एरिस्टाफ़ेनीज़ के परिस्थिति-प्रधान नाटकों का अनुकरण रोमीय युग में भी होता रहा और इन्हीं परिस्थिति-प्रधान नाटकों में हमें किसी चरित्र विशेष के कुछ ऐसे अवगुणों के दर्शन हो जाते हैं जो आगे चलकर सामूहिक रूप में प्रस्तुत हुये। प्लाटस, मिनैण्डर, टेरेन्स की सभी हास्य-पूर्ण रचनाएँ

प्रगति ने मनुष्य के मस्तिष्क तथा उसके हृदय को इतना जटिल बना दिया कि हास्य-प्रदर्शन में उसका सफल-प्रयोग व्यापक रूप में होने लगा। अतः चरित्र की जटिलता हास्य की जननी हुई। साहित्यकारों ने इसी जटिलता में प्रस्तुत अनेक मानवी अवगुणों के दर्शन किये और परिहास, उपहास, व्यंग्य, वक्रोक्ति तथा श्लेष द्वारा उनका प्रदर्शन आरम्भ किया। और इसमें सन्देह नहीं कि मानव-जीवन, मानव-मस्तिष्क तथा मानव-हृदय इतना जटिल हो चुका है (और भविष्य में भी होता जायगा) कि हमें कभी भी हास्य-पूर्ण स्थलों की न्यूनता का अनुभव नहीं होगा। मानव की प्रगतिगामी जटिलता हास्य का अक्षय कोष बनी रहेगी। मानव चरित्र की इस जटिलता को सुलझाने की इच्छा से लेखकों ने उसका वर्गीकरण अवगुणों के आधार पर किया और इन्हीं वर्गीकृत आधारों को साहित्यकारों ने मनोनुकूल तथा अपनी प्रतिभा के अनुसार हास्य-प्रदर्शन के लिये अपनाया। पाखण्डी-पंडित; कायर-वीर; कंजूस-समाज-सेवी इत्यादि वर्गों में मनुष्य का विभाजन हुआ और उन्हें फल-प्रद रूप में हास्य-प्रदर्शन के लिये प्रयुक्त किया गया। इस प्रकार के हास्य-

---

परिस्थिति प्रधान है। एलिज़ाबेथ के युग में ही श्रेष्ठ चरित्र-प्रधान एवं हास्य-पूर्ण नाटकों के दर्शन होंगे। बेंन जानसन, मैसिंजर इत्यादि की रचनाओं में पहले-पहल चरित्र प्रदर्शन की चेष्टा दृष्टिगत होगी जिसका पूर्ण-प्रकाश शेक्सपियर की श्रेष्ठ रचनाओं में मिलेगा। परन्तु शेक्सपियर की रचनाओं में प्रदर्शित हास्यपूर्ण अथवा हास्यास्पद पात्र ऐसे नहीं जो हमें दैनिक जीवन में पग-पग पर मिलते रहें। जीवन में प्रदर्शित, हास्य की एकाकी छटा उनके नाटकों में नहीं मिलेगी। इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि जीवन की व्यापकता पर लगी हुई थी; उनकी दुःखान्तकीयों में विदूषक विश्राम नहीं करते और न उनकी सुखान्त-कीयों में ही सतत चाँदनी छाई रहती है। दोनों एक दूसरे का वातावरण ग्रहण किये रहते हैं। इसके साथ-साथ जिस रोमांचक प्रदेश में वे अपने सुखान्तकीयों का प्रदर्शन करते हैं वे हमारे दैनिक अनुभव से कहीं दूर हैं। वे हमें दूर ही से हँसा पाते हैं। यह सर्वसम्मत है कि सुखान्तकी के अपूर्व उदाहरण हमें शेक्सपियर में नहीं, अपितु फ्रांसीसी लेखक मुलियर की रचनाओं में मिलेंगे जहाँ मानव-चरित्र के हास्यपूर्ण स्थल हास्य की आभा से पूर्णतया आलोकित हैं। मुलियर का हास्य-जगत हमारा दैनिक हास्य-जगत है; हमें वहाँ उन सभी व्यक्तियों के अतिशयोक्तिपूर्ण प्रदर्शन मिलते हैं जिनसे हमारा दैनिक परिचय है। हास्यास्पद समाज को, अनेक वर्गों के अन्तर्गत ही, मुलियर ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। मनुष्य समाज के अन्दर उन्हें ऐसे

प्रदर्शन में, लेखकों[1] ने साधारणतया अतिशयोक्ति का ही सहारा लिया और अत्यन्त सफल-रूप में हास्य का प्रसार किया।

उपहास

हास्य, जब क्रोध एवं विद्वेष का सहयोग ढूँढ़ता है तो उपहास का जन्म होता है। और यही कारण है कि जितना भी उपहासात्मक साहित्य लिखा गया, साधारणतः लेखकों ने क्रोध के ही वशीभूत होकर लिखा है। काव्य-क्षेत्र का प्रायः समस्त उपहास-काव्य प्रतिशोध लेने की इच्छा से ही लिखा गया : विरोधी दल को नीचा दिखा कर उनका गर्व नाश ;[2] प्रतिद्वन्द्वी की प्रतिष्ठा को धूल में मिला देने की इच्छा ;[3] अपनी सत्ता को सर्व-मान्य बनाने की इच्छा[4] इत्यादि अनेक प्रतिशोधपूर्ण भावनाओं के आधार पर ही उपहास-काव्य निर्मित हुआ। कुछ लेखकों का क्रोध व्यक्ति

व्यक्तियों का विशाल समूह दिखलाई दिया जो वर्ग विशेष के अन्तर्गत रखे जा सकते थे : उन्हीं में से एक को अपने वर्ग का प्रतिनिधि रूप चुन कर मुलियर ने, उन्हें अपूर्व हास्य का आधार बनाया। उच्चाकांक्षा की डोर पकड़े ये मन्द-बुद्धि ; प्रशंसा के लोभ में व्यस्त लालची तथा कंजूस ; बड़े बोल बोलने वाला पाखण्डी ; इत्यादि ऐसे चरित्र हैं जिनको मुलियर ने अपने वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि मान लिया है और जिनके आधार पर अमर हास्य-प्रसारक रचनायें की हैं। कहा जाता है कि सुखान्तकी की आत्मा हमें जैसे-तैसे जीवन निर्वाह करने का उत्साह प्रदान करती है ; इस दृष्टि से मुलियर के सुखान्तकी हमें अपूर्व रूप में जीवन के समीप लाने और उसके प्रति अपना प्रेम बनाये रखने का आग्रह करते हैं। ऐसे हास्यपूर्ण तथा हास्यप्रद व्यक्तियों की उपस्थिति जीवन में एक विचित्र स्वाद ला देती है। हम उनका बहिष्कार नहीं चाहते।

१. हास्य-प्रदर्शन के उपयुक्त स्थलों की चर्चा करते हुये हमने अधिकतर नाटकों का ही उल्लेख किया है और इससे यह भ्रम हो सकता है कि कदाचित अन्य प्रकार के साहित्य के माध्यम से हास्य आर्विभूत नहीं हो सकेगा। साहित्य के सभी वर्गों में हास्य का प्रदर्शन संभव है। नाटक ही क्यों उपन्यास, कहानी, लघु-कथा, लेख ; महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीत इत्यादि सभी साहित्य-क्षेत्रों में हास्य का प्रदर्शन संभव होगा। उपन्यासों में कभी यह परिस्थिति द्वारा प्रादुर्भूत होगा और कभी दृष्टिकोण विशेष द्वारा जन्म लेगा।

२. बायरन

३. पोप

४. वही

के विरुद्ध न रहकर समाज के अथवा मानव जाति के विरुद्ध सुलगता रहा जिसके फल-स्वरूप अत्यन्त उच्चकोटि के हृदयद्रावक उपहास-साहित्य[1] की रचना संभव हुई।

उपहास की आत्मा व्यक्ति अथवा समाज के अवगुण की हास्य-पूर्णता नहीं निरखती : वह गुण तो परिहास का है। अपने मूल रूप में वह उनकी अनैतिकता पर कटाक्ष नहीं करती ; वह गुण तो व्यंग्य का है। वह उन पर आक्षेप करती है ; उन्हें अग्राह्य तथा घृणित प्रमाणित करती है। जिस प्रकार समाज-सुधारक समाज के दोषों पर अपनी दृष्टि एकाग्र कर उनकी अनैतिकता तथा उनकी अमानुषिकता पर आक्षेप कर उन्हें उच्च स्वर से घृणित प्रमाणित करते हैं, उसी प्रकार उपहास की अपरिमार्जित दृष्टि अवगुणों और दोषों पर गड़ जाती है और जब तक वह उन्हें घृणास्पद नहीं सिद्ध कर लेती उसे सन्तोष नहीं प्राप्त होता। फलतः मूल रूप में, उपहास द्वारा प्रदर्शित हास्य में अपमान का आभास मिलेगा और व्यक्ति अथवा कार्य अथवा आचार-विचार के प्रति घृणा की भावना परिलक्षित होगी। ऐसा ज्ञात होगा कि जैसे कोई रूढ़िवादी शिक्षक क्रोधवश अपने शिष्य के प्रति अपना रोष प्रकट कर उसके कार्य की घोर अनैतिकता का प्रमाण दे रहा हो। परन्तु ऐसा तभी होगा जब उपहास अपने निम्न स्तर पर रहेगा; क्यों कि अपने निम्न स्तर पर ही वह घृणा-विशेष तथा भर्त्सना का प्रदर्शन करेगा। उपहास, मनुष्य के भाव-संसार का सहज अंग नहीं; वह नैसर्गिक अथवा जन्मजात गुण के रूप में प्रस्तुत नहीं रहता। मनुष्य की इच्छा-शक्ति ही उसे प्रेरित करती है: इसी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा पाकर वह जन्म लेता है। परन्तु जो साहित्यकार अथवा लेखक[2] उपहास-प्रदर्शन की शैली में कला का समावेश कर लेते हैं अधिक लोक-प्रिय रहते हैं। वे अपने व्यक्तिगत क्रोध को कला का आवरण पहना देते हैं जिसके कारण व्यक्ति के कार्य अथवा विचार के प्रति उच्च स्तर के उपहासात्मक हास्य की सृष्टि होने लगती है। प्रायः लेखक वर्ग अतिशयोक्ति तथा विलक्षण रूप में, अपमानजनक उपमाओं तथा रूपकों और दृष्टान्तों के प्रयोग द्वारा, उपहास का कलापूर्ण प्रदर्शन करते आये हैं। प्रायः नवीन किन्तु अधोगतिकारक परिस्थितियों में व्यक्ति को कार्य-रत कर उपहास की आत्मा ने अपनी तुष्टि की है। उपहास की आत्मा से प्रेरित व्यंग्य-चित्रकारों ने भी इन्हीं उपकरणों का प्रयोग अपने व्यंग्य-चित्रों में मनोनुकूल किया है।

---

१. स्विफ्ट

२. बटलर; ड्राइडेन

परन्तु यह अत्युक्ति नहीं कि उपहास की पृष्ठ-भूमि में हमें मानवी-सभ्यता के आदि बर्बर के आदि हास्य की झलक मिलेगी। बर्बर समाज प्रतिद्वन्द्वी को धराशायी कर गर्ववश अट्टहास करता था; सभ्य समाज का उपहास घृणा तथा अधोगति की भावना का प्रसार कर सन्तोष पाता है। उपहास, मानव-समाज की अनैतिकता का निर्णायक तथा संशोधक है। यद्यपि स्पष्टतः हम अनेक उपहासपूर्ण सुखान्तकीयों में इस गंभीर संशोधन की चेष्टा का प्रमाण नहीं ढूंढ पायेंगे। जैसा हम संकेत दे चुके हैं श्रेष्ठ उपहास तभी साहित्य-क्षेत्र में आर्विभूत होगा जब साहित्यकार में रूपक तथा दृष्टान्त-साहित्य लिखने की विशेष क्षमता होगी। रूपक तथा दृष्टान्त द्वारा जिस कलापूर्ण एवं चित्ताकर्षक रूप में मानवी अनैतिकता का प्रदर्शन होगा उतना स्पष्ट रूप में आक्षेप द्वारा नहीं होगा। जिस शैली में इन्हीं दोनों गुणों का सम्यक प्रयोग होगा, वही शैली उपहास के लिये श्रेष्ठतम प्रमाणित होगी।

परिहास तथा उपहास द्वारा प्रदर्शित हास्य में प्रायः उतनी ही विभिन्नता रहेगी जितनी मध्यान के तप्त सूर्य में तथा पूर्णिमा की चन्द्रिका में रहती है।

परिहास तथा उपहास

परिहास द्वारा आर्विभूत हास्य में, जैसा हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं, सुरुचि, सुबुद्धि तथा सहानुभूति की विशेष मात्रा रहेगी। परिहास की आत्मा साश्रु हो जीवन पर अपनी दृष्टि फेंकती है और जहाँ कहीं चोट करती है उसकी मरहम-पट्टी भी उसी क्षण से आरंभ कर देती है। उपहास की आत्मा क्रोध एवं रोष से परिचालित होकर शर-संधान करेगी और व्यक्ति को अपने स्थान से पदच्युत कर, उसकी अधोगति देख उसे सन्तोष मिलेगा। इसके विपरीत परिहास की आत्मा व्यक्ति की त्रुटियों और उसके अवगुणों पर मानवी दृष्टि डाल कर, उन्हें जीवन का सहज अंग समझ कर, अपने हास्य द्वारा उनका सहज संशोधन चाहेगी। पारिवारिक रूप में, उपहास, पिता की क्रूर दृष्टि और परिहास माता की साश्रु कोमलता द्वारा आर्विभूत होती है। इस सम्बन्ध में हमें पुनः वक्रोक्ति तथा परिहास के गुणों की ओर संकेत करना आवश्यक होगा।

साधारणतः कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य-क्षेत्र के गद्य तथा पद्य समान वक्रोक्ति तथा परिहास, हास्य क्षेत्र के दो विरोधी वर्ग हैं। परन्तु यह विचार भ्रामक ही नहीं, वरन असत्य भी है। वक्रोक्ति का सहज सम्बन्ध, प्रायः हम मानसिक शक्ति से और परिहास का सम्बन्ध भानवा-क्षेत्र से जोड़ते चले आये हैं और हमने कभी यह नहीं सोचा कि क्या ये दोनों क्षेत्र ऐसे हैं जो

विरोधी हैं; द्वन्द्वपूर्ण हैं और दोनों का सम्बन्ध जैसा हम समझते आये हैं क्या वैसा ही है। अनुसंधान-प्रेमी पाठक, कदाचित; इस नवीन विचार के विरोध में कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत कर लेंगे। परन्तु कुछ थोड़े से उदाहरणों के आधार पर प्रमाण-पुष्टि नहीं हो पायेगी। परिहास, साधारणतः हमारी विचारशीलता तथा कल्पना विशेष का सहयोग ढूँढती है परन्तु वक्रोक्ति हमारे तर्क को जागरूक रखती है। वास्तव में, यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हमें वक्रोक्ति के पीछे उपहास के संबंध की सुदूर छाया दिखलाई दे जायगी। वक्रोक्ति की तीक्ष्णता में, उसकी अचूक दृष्टि में, उसकी चोट में, मार्मिक क्षति पहुँचाने की चेष्टा होगी; और इसके विपरीत परिहास, सहनशीलता तथा सहानुभूति की मूर्ति बना हुआ अपने शिकार पर आँसू बहायेगा।

परन्तु जब हम वक्रोक्ति तथा परिहास, दोनों को मनुष्य की सहज क्रीड़ा-प्रवृत्ति के सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे तो विशेष कठिनाई नहीं होगी। क्रीड़ा-प्रवृत्ति-क्षेत्र के अन्तर्गत दोनों में एक विचित्र साम्य दृष्टिगत होगा। वहाँ यह ज्ञात होगा कि वक्रोक्ति[1] भी परिहास की मधुर छाया से आच्छादित रह सकती है। आधुनिक साहित्य में, अधिकांश श्रेष्ठ लेखकों की रचनाओं में इस समन्वय का प्रयास मिलेगा। इन श्रेष्ठ साहित्यकारों की

१—(क) एक दिन इंगलिस्तान के राजा प्रथम जार्ज एक सराय से होकर निकले। शाम हो गई थी और जलपान का समय आगया था। उन्होंने नौकर को हुक्म दिया कि वह कुछ अण्डे ले आये। नौकर जब अण्डे लेकर लौटा तो उसने बतलाया कि अण्डे एक एक पौण्ड के मिले। जार्ज के कुछ बात समझ में नहीं आई। उन्होंने भटियारे को बुलवाया और कहाँ—'यहाँ अण्डे बहुत मँहगे हैं—मालूम होता है इधर मुर्गियाँ नहीं होतीं—' भटियारे ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! यह बात नहीं है, इधर राजा लोग नहीं होते, इसलिये अण्डों की यहीं कीमत है।

(ख) लार्ड चेस्टरफील्ड एक होटल में खाना खाने गये। जब तश्तरियाँ उनके सामने आईं तो वे बहुत गन्दी थीं और गर्द से भरी थीं। उन्होंने मैनेजर से शिकायत की। मगर मैनेजर दार्शनिक विचारों वाला व्यक्ति था—बोला 'श्रीमान! सभी जगहें गर्द से भरी हैं; कुछ न कुछ गर्द तो आदमी को खानी ही पड़ती है—

रचनाओं में हास्य तथा गांभीर्य का अपूर्व समन्वय इसीलिये संभव हुआ है कि वे[1] जीवन के श्रेष्ठ पारखी हैं; जीवन की व्यापकता से वे विशेष-रूप से परिचित हैं। कलात्मक रूप से, उनमें हृदय को छूने की क्षमता के साथ-साथ जीवन के हर्षपूर्ण क्षणों को भी अनुभव-गम्य बनाने की क्षमता है। श्रेष्ठ परिहास तथा वक्रोक्ति के समन्वित प्रदर्शन में उनकी कला अद्वितीय है।

परिहास-प्रेमी अपने व्यक्तित्व को ऐसे ढांचे में ढाल लेता है कि वह जीवन के किसी भी स्थल पर, बाह्य रूप में, निर्लिप्त रह कर, विचार-प्रदर्शन कर सकता है। वह अपने को, अपने वर्ग-विशेष के व्यक्तियों से भी पृथक रखकर जीवन पर चिन्तन करेगा और उसका चिन्तन अपूर्व तथा निराला होगा। साधारण स्तर के विचारों के साथ तथा चिन्तन की परिधि से बाहर वह एक विलक्षण दृष्टि से जीवन को परखेगा। उसे दर्शनज्ञों की विशेषज्ञता तथा उनकी दार्शनिक उड़ान में भी कहीं न कहीं हास्यपूर्ण स्थलों के दर्शन अवश्य होंगे। साधारण जगत की विचार-धारा से परे, मानव जीवन को दर्शन की जटिलताओं में उलझते हुये देखकर उसे सहज ही हंसी आयेगी। दो पैरों वाला मनुष्य, जब आकाश पर उड़ने की चेष्टा करेगा तो किसे हंसी नहीं आयेगी ?

चेस्टरफील्ड ने छूटते ही उत्तर दिया—'मगर जनाब क्या यह भी ज़रूरी है कि सारी गन्दगी और सब गर्द आदमी एक ही बार खा लें।'

(ग) प्रोफ़ेसर—(लड़के से) इस सर्टिफिकेट से पता चलता है कि तुम्हें स्कूल में चार बार इनाम मिला। ये इनाम किस-किस लिये थे ?

लड़का—श्रीमान्! पहला इनाम तो मेरी अच्छी याददाश्त के लिये था—मगर तीन और किसलिये थे—मुझे याद नहीं।

(घ) एक प्रोफेसर साहेब ने परीक्षा की कापियाँ लड़कों को वापस कीं और हर लड़के की कमज़ोरी उसकी कापी के अन्त में नोट कर दी। एक लड़का बहुत देर तक अपनी कापी पर लिखा नोट पढ़ता रहा मगर प्रोफ़ेसर साहेब की लिखावट का एक अक्षर भी न पढ़ पाया। अन्त में खीझ कर वह प्रोफ़ेसर साहेब के यहाँ स्वयं गया और पूछा—'जनाब! मेरी कापी पर आपने क्या लिख रखा है ?

प्रोफेसर ने कुछ देर कोशिश की और कहा—मैंने लिखा है—"साफ़-साफ़ लिखा करो।"

१ शेक्सपियर की दुखान्तकीयों में यह सत्य विशेष रूप में परिलक्षित है। देखिए—'नाटक की परख'—दुखान्तकी खण्ड।

वास्तव में, परिहास विचार-शीलता द्वारा ही आविर्भूत होगा; और जहाँ कहीं इस विशाल एवं विषम जीवन क्षेत्र में सामंजस्य की झलक मिलेगी, परिहास का जन्म होगा। परिहासपूर्ण व्यक्ति की परिकल्पना[1] जीवन के सभी गम्भीर क्षेत्रों में विचरण करती हुई अपना क्रीड़ा क्षेत्र निर्मित करती चलती है। प्रायः वह दो विरोधी भावनाओं अथवा विचारों तथा दृष्टिकोणों के सामंजस्य की ओर लक्ष्य करती हुई, संसार में प्रायोगिक जीवन-यापन करने की वांछनीयता प्रमाणित करती रहेगी। आदर्श और प्रायोगिकता; यथार्थ तथा अध्यात्म; दोनों क्षेत्रों से परिहास की आत्मा अपना संबंल ढूँढेगी।

जैसा कि हम स्पष्टतः प्रमाणित कर चुके हैं, परिहास, सतत सहानुभूति की अविरल धारा में स्नान किया करता है फलतः वह न तो निराशावाद अपनायेगा और न आशावाद प्रसारित करेगा। जीवन के दुःखप्रद स्थलों पर न तो वह सतत आँसू बहायेगा और न विचारहीन अट्टहास में सहयोग देकर किलकारियाँ मारेगा। दुःख के आवरण में आनन्द और आनन्द के आवरण में दु.ख की छाया उसे सतत दिखाई देगी। दुःखी जीवन से अठखेलियाँ करता हुआ सौभाग्य और सुखी जीवन को त्रासित करता हुआ दुर्भाग्य दोनों को वह सम-दृष्टि से देखेगा और जीवन को सौभाग्य तथा दुर्भाग्य का क्रीड़ा-स्थल समझेगा। अपनी विचारशीलता द्वारा वह जीवन और मरण के आखेट में आनन्ददायी क्षणों को एकत्र करेगा और उन क्षणों का एक अक्षय कोष बना कर जीवन को प्रोत्साहन देगा; बल देगा; सामर्थ्यवान बनायेगा।

अध्यात्म-क्षेत्र में एकाकी विचरण करने वाले दर्शनज्ञ चाहे जो भी कहें, मानवी जीवन क्षेत्र में परिहास का स्थान किसी न किसी रूप में सुरक्षित अवश्य रहेगा। चूँकि भविष्य में जीवन की रहस्यपूर्ण पहेली को सुलझाने की समस्या सभी युगों में समान रूप से प्रस्तुत रहेगी ; और प्रगतिगामी मानव-जीवन अपने रहस्य को और भी जटिल करता जायगा इसलिये परिहास की आवश्यकता सतत बनी रहेगी। जिस प्रकार केले के पेड़ कट जाने पर भी उसकी जड़ से नवीन पौधे अपने आप निकलते चलते हैं उसी प्रकार अध्यात्म जितने भी प्रश्न सुलझाता चलेगा, नवीन प्रश्न प्रस्तुत होते ही रहेंगे। इसी अनिवार्यता में परिहास अपना अमर स्थान बनायेगा। दर्शनवेत्ता प्रायः यह भूल जाते हैं कि उनके दर्शनात्मक चिंतन का मूल आधार मानव-जीवन ही है और उसके किसी भी स्थल को बहिष्कृत कर त्याज्य ठहराना न तो तर्क-संगत

१. देखिये—'काव्य की परख'

होगा और न न्याय-संगत । आध्यात्मवाद की उड़ान पतंग के समान हमें चाहे कितनी भी दूर आकाश में क्यों न ले जाय परन्तु यथार्थ की चर्खी हमें समया-नुसार और मनोनुकूल अपनी लपेट में नीचे ले ही आती है और परिहास हमारी इस अधोगति पर मुस्कुराता रहता है । युगों के परिश्रम और मनन तथा चिन्तन के पश्चात् जब केवल दो शब्द 'नेति-नेति' प्रसूत हुये तो इस विफल प्रयास पर कौन नहीं मुस्कुरायेगा । अपनी प्रेयसी के लिये चांद-तारे तोड़ कर लाने की धमकी देते हुये प्रेमी ; वियोग में एक क्षण भी जीना असंभव प्रमाणित करने की चेष्टा में निमग्न प्रेयसी ; देव-दर्शन की प्रतीक्षा में बैठे हुये साधक के सम्मुख रक्त-पिपासु परन्तु क्षमा-शील व्याघ्र की आकस्मिक उपस्थिति आज से नहीं, आदि काल से हास्य प्रदर्शन द्वारा हमारे गर्व का संशोधन करती आई है और परिहास को समर्थ बनाती रही है । जीवन से उसका बहिष्कार संभव नहीं ।

परिहास की आत्मा के विश्लेषण में यह सतत विचारणीय होगा कि उस-की दृष्टि जीवन के उन व्यक्तियों अथवा वर्ग-विशेष पर पड़ती है जो सामाजिक दृष्टि से हास्यप्रद होंगे अथवा जिनमें कोई ऐसा बेढ़ंगापन होगा जो समाज की सुव्यवस्था में वैषम्य फैलायेगा; उसकी प्रगति में रोड़े अटकायेगा । उपहास प्रायः समस्त समाज अथवा व्यक्तिगत आचरण पर तीव्र कटाक्ष एवं आक्षेप करेगा और उसे उपहासास्पद प्रमाणित करेगा । कभी-कभी परिहास भी उपहास क्षेत्र में आने का प्रयत्न करेगा परन्तु उसके हास्य में न तो प्रति-शोध का अंश होगा और न वह प्रायोगिकता को ध्यान में रख कर ही किसी को हास्यप्रद प्रमाणित करेगा । यद्यपि उसकी दृष्टि में स्नेह तथा सहानुभूति होगी फिर भी उसका स्पष्ट ध्येय यह कभी नहीं रहेगा कि उसके द्वारा समाज का व्यापक सुधार हो । समाज-सुधार परिहास का लक्ष्य नहीं ।

पूर्वोक्त समीक्षा द्वारा यह स्पष्ट है कि हास्य के आर्विभाव के लिये आदि-काल से लेकर अपने आधुनिक रूप में उसका सामाजिक सम्बन्ध किसी न किसी अंश में अवश्य अटूट रहा है और साधारण जीवन से वह चरित्र कभी भी विमुख नहीं हुआ । साधारण मानवी जीवन क्षेत्र में रह संशोधन कर उसने सहयोग की अनेक सुविधायें प्रस्तुत कीं; सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाया; मनुष्य चरित्र की विषमताओं तथा अव-गुणों के संशोधन का प्रयास किया और मानव को मानवता के एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया । परन्तु हास्य के इस प्रयत्न के सम्बन्ध में अनेक भ्रम फैल गये हैं ।

अनेक विचारक यह प्रमाणित करने की चेष्टा करने लग गये हैं कि हास्य का प्रमुख लक्ष्य जीवन के दोषों का निराकरण है; उनका नैतिक परिष्कार है। इस विचारधारा के अनुसरणकर्त्ता सिद्धान्त रूप में, यह मानने लगे हैं कि हास्य चाहे किसी भी रूप अथवा माध्यम से प्रदर्शित क्यों न हो दर्शक-वर्ग का नैतिक परिष्कार उसका प्रमुख लक्ष्य होगा। कदाचित् इस विचारधारा ने दुःखान्तकी रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। जिस प्रकार दुःखान्तकी[1] मानवी चरित्र का परिष्कार अपना धर्म समझती है उसी प्रकार सुखान्तकी अथवा प्रहसन हास्य के माध्यम से मनुष्य के अनैतिक चरित्र का संशोधन करेंगे। इस असाहित्यिक विचार का तर्क-पूर्ण समर्थन यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

इस विचार के विरोध में यह सहज ही कहा जा सकता है कि सुखान्तकी अथवा प्रहसन में प्रयुक्त हास्य मनुष्य के अनैतिक आचरण, दोष अथवा अवगुण पर सीधी चोट नहीं करता और न उसका यह प्रमुख लक्ष्य ही रहता है। और जिस परिस्थिति में यह हास्य प्रस्तुत होता है वह परिस्थिति नैतिक परिष्कार के यदि प्रतिकूल नहीं तो स्पष्टतः अनुकूल भी नहीं होती। सामाजिक सुव्यवस्था से भटके हुये व्यक्ति को पुनः सामाजिकता का पाठ पढ़ा कर उसे समाज का उपयोगी अंग बनाने का उत्तरदायित्व वह संभालता ही नहीं। हाँ, प्रायः यह होता है कि हम अपनी निजी भावनाओं के इतने वशीभूत हो जाते हैं कि हमें हास्य का कोई अन्य रूप दिखलाई ही नहीं पड़ता और अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को हम हास्य का स्पष्ट लक्ष्य समझने लगते हैं। साधारणतः यह भी हो सकता है कि हास्य की आत्मा कभी ऐसी भाव-भंगी अपना भी ले जिसमें संशोधन की इच्छा दिखलाई दे जाय; परन्तु हास्य की वास्तविक आत्मा इस उत्तरदायित्व को दूर ही रखेगी। इस सम्बन्ध में यदि हम उपहास[2] का दृष्टिकोण तथा उसका लक्ष्य देखने का प्रयत्न करें तो परिहास-जनित हास्य पर यह उत्तरदायित्व हम नहीं रखेंगे। संशोधन, उपहास का क्षेत्र है, परिहास का नहीं।

इसके साथ-साथ यदि हम दर्शकवर्ग की मनोवृत्ति का भी विवेचन करें तो यह प्रमाण और भी स्पष्ट हो जायगा। सुखान्तकी अथवा प्रहसन के माध्यम से प्रसूत हास्य क्या हमें दर्शकवर्ग की हैसियत से वैसे ही प्रभावित करता है जैसा विचारक समझते हैं? सच तो यह है कि दर्शक वर्ग

---

१. देखिये—'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड।

२. देखिये पृष्ठ—२०८

जब कोई हास्यास्पद प्रदर्शन देखते हैं तो उस समय वे ऐसी मानसिक अवस्था बनाये रखते हैं जो संशोधन के संकेत की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखती। झूठ, पाखण्ड, दंभ, ईर्ष्या, इत्यादि सामाजिक अवगुणों का हास्यास्पद प्रदर्शन हमें अपने चरित्र में निहित इन अवगुणों की ओर संकेत नहीं देता। हमारी मानसिक गति ऐसी रहती ही नहीं कि हम कोई शिक्षा ग्रहण कर सकें। वस्तुतः ऐसा होता है कि घोर से घोर पाखण्डी अथवा ईर्ष्यापूर्ण व्यक्ति यह समझता ही नहीं कि प्रस्तुत प्रदर्शन का वह स्वयं भी शिकार है : यही कारण है कि वह उसका आनन्द सबके समान ही उठाता है[1]। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत कहानियों में चरितार्थ होती है : साधारण जीवन में नहीं प्रमाणित होती। हास्य-पूर्ण प्रदर्शन ऐसा वातावरण तथा दर्शकों की ऐसी मानसिक अवस्था निर्मित किये रहता है कि अवगुणों के संशोधन अथवा परिमार्जन की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि हास्य का प्रमुख कार्य न तो चरित्र का संशोधन है और न अवगुणों का निराकरण। वास्तव में यह कार्य उसके लिये गौण रूप में ही ग्राह्य होगा। जहाँ कहीं संशोधन इच्छित होगा वहाँ भी उसका संकेत अस्पष्ट ही रहेगा; अव्यक्त अथवा अप्रत्यक्ष रूप में ही यह कार्य संभव होगा। जिस प्रकार काव्य का प्रमुख्य लक्ष्य आनन्द-प्रदान है और शिक्षा-प्रदान उसका गौण कार्य ही रहेगा उसी प्रकार हास्य-साहित्य का प्रमुख लक्ष्य आनन्द-प्रसार है और संशोधन-कार्य गौण महत्त्व रखता है। परन्तु इस संबंध में एक विशेष मनोवैज्ञानिक तत्त्व पर भी हमें ध्यान देना आवश्यक होगा। प्रायः हम प्रतिदिन किसी न किसी व्यक्ति को बन्दी रूप में कारागार भेजे जाते हुये देखते हैं और यह जान कर कि इस व्यक्ति ने चोरी की है अथवा हत्या की है, हमारे अन्तरतम में चोरी तथा हत्या के प्रति एक प्रकार का नैतिक भय घर बना लेता है; उसी प्रकार हास्य द्वारा भी अव्यक्त तथा अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक तथा व्यक्तिगत अवगुणों के प्रति हममें एक प्रकार का भय निहित रहने लगता है। हास्य, समाज के ऊपर वाह्य नहीं वरन आन्तरिक[2] अंकुश रखेगा

१. कभी-कभी सिनेपट पर प्रदर्शित प्रहसनात्मक खण्डों में पात्र विकल होते हुये दिखलाये गये हैं : साधारणतः ऐसा होता नहीं। और यह सभी जानते हैं कि सिनेपट पर प्रदर्शित चरित्र—स्वाभाविक जीवन से कितने दूर रहते हैं।

१. यूनानी दर्शनज्ञ तथा आलोचक अरस्तू का भी यही विचार था कि जब हम कोई शुभ कार्य करते हैं तो हममें एक प्रकार का आन्तरिक आनंद

और इस विचार के पक्ष में प्रमाण हमें अनेक सामाजिक क्षेत्रों में मिलेंगे, जिनके द्वारा हमें यह निश्चय हो जायगा कि किसी न किसी रूप में समाज अपने संशोधन, परिमार्जन तथा नियन्त्रण के लिये हास्य का उपयोग करता आया है और उसकी सामाजिक उपयोगिता अनन्त काल तक बनी रहेगी।

परन्तु हास्य की सामाजिक उपयोगिता के प्रति हमें सतर्क रहना होगा। हो सकता है कि उसकी उपयोगिता प्रमाणित करने के प्रयत्न में हम उसके सहज तथा नैसर्गिक गुण को भुला दें। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे दैनिक जीवन की बहुत सी असुविधाओं, दिन-प्रति-दिन सामने आनेवाली अड़चनों, समाज के मन्द-बुद्धि व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत उलझनों तथा अपनी ही अलौकिक बुद्धिमत्ता द्वारा प्रसूत कठिनाइयों—इन सबका निराकरण हास्य द्वारा सहज ही संभव होगा। हमारे दैनिक जीवनाकाश पर मंडलाते हुये काले बादलों को हास्य अपनी प्रभंजन शक्ति से छिन्न-भिन्न कर सकता है; हमारी असुविधाओं

प्रस्फुटित होने लगता है और हम अपने शुभ कार्य के अप्रत्याशित फल से और भी हर्षित होने लगते हैं। उसी प्रकार सुखान्तकी द्वारा प्रदर्शित हास्य यदि आनन्द प्रसार के मुख्य लक्ष्य की पूर्ति करते हुये संशोधन का कार्य भी अप्रत्याशित रूप में करता चलता है तो वह और भी सफल होगा। प्राचीन युग से आधुनिक युग तक जिस प्रकार सुखान्तकी द्वारा प्रसूत हास्य की रूप रेखा परिवर्तित होती चली आई है उसके अध्ययन के पश्चात् हमें यह आभास मिलेगा कि प्राचीन युग का सहज आनन्द हमसे कहीं अधिक दूर हो गया है और हम उस वातावरण और उस सहज बाल-सुलभ हास्य का पुनः नवनिर्माण नहीं पायेंगे। कला ने अपने ऊपर नित नूतन उत्तरदायित्व रखने आरम्भ कर दिये हैं और वह समाज के प्रति विमुख रहने का भी स्वत्व पा चुकी है। सामूहिक जीवन अथवा सहयोगी जीवन का आदर्श हम मानते तो अवश्य हैं परन्तु व्यक्तिगत जीवन में पार्थक्य की भावना और भी अधिक बढ़ाते जाते हैं: हमारी वैयक्तिकता इतनी बढ़ी-चढ़ी रहती है कि सामूहिक समाज के जीवन की ओर हम दृष्टिपात करने का कष्ट ही नहीं करते। फलतः आदि युग के सामूहिक अथवा सहयोगिक आनन्द की अनुभूति हमें नहीं हो पाती। प्रत्येक व्यक्ति की दुनियाँ अलग है: उसका हास्य और रोदन भी अलग है। और जहाँ कहीं लेखक इस प्रकार के हास्य-प्रदर्शन की चेष्टा करता है वहाँ हमें यह ज्ञात होता है कि ज़बरदस्ती हास्य प्रसार की चेष्टा की जा रही है और कृत्रिम साधनों का प्रयोग हो रहा है। आधुनिक हास्य की मूल अभिव्यक्ति, प्रायः अतिशयोक्ति द्वारा ही सम्भव हो रही है।

को, हमारे मार्ग की अड़चनों को, अपने वशीभूत कर उनकी महत्त्वहीनता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार ओस-कण का स्नेह पाकर, प्रातःकाल, कलियां मधुर पराग तथा हृदयग्राही सुगन्धि से भर उठती हैं उसी प्रकार हास्य की छटा का सहयोग पाकर हमारा मानस आलोकित तथा प्रफुल्लित हो उठेगा। परिवार तथा समाज, न्यायालयों तथा शिक्षण-क्षेत्रों, राजनीति तथा अध्यात्म के समस्त क्षेत्रों में हमें ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा जिन पर विजय पाने के लिये न तो अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता होगी और न शारीरिक बल की। केवल हमारा हास्य ऐसे आड़े समय काम आयेगा।

जिन विचारकों ने हास्य को महत्त्वहीन समझा और उसे निकृष्ट प्रमाणित करने की चेष्टा की उनके विचारों का निराकरण अन्य प्रसिद्ध विचारकों ने समुचित रूप में किया है। परन्तु इस बात पर सभी सहमत रहे कि किसी भी प्रकार का क्रूरतापूर्ण हास्य अथवा ऐसा हास्य जिसमें बर्बर भावना का आधिक्य होगा न तो समाज के लिये हितकर होगा और न व्यक्ति के लिये आनन्ददायी। बाल-सुलभ हास्य से लेकर सभी प्रकार के चिन्तनशील तथा गंभीर हास्य का महत्त्व प्रमाणित है और यही कारण है कि हास्यपूर्ण तथा आनन्द प्रसारक साहित्य हमें सभी युगों में प्रिय रहा है। जिन प्रसिद्ध साहित्यकारों का दृष्टिकोण नितान्त नैतिक रहा और जो साहित्यज्ञ गंभीर से गंभीर रूप में चिन्तन में संलग्न रहे उन्होंने भी हास्य की मर्यादा की रक्षा की और उसे मानव समाज का श्रेष्ठ गुण माना। और इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि हास्य ऐसा गुण है जिसके द्वारा समाज में आनन्द का प्रसार हुआ है और हास्य-प्रसारक व्यक्ति सदैव लोक-प्रिय रहे हैं। ऐसे व्यक्ति, जो अपनी मन्दबुद्धि अथवा अन्य किसी भी कारण से हास्य के शिकार होते रहे चाहे उसका विरोध करें तो करें परन्तु उन व्यक्तियों की संख्या अनगिनत होगी जो हास्य का समर्थन करेंगे और उसके प्रसार में सहयोग देंगे। हास्य-प्रसारक व्यक्ति जीवन में अमृत घोलता है; जीवन-पथ के कण्टकाकीर्ण मार्गों को कण्टकविहीन बनाता है; मानव के आनन्द-कोष को भरापूरा रखता है। वह सहानुभूति का जनक और सौहार्द्र का प्रसारक है। वह पारिवारिक स्नेह तथा सामाजिक सौहार्द्रं का पोषक है; बन्धुत्व की भावना का परिचायक है और प्रेम तथा मैत्री का सहज सहयोगी है। मनुष्य के सभी गुण उसकी छत्र-छाया में रह कर पल्लवित तथा पुष्पित होंगे।

सामाजिक अथवा सामूहिक रूप में प्रदर्शित हास्य के साथ-साथ व्यक्तिगत रूप में भी प्रदर्शित हास्य कम महत्वपूर्ण नहीं। प्रायः ऐसा भी होता है कि

हम स्वयं अपने ऊपर हँसने लगते हैं; हमारे सामने कोई दर्शक-वर्ग नहीं होता; हमारा कोई सहयोगी भी नहीं होता। हमारे मानसिक-चिन्तन क्षेत्र में, विद्युत-गति से अवतरित तथा तिरोहित होती हुई, कोई भूली कहानी हमें मुस्कुराने पर बाध्य कर देती है। ऐसी परिस्थिति में प्रदर्शित एकाकी हास्य का भी अपना अलग मूल्य है। यह भी हमारी सहानुभूतिपूर्ण भावनाओं का पोषक तथा संरक्षक रहेगा। जिस प्रकार लालची बालक माता की उँगलियों का मूक आदेश पाकर किसी चीज को और माँगने का आग्रह नहीं करता और अपने पास आये हुये भाग पर ही सन्तोष करने पर बाध्य हो जाता है उसी प्रकार हमारे एकाकी हास्य का मूक संकेत हमें नियन्त्रित तथा संयत रहने का आदेश दे हमारे आग्रह-दुराग्रह का अप्रत्यक्ष संशोधन तथा संतुलन किया करता है।

हास्य के इस व्यापक महत्व को हृदयंगम करने के उपरान्त यह विचार साधारणतः संगत जान पड़ेगा कि हास्य जब इतना आवश्यक और महत्वपूर्ण है तो क्या उस पर नियन्त्रण आवश्यक होगा। प्रायः जो गुण अथवा अवगुण हमारे सामाजिक जीवन को छूते रहते हैं उन सबका नियन्त्रण हम सहज ही किया करते हैं तो क्या यह आवश्यक नहीं कि हास्य और उसके द्वारा प्रसारित आनन्द की भी कुछ सीमाएँ निर्धारित कर दी जायँ। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी सहज ही पूछा जायगा कि क्या असीमित हास्य चरित्र को दूषित नहीं करेगा अथवा हास्य-विहीन व्यक्ति क्या मानव जीवन में घोर वैषम्य की भावना प्रसारित नहीं करेगा? प्रायः जीवन में ऐसा भी देखा गया है कि जो व्यक्ति असंयत रूप से अट्टहास करते रहे, भविष्य में, ऐसी मानसिक अवस्था ले आये जो उन्हें उन्माद-गृहों[1] की ओर ले चली और इस असंयत मानसिक अवस्था के अनेक अन्य विषम परिणाम भी सोचे जा सकते हैं। उनके द्वारा समाज में उच्छृंखलता के प्रसार की संभावना हो सकती है; वैमनस्य का प्रचार हो सकता है; अनेक प्रकार की दुर्व्यवस्थायें उपस्थित हो सकती हैं। विवेकहीन तथा उच्छृंखल हास्य हमारी धार्मिक भावनाओं को मार्मिक[2] चोट पहुँचा कर हमें विक्षिप्त बना सकता है; हमारे सामाजिक संबंधों का अन्त कर सकता है हमें मानवता का

---

१. अनुभवी व्यक्तियों का यह कथन है कि प्रायः उन्मादगृहों में पागल सतत अट्टहास करते देखे गये हैं: वहाँ रोने वाले व्यक्ति कम हैं।

२. एक पादरी साहेब ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता पर एक आर्य-समाजी से बहुत जोरों में बहस कर रहे थे—पादरी—'आपका धर्म बिलकुल अन्धा है!'

शत्रु बना सकता है। सफल हास्य का कार्य घाव पर नमक छिड़कना नहीं—उसकी सफलता इसी में है कि वह मर्मस्थान की पीड़ा का शमन करे और रोते हुये को हँसाये।

कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि ऐसी हास्य पूर्ण रचनाओं पर जो हमारी मान्य आचार-विचार परम्परा तथा अभिमत राष्ट्रीय अथवा धार्मिक आदर्शों को हास्यास्पद प्रमाणित करें, सरकार द्वारा निषेध लगा दिया जाय। साधारण रूप में तो यह विचार स्वतः हास्यास्पद प्रतीत होगा और यह उत्तरदायित्व सरकार पर न रख कर यदि लेखकों तथा साहित्यकारों की सुबुद्धि तथा उनकी सुरुचि पर ही रखा जाय तो श्रेयस्कर होगा। हास्य की आत्मा पर इस प्रकार का वैधानिक निषेध लगाना वैसा ही है जैसा बालकों के हाथ से मिठाई छीन लेना अथवा उनके खिलौने के टुकड़े-टुकड़े कर देना। जीवन का जो स्थल, समाज का जो विचार, राष्ट्र का जो आदर्श हास्य की चोट से विचलित हो जाय किसी न किसी अंश में त्रुटिपूर्ण अवश्य होगा। हास्य, जनता की मानसिक सतर्कता का ही परिचायक नहीं वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक जीवन की स्वस्थता तथा उसकी शक्ति का भी परिचायक रहेगा।[१]

आर्य-समाजी—'धर्म सभी अन्धे होते हैं: माननेवालों के पास आँखें होनी चाहिये!'

पादरी—'अच्छा तो यह बतलाइये कि आप गाय को माता कहते हैं!'

आर्य-समाजी—'जी हां! कहते तो हैं।'

पादरी—'तो आप बैल को पिता कहेंगे?'

आर्य-समाजी—'जी हां! इस रिश्ते से तो इनकार नहीं हो सकता।'

पादरी—'क्या आपने कभी यह सोचा है कि बैल कितना गंदा रहता है, अभी उसी दिन मैंने एक बैल को गन्दगी खाते देखा था।'

आर्य-समाजी—'जी हां! हो सकता है! शायद वह बैल ईसाई हो गया होगा।'

१. अंग्रेज़ी साहित्य के विद्यार्थियों के सम्मुख अंग्रेज़ी जीवन, अंग्रेज़ी समाज तथा अंग्रेज़ी परम्परा के प्रतीक 'जॉन-बुल' का चित्र सरलता से प्रस्तुत हो जायगा। उनका मोटा शरीर, उनका हैट, उनके हाथ का छोटा डण्डा, उनका नाटा कद, उनकी विचित्र वेश-भूषा अनेक व्यग्यं चित्रकारों द्वारा चित्रित हुये हैं जिसे देख कर समस्त अंग्रेजी समाज आनन्द उठाता आया है। परम्परा और रूढ़ि; स्वस्थ-भोजन तथा स्वस्थ-स्थूलता, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, इत्यादि के प्रतीक जान-बुल अंग्रेज़ समाज के अत्यन्त प्रिय पात्र हैं। अंग्रेज़ समाज उन पर हँसता

उपसंहार

उपरोक्त विस्तृत विवेचन के आधार पर हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव-समाज में प्रकृति अथवा ईश्वर ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण हास्य रूप में अन्तर्हित कर रखा है जिसकी व्यापकता, महत्ता तथा अनेकरूपता का लेखा कठिन है। समाज के सभी स्थलों पर इसकी महत्ता प्रमाणित होगी और यह आवश्यक प्रतीत होगा कि इस दैवी गुण का मानवी प्रयोग इस रूप और इस मात्रा में होना चाहिये कि हमारी क्रीड़ा-प्रवृत्ति की तुष्टि के साथ साथ हमारे सामाजिक-संबंध सुदृढ़ हों और मानवता की रक्षा हो। हमें उसके ऐसे बहुल, उच्छृंखल तथा अमानवी प्रयोगों के प्रति भी सतर्क रहना होगा जिसके द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व को ठेस लगे, दूसरों को मार्मिक पीड़ा हो और व्यक्तिगत रूप में हमें कोई लाभ भी न हो। हास्य का बहुल प्रयोग, जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं हमारी उच्छृंखलता का ही परिचायक नहीं होगा वरन् हमारी मानसिक शक्ति की न्यूनता का भी परिचायक होगा और जीवन में जो कुछ भी 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के नाम से संबोधित अथवा अनुभवीत होता आता है

हैं, परन्तु उनका साथ नहीं छोड़ता; उनको हास्यास्पद प्रमाणित करने मे नहीं चूकता मगर उन्हें अपने हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित किये रहता है; वह उनको तीव्र व्यंग्य का शिकार होते हुये देखता है मगर फिर भी उनसे अपना बन्धुत्व-बन्धन जकड़े रखता है। इसका कारण यह है कि अंग्रेज 'जॉन-बुल' की शक्ति से परिचित हैं; अपनी मानसिक सतर्कता पर उन्हें विश्वास है। हम अपने मित्रों से ही रुष्ट होत हैं; शत्रुओं से नहीं क्यों कि हमें विश्वास है कि मित्र स्नेह-वश हमें पुनः बुला लेंगे। गेंद खेलता हुआ बालक जब अपनी गेंद से चोट खा जाता है तो उसे खूब पटकता है, मारता है, उछालता है और थोड़ी देर में सब कुछ भूलकर बड़े प्रेम से उसे बगल में दबा कर थपकियां देता हुआ घर चल देता है। बालक गेंद की शक्ति से नैसर्गिक रूप में परिचित हैं : अंग्रेज जाति जॉन-बुल से स्वभावतः परिचित है। समाज में, प्रायः यह भी देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति निरर्थक रूप में भी हँसते रहते हैं। गम्भीर-विवाद के बीच-बीच, कुछ ऐसे भी व्यक्ति दर्शक रूप में बैठे रहते हैं जो फब्तियाँ कसते रहते हैं। वे न तो किसी नवीन विचार अथवा नवीन तर्क द्वारा किसी पक्ष का समर्थन करेंगे और न उस गम्भीर वातावरण में सन्तुष्ट रह पायेंगे। कदाचित इस प्रवृत्ति का कारण यह हो सकता है ऐसे व्यक्तियों में गम्भीर विचार-प्रदर्शन के प्रति विरक्ति है अथवा उनमें उस प्रकार की मानसिक शक्ति नहीं जो विवाद में फलप्रद सहयोग दे सके।

उसके प्रति हमें विमुख करेगा। जिस प्रकार सयंत रूप में विकास पाकर अनेक मानवी गुण मनुष्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर करते हैं उसी प्रकार हास्य का भी सहज, संयत तथा सहानुभूतिपूर्ण मानवी प्रयोग मनुष्य की मानवता की रक्षा करेगा; उसका विकास करेगा; उसे देव तुल्य बनायेगा।

इसमें कदाचित, सन्देह नहीं कि मानवी गुणों से आभूषित व्यक्ति में ही हास्य की आत्मा अपनी परकाष्ठा पर रहेगी; और जिस मानवी-हृदय में हास्य का अभाव होगा वह मानवी हृदय एक महान दैवी-गुण से वंचित रहेगा। मानवी आत्मा के सम्पूर्ण विकास के लिये हास्य की उपस्थिति अतीव आवश्यक होगी क्योंकि हास्य-विहीन व्यक्ति उस जल विहीन कूप के समान होगा जहां आकर यात्री प्यासा ही लौट जायगा। इसमें भी सन्देह नहीं कि कुछ दर्शनज्ञ, साहित्यकार तथा लेखक ऐसे भी हुये हैं जिन्होंने हास्यगुण की प्रशंसा नहीं की और उसके प्रति अपनी अश्रद्धा प्रकट करके उसका वहिष्कार ही हितकर समझा। परन्तु जिन लेखकों ने इस प्रकार के असाधारण विचारों की अभि-व्यक्ति की उनका वास्तविक मन्तव्य यह न था कि सभी प्रकार के हास्य समाज से वहिष्कृत कर दिये जांय। ऐसे एकांगी विचारों का दोषारोपण करना उनके प्रति अन्याय होगा। उन्होंने केवल बर्बर, अमानुषिक तथा उच्छृंखल हास्य का ही विरोध किया और कदाचित उस युग में, इस प्रकार के हास्य का अधिक प्रसार रहा होगा। सुख-दुःख के झूले में झूलते हुये इस विशाल विश्व में हास्य की छटा कहां नहीं मिलेगी। जगन्नियन्ता भी जब पृथ्वी और आकाश का निर्माण कर चुके तो उन्होंने, पेड़-पौधें तथा हरियाली निर्मित की। तत्पश्चात् सूर्य और चन्द्र और तारिकावली का निर्माण हुआ और सातवें दिन अपने कार्य से सन्तुष्ट होकर उन्होंने विश्राम किया[1]। विश्राम की उस घड़ी की हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं जब वे अपने कार्य की सन्तोषप्रद पूर्ति का स्मरण कर मुस्कुरायें होंगे और मानव को अवतरित करने में जो-जो अनुभव हुये होंगे, जो-जो विकार उत्पन्न हुये होंगे उन पर वे पुनः हंसे होंगे।

उनका निर्मित मानव उस क्षण से आज तक हँसता आया है और उसका यही एक गुण ऐसा है जो उसके इस दैवी-संबंध का संकेत देता रहेगा। मनुष्यत्व तथा देवत्व दोनों का अटूट संबंध स्थापित करने में हास्य की अपूर्व क्षमता रही है। यही नहीं शिशुओं तथा बालकों की सहज मुस्कान, युवाओं के

---

१. ईसाई धर्म पुस्तक बाइविल में उद्धरित

स्वच्छन्द हास्य तथा वृद्धों की धुँधली आँखों में झांकते हुये परिहासपूर्ण अनुभव साहित्य-निर्माण के भी अपूर्व स्रोत रहे हैं। इसके साथ-साथ हमें यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि बहुत से समाज-निर्माता तथा अनेक श्रेष्ठ साहित्यकार[1] हास्य के विरोधी रहे और ऐसी अमर रचनाएँ करने में सफल हुये जिनके आधार पर आधुनिक सभ्यता और संस्कृति प्रगति करती आई है। आधुनिक मानव समाज उनका आभार, कदाचित, भुलाये नहीं भुला सकता। इस न्यूनता का कारण यह हो सकता है कि इन अमर विभूतियों ने अपने को एक अमर साधना की ओर लगा दिया। उनका एक लक्ष्य था—मानव और ईश्वर के रहस्यपूर्ण संबंध का उद्‌घाटन। फलतः इस महान साधना तथा इस महायज्ञ के वातावरण से घबड़ा कर हास्य उन व्यक्तियों की शरण में चला गया जो मनुष्य तथा ईश्वर के संबंध का रहस्योद्‌घाटन कर उस रहस्य की विषमता पर परिहास-पूर्ण दृष्टि डालते रहे। ऐसे व्यक्तियों ने कभी मानव को और कभी ईश्वर को निर्णायक[2] की हैसियत से अपने सम्मुख खड़ा किया और दोनों की खूब खबर ली।

आजकल हास्य की आधुनिक रूप-रेखा तथा उसकी प्रगति का इतिहास हास्य-प्रिय व्यक्तियों के हृदय में एक प्रकार का भय उत्पन्न कर रहा है और आधुनिक युग का मनुष्य हास्य से धीरे-धीरे विमुख होता जा रहा है। वह अपनी प्राचीन धरोहर खो रहा है और यह विमुखता सभ्यता की उन्नति में अत्यन्त बाधक होगी। यदि आज का मनुष्य-समाज इस विषम परिस्थिति को पूर्णतया समझ कर इसका हल नहीं ढूँढता तो संभव है कि बालक के मुख से मुस्कान विदा हो जाय; युवाओं का स्वच्छन्द हास्य अविरल रोदन में परिणत हो जाय और वृद्धों की धुंधलीं आँखों का धुंधलका बढ़ता ही जाय और उन्हें मृत्यु की गोद छोड़ कर और कहीं भी आश्रय न मिले।

आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट होगा कि आदि युग का स्वच्छन्द हास्य आजकल संभव नहीं। सभ्यता तथा आचार-विचार की प्रगति के साथ-साथ हास्य की स्वच्छन्दता भी नियंत्रित होती आई है और अभिजात वर्ग के व्यक्तियों ने अट्टहास पर सदा के लिये निषेध लगा दिया है।[3] इच्छा-भोजन के पश्चात् आशीर्वाद की घोषणा पर तो बहुत दिनों से निषेध लगा हुआ है। समाज का मध्य-वर्ग भी अभिजात-वर्ग के

१. दांते; मिल्टन; रूसो

२. हार्डी; बर्नर्ड शॉ

३. लिन यू तांग: 'द आर्ट ऑव लिविंग'

आचार-विचार के अनुकरण में व्यस्त होकर अपनी नैसर्गिक क्षमता खो रहा है; और निम्न-वर्ग के व्यक्तियों में जो कुछ नैसर्गिक क्षमता बनी हुई है उसके प्रति न तो किसी को सहानुभूति है और न ऐसी सुविधायें ही प्रस्तुत हैं जो उनके जीवन में हास्य का विकास तथा उसका प्रसार कर सकें। समाज की आर्थिक कठिनाइयाँ तथा दैनिक जीवन-यापन की असुविधायें इतनी बढ़ गई हैं कि हास्य एक कोने में मुँह छिपाये सिसकियाँ भरा करता है। हास्य के निष्कासन में वर्ग-संघर्ष तथा वर्ग-वैमनस्य का भी उत्तरदायित्व कम नहीं। मनुष्य की उच्चाकांक्षा तथा धन लोलुपता; देशों की साम्राज्यशाही नीति तथा आधुनिक विज्ञान की अमानुषिक प्रगति ने हास्य की निर्मल धारा का स्रोत सुखा दिया है। अब मनुष्य नहीं, मनुष्य का दुर्भाग्य अट्टहास करता है। अतएव मनुष्य समाज के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने आदर्शों का पुनः निरीक्षण करे और उसमें उचित संशोधन तथा परिवर्तन ले आये। मनुष्य को अपनी इस पार्थिव अधोगति का कारण हृदयंगम कर उसका प्रतिकार ढूँढ़ना होगा; उसे अपने इस दैवी वरदान की सुरक्षा का भार उठाना पड़ेगा; उसे मानवता का पुनः निर्माण करना होगा; मानव-हृदय में आशा की ज्योति जगानी पड़ेगी और उसी ज्योति के आलोक में हास्य के जर्जर नीड़ का नूतन निर्माण करना होगा। इसी में मानव का कल्याण है।

प्रकरण—१५

संस्कृत-साहित्य
में
हास्य की रूप-रेखा

१

संस्कृत साहित्य में हास्य की रूप-रेखा : ऐतिहासिक समीक्षा

यद्यपि संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने हास्य-सम्बन्धी कोई विस्तृत अथवा व्यापक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया फिर भी संस्कृत आलोचकों के स्फुट वक्तव्यों की ऐतिहासिक समीक्षा करने के उपरान्त हमें ज्ञात होगा कि उन्होंने अपने स्फुट वक्तव्यों में भी हास्य की रूप-रेखा को हृदयंगम करने का स्तुत्य प्रयास किया था। जैसा कि हम अगले पृष्ठों में स्पष्ट संकेत देंगे, अनेक कारण-वश संस्कृत साहित्य में, मूलतः राजनीतिक एवं सामाजिक कारणवश, हास्य साहित्य का प्रस्फुटन सम्भव नहीं हुआ और उसका केवल एक मान्य क्षेत्र—नाटक ही रहा परन्तु कुछ पौराणिक तथा अनेक मान्य आलोचकों की रचनाओं में हास्य-सिद्धान्त संकेत तथा स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होंगे।

प्रायः संस्कृत-साहित्यकारों तथा आलोचकों ने, अभिमत रूप में साधारणतः रस, गुण, ध्वनि तथा अलंकार सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही साहित्य की परख की और मूलतः रस सिद्धान्त को ही व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम पौराणिक रूप में ही मान्य आलोचक वासुकि[1] ने आदि रस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि जब विभाव अपने वाह्य आकर्षक उपादानों द्वारा स्थायी भाव को बल देता है तो श्रोता अथवा दर्शक-वृन्द का मानस मूलतः तमस गुण से भर उठता है और रजस की मात्रा अत्यन्त न्यून रूप में प्रस्तुत रहती है और जो मानसिक स्थिति ऐसी परिस्थिति के फलस्वरूप जन्म लेगी हास्य प्रस्तुत करेगी। वासुकि के इस सिद्धान्त के मूल में यदि हम सूक्ष्म रूप से देखें तो कदाचित यह सिद्ध होगा कि वासुकि, वास्तव में, हास्य को तमस गुण से सम्बन्धित सिद्ध करते हैं और इसके फलस्वरूप हम, संभवतः यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हास्य समाज के निम्नस्तर के ऐसे व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित रहेगा जिनमें तमस गुण सर्वोपरि होगा अथवा श्रेष्ठ वर्ग के व्यक्तियों में, जब जब तमस का आर्विभाव होगा हास्य के प्रस्फुटित होने की

---

१. 'भाव प्रकाशन'

संभावना रहेगी। इसके साथ-साथ वासुकि के निर्देशित सिद्धान्त में हमें यह भी अस्पष्ट संकेत मिलेगा कि हास्य का प्रस्फुटन किसी विशेष मानसिक अवस्था द्वारा ही होगा और सम्भव है कि वासुकि के इस चिन्तन-क्षेत्र में यह भी आभास रहा हो कि मानसिक क्षेत्र ही इसके लिए हितकर होगा; परन्तु ये विचार केवल सम्भावित ही रहेंगे।

इसी पौराणिक क्षेत्र के विचारकों में, नारद के संकेत रूप सिद्धान्त में हमें यह आभास मिलेगा कि उन्होंने हास्य को श्रृंगार के अन्तर्गत ही स्थान दिया और वासुकि के विरुद्ध यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि सत्व द्वारा ही हास्य का प्रस्फुटन होगा। उनका यह विचार था कि वाह्य आलंबनों द्वारा जब रजस गुण अहं के साथ अपना पूर्ण सम्बन्ध जोड़ लेता है तो श्रृंगार का जन्म होता है; और हास्य का भी प्रस्फुटन इसी प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा संभव होगा। हाँ, इतनी विभिन्नता अवश्य रहेगी कि उसमें रजस का नितान्त अभाव रहेगा और सत्व का प्रधानत्व होगा। सत्व ही हास्य का मूल आधार रहेगा। इस सिद्धान्त में हमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार का संकेत मिलेगा; और वह यह है कि नारद ने हास्य को तमस से पृथक कर उसकी मर्यादा बढ़ाई और सत्व के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित कर उसे निम्न अथवा हीन वर्गों के ही क्षेत्र में बन्दी नहीं बनाया। सत्व के साथ हास्य का सान्निध्य स्थापित कर उन्होंने हास्य के श्रेष्ठ गुण की ओर संकेत अवश्य किया।

उपरोक्त, दो पौराणिक रूप में ही, मान्य आलोचकों के हास्य-सिद्धान्त की समीक्षा के उपरान्त हमें उन मान्य आलोचकों के सिद्धान्तों का विवेचन अपेक्षित होगा जिनका स्थान संस्कृत आलोचना साहित्य में श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार अंग्रेज़ी आलोचक, प्रायः सभी आलोचनात्मक विचारों की मूल धारा, अफलांतू तथा अरस्तू के विचारसागर में ही पाते हैं उसी प्रकार संस्कृत आलोचना-शास्त्र, प्रायः भरत[1] द्वारा प्रेषित विचारों में अपने मूल संकेत देखता है। भरत के नाट्य-शास्त्र के अध्ययन द्वारा यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि उन्होंने, अरस्तू के समान, किसी मानवी विकृति को ही हास्य का मूल स्रोत मान्य ठहराया है। यद्यपि उन्होंने हास्य पर, विशेष रूप से, कोई विशिष्ट अध्याय नहीं लिखा फिर भी नाटक के पात्रों की चर्चा करते हुए उन्होंने हास्य के वर्गीकरण का स्तुत्य प्रयास किया। साधारणरूप में भरत ने

१. 'नाट्यशास्त्र'

हास्य को तीन वर्गों—उत्तम, मध्यम तथा अधम में बांटा है और इन्हीं तीनों वर्गों के पात्रों को उनके स्तर के अनुकूल हास्य प्रदर्शित करने का आदेश दिया है। भरत के विचारानुसार उत्तम वर्ग के पात्रों द्वारा प्रस्तुत, उत्तम वर्ग के हास्य के दो रूप होंगे—स्मित तथा हसित। स्मित हास्य केवल मुस्कान रूप में प्रस्फुटित होगा उसमें चंचल सौम्यता होगी, और शारीरिक रूप में, कपोल थोड़े-बहुत फैल जांयगे और दन्त-पंक्ति दृष्टिगत नहीं होगी। मूलतः यह हास्य मुस्कान रूप में होते हुए आँखों की सौम्य चंचलता द्वारा अस्पष्ट रूप में प्रस्फुटित होगा। हसित वर्ग के हास्य में मुस्कान अधिक व्यापक रूप ग्रहण करेगी और सम्पूर्ण आकृति मुस्कान की आभा से रंजित एवं विकसित हो उठेगी; ऐसा ज्ञात होगा मानो कली चिटक कर खिल उठी है। उसका प्रभाव मूलतः कपोलों तथा आँखों पर होगा : कपोल अनुरंजित हो उठेंगे, फैल जांयगे और आँखों में आकर्षक चापल्य का प्रदर्शन मिलेगा और दन्त-पंक्ति कुछ-कुछ अपनी झलक दिखला जायगी।

उत्तम वर्ग के हास्य के समान ही मध्यम वर्ग के पात्रों द्वारा प्रदर्शित मध्यम हास्य के दो वर्ग होंगे—विहसित तथा उपहसित। शारीरिक रूप में, विहसित हास्य कुछ अस्पष्ट परन्तु मधुर नाद विशेष द्वारा प्रदर्शित होगा; सम्पूर्ण आकृति सचेष्ट हो उठेगी, आँखें तथा कपोल निरन्तर फैलते तथा संकुचित होते रहेंगे। वास्तव में विहसित हास्य, औचित्यपूर्ण होते हुए थोड़ा बहुत शारीरिक आधार ढूँढेगा और नाद-पूर्ण होगा। इसी प्रकार उपहसित वर्ग का हास्य भी शारीरिक आधार ढूँढ़ेगा, नासिका फूलेगी, कंधे थोड़े बहुत हिलेंगे, आँखें सिकुड़ेंगी, सिर झुकेगा-उठेगा और नाद का स्पष्ट प्रयोग होगा। साधारण रूप में यह हास्य संयत खिलखिलाहट का रूप ग्रहण करेगा।

नाटकीय पात्रों के अधम वर्ग द्वारा प्रयुक्त हास्य भी दो श्रेणियों में विभक्त होगा—अपहसित तथा अतिहसित। अपहसित हास्य, औचित्य का उल्लंघन करेगा, उसका शारीरिक आधार अधिक होगा। शरीरिक अंग विशेषतः सिर और कंधे हिलते रहेंगे और नाद का विशेष प्रयोग होगा—आँखों में प्रायः आँसू भर आएँगे और खिलखिलाहट असंयत रूप ग्रहण कर लेगी। परन्तु अतिहसित हास्य का मूल आधार शारीरिक रहेगा। सिर, कंधे, हाथ, ज़ोर-ज़ोर से हिलेंगे आँखों से आंसू बह चलेंगे, नाद विशेषसे स्थान गूंज उठेगा, और औचित्य तथा संयम की भावना कहीं दूर होगी। वास्तव में इस वर्ग का हास्य अट्टहास का रूप ग्रहण करेगा।

हास्य के शारीरिक अथवा पार्थिव आधारों की ही विशेष चर्चा करते हुए, आलोचक भरत ने पात्र की शारीरिक वेश-भूषा, आकार, अभिधान इत्यादि की ओर भी संकेत किया जिसके द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जा सकता था। पात्र के आकार में जितनी भी विकृति होगी, उसके वेष में जितनी भी अनुचित असाधारणता होगी और अभिधान में जितनी भी अस्वाभाविकता होगी उतने ही तीव्र रूप में हास्य प्रदर्शित होगा। वास्तव में, हास्य-प्रदर्शन के लिए विकृति, विकृत परवेषालंकार तथा विपरीतालंकार अपेक्षित होंगे।

भरत द्वारा प्रतिपादित हास्य सिद्धान्तों की यदि समीक्षा की जाय तो यह सहज ही प्रमाणित होगा कि उन्होंने हास्य की आत्मा को परखने की चेष्टा नहीं की वरन् उसके वाह्य-प्रदर्शन पर ही अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि उन्होंने बार-बार हास्य के शारीरिक आधारों, शारीरिक माध्यमों की चर्चा की और रंग-मंच पर कार्य करते हुए पात्र का ही अधिक ध्यान रखा और एक श्रेष्ठ नाटक-नियोजक की भाँति, पार्श्वभूमि से निर्देश देते रहे कि हास्य के प्रदर्शन में भाव-भंगी कैसी हो; शारीरिक संकेत कैसा हो; नाद कैसा हो; वेश, भूषा, आकृति कैसी हो। इसमें कदाचित संदेह नहीं कि आलोचक भरत ने हास्य के नाटकीय प्रदर्शन पर ही अपनी दृष्टि एकाग्र की और उसकी व्यापक तथा रहस्यपूर्ण आत्मा के विश्लेषण का प्रयास नहीं किया।

हाँ, इतना मानने में संकोच नहीं होगा कि उन्होंने हास्य की आन्तरिक रूप-रेखा को परखने में कुछ आधार विशेष प्रस्तुत किए जिनकी महत्ता आज तक बनी हुई है। नाटकीय पात्रों से हास्य को सम्बंधित कर उन्होंने हास्य के सामाजिक सम्बन्धों को पूर्णतः प्रमाणित किया और हास्य के वर्गीकरण में अपनी व्यापक नाटकीय शक्ति का परिचय दिया। 'विकृति' तथा 'विपरीतता' पर आधारित सिद्धान्त अब भी हास्य के कुछ प्रमुख अंगों का समाधान कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमें भरत द्वारा अस्पष्ट रूप में प्रतिपादित दो अन्य सिद्धान्तों को भी ध्यान में रखना होगा; और यदि भरत इन दोनों सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करते तो सम्भव था हास्य के अन्य मानसिक आधार भी उनके चिन्तन क्षेत्र में अवश्य आ जाते।

हास्य के आन्तरिक रूप के विश्लेषण में उन्होंने दो प्रकार के हास्य की ओर संकेत किया—पहला वर्ग है, आत्मस्थ और दूसरा—परस्थ। आत्मस्थ हास्य कोई वाह्य आधार नहीं ढूँढता, वह स्वतः आन्तरिक रूप में, हास्य का अनुभव कर उसका वाह्य प्रदर्शन मनोवाञ्छित रूप में करता है। परस्थ हास्य दूसरे वाह्य साधनों का आधार ढूँढता है और बिना उस अवलम्ब

के उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं होता। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो भरत ने प्रथम वर्ग के 'आत्मस्थ' वर्ग के हास्य में बहुत कुछ व्यापक संकेत एकत्र कर दिए। सबसे महत्त्वपूर्ण संकेत तो यह है कि उन्होंने संभवतः मानसिक हास्य की कल्पना अवश्य की और उसका क्षेत्र मनुष्य का मानसिक जीवन ही रखा। जब आत्मस्थ हास्य कोई वाह्य आधार अथवा अवलम्ब नहीं अपेक्षित समझता तो वह केवल एक ही क्षेत्र से अपना संबल ढूँढेगा। और यह क्षेत्र होगा—स्मरणशक्ति का क्षेत्र। स्मरण शक्ति ही आत्मस्थ हास्य की जननी होगी। यही शक्ति, मानसिक क्षेत्र में अठखेलियाँ करती हुई हास्य के नित-नूतन आकार, आधार, प्रस्तुत करेगी और मानसिक हास्य, जिसकी श्रेष्ठता हम सिद्धान्त खण्ड में प्रमाणित कर चुके हैं, का जन्म होगा। जिस प्रकार एक छोटी सी 'चित्रिका' अथवा 'केलाइडसकोप' में सूर्य-रश्मि प्रवेश करते ही वह अनगिनत रेखा-चित्र प्रस्तुत करने लगती है, उसी प्रकार हमारा मानस अनेक विचारों की श्रृंखला, हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने लगता है और स्मरण शक्ति में संचित विचारों एवं अनुभवों से उसकी टक्कर रहती है और मुस्कानपूर्ण हास्य प्रस्फुटित होता रहता है परन्तु परस्थ वर्ग के हास्य को ही उन्होंने, अनेक कारणवश अधिक प्रश्रय दिया और उसी के व्यापक प्रदर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ही उन्होंने अपनी विशिष्ट आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया।

भरत के पश्चात् या तो संस्कृत आलोचकों ने हास्य को कोई महत्त्व नहीं दिया और यदि दिया भी तो उन्हीं के सिद्धान्तों का पिष्ट-पेषण किया और किसी मौलिक सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ। भामह तथा उद्भट ने हास्य को अलंकार[१] के अन्तर्गत स्थान दिया और उस पर कोई भी व्याख्या नहीं दी। इनके विपरीत वामन ने हास्य को गुण सिद्धान्त के अन्तर्गत रखा और उन्होंने भी इस दृष्टिकोण का कोई भी विश्लेषण नहीं प्रस्तुत किया। दण्डी ने भी, हास्य सिद्धान्त पर किसी व्यापक रूप में विचार नहीं किया और उन्होंने भी हास्य को अलंकार के अन्तर्गत ही स्थान दिया। परन्तु रुद्रट ने भरत के प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्यापक समीक्षा की और बहुत कुछ रूप में उन्होंने भरत के ही सिद्धान्तों को मान्य ठहराया परन्तु वे भरत द्वारा प्रस्तुत हास्य के वर्गीकरण से सहमत नहीं हुए।

साधारणतः रुद्रट का यह विचार था कि विकृति ही, चाहे वह किसी भी रूप में प्रस्तुत क्यों न हो, हास्य का मूल कारण रहेगी। प्रायः शारीरिक

---

१ देखिए—'आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त:' 'संस्कृत साहित्य' खण्ड।

कुरूपता, वेष की असाधारणता, कार्य का अनौचित्य ही इसके मूल आधार रहेंगे। सामाजिक क्षेत्र में प्रायः स्त्री वर्ग, अशिक्षित एवं असभ्य व्यक्ति तथा बालक-वृन्द द्वारा ही हास्य का सफल प्रदर्शन होगा। प्रायः शिष्ट हास्य वही होगा जिसमें कपोल थोड़े बहुत रूप में फैल जायँगे, नेत्र अधिक खुलने की चेष्टा करेंगे और दंत-पंक्ति कुछ-कुछ दिखलाई देगी परन्तु असभ्य व्यक्तियों द्वारा केवल अट्टहास प्रस्तुत होगा—मुँह पूरा खुला रहेगा, आँखों से अश्रुधार बह चलेगी और नाद का विशेष प्रयोग होगा। रुद्रट का यह भी विचार था कि हास्य के मूल में अधोगति की भावना ही तीव्र-रूप में प्रस्तुत रहेगी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि रुद्रट ने हास्य की कुछ सामाजिक सीमाएँ निर्धारित कर दीं और भरत द्वारा प्रस्तावित हास्य-क्षेत्र को संकुचित किया। यद्यपि उन्होंने विकृति-सिद्धान्त को पूर्णतः अपनाया परन्तु अधोगति-सिद्धान्त की ओर भी उन्मुख रहे। वास्तव में रुद्रट द्वारा विवेचित सिद्धान्त में कोई मौलिकता नहीं और उन्होंने भरत के ही सिद्धान्त को दुहराया है। उनकी संकुचित दृष्टि का प्रमाण यह भी है कि भरत द्वारा प्रतिपादित 'आत्मस्थ' हास्य-सिद्धान्त को उन्होंने कोई भी महत्व नहीं दिया और उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझी। केवल 'परस्थ' हास्य में ही उनकी आलोचनात्मक सुबुद्धि संलिप्त रही। भरत द्वारा प्रस्तावित छः वर्गों के हास्य को उन्होंने और भी संकुचित किया और उन्हें केवल चार वर्गों में ही सीमित रखा। उत्तम वर्ग के पात्रों द्वारा प्रयुक्त उत्तम हास्य के तो उन्होंने दोनों ही वर्ग—स्मित तथा हसित मान्य ठहराये परन्तु मध्यम वर्ग के पात्रों द्वारा प्रयुक्त मध्यम हास्य का केवल एक ही वर्ग—विहसित, स्वीकार किया। अधम हास्य का भी उन्होंने एक ही वर्ग अतिहसित आवश्यक समझा। व्यापक रूप में हास्य पर विचार करते हुए उन्होंने हास्य की अति को समाज का श्रेष्ठ गुण नहीं प्रमाणित किया। उन्होंने उसे असभ्यता का चिन्ह घोषित किया। कदाचित्, इसी विचार को यूनानी आलोचकों ने भी पुष्ट किया था। यूनान के श्रेष्ठ दर्शनवेत्ता अफलातूं ने तो हास्य को अत्यन्त हीन गुण प्रमाणित किया था और अरस्तू ने भी उसे निम्न स्तर के व्यक्तियों तथा शारीरिक कुरूपता पर ही निर्भर किया था। और रुद्रट के सिद्धान्त यूनानी विचारकों के अनुरूप ही ज्ञात होंगे।

रुद्रट के उपरान्त, संस्कृत आलोचना क्षेत्र के विशिष्ट आलोचक—राजशेखर ने हास्य पर विचार करते हुए उसे अलंकार एवं वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया जिससे यह प्रमाणित है कि उन्होंने हास्य को केवल शाब्दिक

क्षेत्र का ही अंग माना और अन्यान्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के प्रति विमुख रहे। जहाँ भरत ने हास्य के नाटकीय एवं मानसिक रूप और रुद्रट ने सामाजिक रूप पर विशेष ध्यान दिया वहाँ राजशेखर के विचार हास्य के केवल शाब्दिक रूप में ही सीमित रहे। राजशेखर का कथन है कि वक्रोक्ति का जन्म—काकु, श्लेष तथा व्यंजना द्वारा होता है। प्रायः यह कहना अधिक समुचित होगा कि काकु स्वयं एक प्रकार की वक्रोक्ति है और उसका प्रयोग और प्रदर्शन सहज तथा सरल रूप में होता है; परन्तु श्लेष द्वारा हास्य-प्रदर्शन के लिए भाषा पर पूर्ण अधिकार आवश्यक होगा। और इसके साथ-साथ व्यंजना के सफल प्रयोग के लिए भी भाषा के अनेकरूपेण प्रयोग, काव्य के अन्यान्य प्रयोग, उसकी समस्त रूढ़ियाँ, सभी पर लेखक का अधिकार आवश्यक होगा। इसके विपरीत काकु का प्रदर्शन शब्दों के अन्यार्थ अथवा अनेकार्थ से नहीं वरन् उनकी ध्वनि विशेष से ही सम्भव होगा। ज्योंही भाषण-कर्ता ने किसी शब्द विशेष की ध्वनि किसी विशेष रूप में उच्चरित अथवा स्वरित की काकु का प्रदर्शन होने लगेगा। काकु के स्वरित रूप की विवेचना करते हुए उन्होंने उसके दो मूल वर्ग-साकारिक्ष तथा निराकारिक्ष निश्चित किये और इसके उपरान्त इन दो मूल वर्गों के भी तीन-तीन उपवर्ग बनाए। साकारिक्ष के अन्तर्गत—आपेक्षागर्भ, प्रश्नागर्भ, वितर्कागर्भ और निराकारिक्ष के अन्तर्गत—विधिरूप, उत्तरारूप तथा निर्णयारूप उपवर्गों की गणना की। साधारणतः राजशेखर ने इन्हीं दो मूल वर्गों और छः उपवर्गों को ही मान्य ठहराया परन्तु उनका विचार था कि इनके अनेक रूप हो सकते हैं।

जैसा हम स्पष्टतः कह चुके हैं, राजशेखर ने हास्य को अलंकार के अन्तर्गत स्थान देकर उसके आन्तरिक रूप पर कोई ध्यान नहीं दिया और भरत की आलोचनात्मक प्रणाली की प्रगति नहीं हुई। परन्तु ग्यारहवीं शती के आलोचक सागरनन्दिन ने भरत की परम्परा अपनाई और विकृति-सिद्धान्त को ही मान्य ठहराया। उन्होंने विकृति के अतिरिक्त कपट-वेश अथवा छद्म-वेश अथवा असंगतिपूर्ण भाषा-प्रयोग को हास्य का कारण प्रमाणित किया। उनकी धारणा थी कि ये ही हास्य के विभाव रूप रहेंगे। भरत के प्रतिपादित विभावों में उन्होंने असंबद्धता को भी विशेष रूप में महत्वपूर्ण समझा और शारीरिक क्षेत्र में, गुदगुदी इत्यादि द्वारा प्रस्तुत हास्य को भी उन्होंने विभाव के अन्तर्गत स्थान दिया। सागरनन्दिन ने यद्यपि भरत के सिद्धान्तों का अनुसरण किया और उन्हीं के प्रतिपादन में असंबद्धता की ओर संकेत करके उन्होंने हास्य के विशेष कारणों को थोड़ा बहुत अवश्य विस्तृत किया। यद्यपि उनके निर्मित

सिद्धान्तों में कोई विशेष मौलिकता नहीं फिर भी उन्होंने हास्य के आन्तरिक कारणों पर अपनी दृष्टि एकाग्र की और अभिनवगुप्त का आलोचनात्मक मार्ग प्रशस्त किया।

अभिनवगुप्त ने, जैसा उनकी विचारधारा से प्रायः संकेत मिलेगा, आभास अथवा अनुकृति सिद्धान्त के अन्तर्गत हास्य-रस का विवेचन किया। यों तो यूनानी आलोचकों ने अनुकरण सिद्धान्त को साहित्य का मूलाधार प्रमाणित किया था परन्तु इस सिद्धान्त को हास्याधार प्रमाणित करने का श्रेय, स्पष्ट रूप में, अभिनवगुप्त को भी मिलना चाहिए। रूढ़ि के अनुसार अभिनव गुप्त ने भी हास्य के अनेक विभावों पर विचार किया परन्तु उन्होंने एक अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त को प्रश्रय दिया। उन्होंने अनौचित्य की भावना को हास्य का मूलाधार प्रमाणित किया और इसी व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने आभास को हास्य का प्रमुख कारण निश्चित किया। यथार्थ जब किसी कपट अथवा छद्म-वेश में प्रस्तुत होगा अथवा वास्तविकता जब किसी अन्य रूप में अपना प्रदर्शन करेगी तो हास्य का सफल जन्म होगा। यह सिद्धान्त सभी रसों के ऊपर आरोपित हो सकता है क्यों कि कोई भी रस—करुण, वीर, वीभत्स, अद्-भुत, रौद्र, शान्त, भयानक, अपने वास्तविक रूप का विकृत अथवा बनावटी रूप प्रदर्शित करके हास्य प्रस्तुत कर सकते हैं। करुण स्वार्थ रूप में, वीर कायरता के रूप में, अद्भुत साधरणता के रूप में और रौद्र तथा भयानक अस्वाभाविक रूप में हास्य प्रस्तुत करने में सफल होंगे। शृङ्गार के अन्तर्गत हास्य की व्याख्या करने के कारण आलोचक ने शृङ्गाराभास के मूल वर्ग के तीन मान्य वर्ग—विभावाभास, अनुभावाभास तथा व्यभिचार्याभास निर्मित किए और इन्ही आभासों के अनुचित, अस्वाभाविक अथवा छद्म रूप द्वारा हास्य का प्रस्फुटन संभव किया।

इसमें सन्देह नहीं कि अनौचित्य के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत हम हास्य के कुछ रूप अवश्य स्पष्ट कर लेंगे परन्तु इसके विपरीत अनेक रूपी हास्य के अनेक अन्य स्थल इस सिद्धान्त द्वारा प्रमाणित नहीं हो पायेंगे। फिर भी यह सिद्धान्त, सूत्र रूप में तो अत्यन्त महत्वपूर्ण रहेगा। ऐसा ज्ञात होता है कि अभिनव गुप्त ने भरत के ही विकृति सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया क्योंकि अनौचित्य तथा आभास सिद्धान्तों में विकृति की पूर्ण छाया मिलेगी। यद्यपि अनौचित्य को अभिनव गुप्त ने, सूत्ररूप में, हास्य का मूलाधार प्रमाणित किया और अनुकृति तथा आभास में ही हास्य का उद्गम निश्चित किया फिर भी उनके इन सिद्धान्तों में कोई विशेष मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती। क्योंकि वे

सिद्धान्त बहुत कुछ रूप में भरत के नाट्य शास्त्र में उल्लिखित हास्य सिद्धान्त में निहित हैं। भरत द्वारा प्रतिपादित विकृति अथवा विकृत-परवेषालंकार के मूल में अनौचित्य की भावना तो स्वभावतः और सहज रूप में प्रस्तुत रहेगी। जिस सिद्धान्त को भरत ने सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा, उसी सिद्धान्त को अभिनव गुप्त ने मूलाधार रूप में प्रदर्शित किया। अभिनवगुप्त का यह भी विचार था कि भरत द्वारा विभिन्न उपवर्गों में बाँटे हुए हास्य को हम आत्मस्थ तथा परस्थ मूल वर्गों के अन्तर्गत रख सकेंगे। भरत द्वारा वर्गीकृत हास्य वर्ग—स्मित, विहसित तथा अपहसित, आत्मस्थ के अन्तर्गत रक्खे जायेंगे और दूसरे तीन उपवर्ग—हसित, उपहसित तथा अतिहसित की गणना परस्थ के अन्तर्गत होगी। अभिनव गुप्त ने हास्य के समस्त वर्गों को 'अनौचित्य प्रवर्त्तिका' के अन्तर्गत ही स्थान दिया।

अभिनवगुप्त के पश्चात् जो भी कुछ विशेष टीका टिप्पणी हास्य-सिद्धान्तों पर की गई उसमें धनञ्जय द्वारा प्रस्तावित व्याख्या थोड़े बहुत रूप में महत्व पूर्ण समझी जा सकती है। यद्यपि धनञ्जय ने न तो कोई मौलिक सिद्धान्त ही बनाये और न तो पहले से ही प्रस्तावित सिद्धान्तों पर विवेचनात्मक रूप में विचार किया, फिर भी उन्होंने रसों की व्याख्या करते हुए मूल और विकृति रस का सम्बन्ध स्पष्ट करने की चेष्टा की। उनका विचार था कि साहित्य में केवल चार प्राकृत रस हैं—शृङ्गार, वीर, वीभत्स तथा रौद्र और अन्य चार हास्य, अद्भुत, भयानक एवं करुण उन्हीं के विकृत रस रहेंगे। धनञ्जय ने आनन्दानुभूति को चार प्रमुख वर्गों में बाँटा जिनका नामकरण—विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप रूप में किया; और इन्हीं चार वर्गों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत, प्राकृत रस तथा उनके विकृति रसों का सम्बन्ध निश्चित किया। जैसा कि संस्कृत साहित्य के अन्य मनीषियों का मत था कि हास्य का प्रमुख स्थान शृङ्गार के अन्तर्गत ही रहेगा, उसी प्रकार धनञ्जय ने भी विकास की पृष्ठ भूमि में शृङ्गार एवं हास्य का सम्बन्ध निश्चित किया। इसी प्रकार उन्होंने विस्तार की पृष्ठभूमि में वीर[1] एवं अद्भुत; क्षोभ की पृष्ठभूमि में वीभत्स तथा भयानक; और विक्षेप की पृष्ठभूमि में रौद्र तथा करुण का सम्बन्ध प्रमाणित किया। जैसा हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं कि जब ये मूल प्राकृतरस विकृत रूप में प्रदर्शित किए जायेंगे तब हास्य का प्रस्फुटन अवश्यमेव होगा। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो धनञ्जय ने केवल

---

१. इस सम्बन्ध का अत्यन्त मनोरञ्जक उदाहरण जो कदाचित् सर्वमान्य है, स्पेन के लेखक सरवाण्टीज़ की अमर रचना—'डॉन किहोटी' में मिलेगा।

अभिनवगुप्त के आभास सिद्धान्त पर ही पिष्टपेषण किया है। अभिनवगुप्त के आभास सिद्धान्त में सभी रसों के विकृताभास द्वारा हास्य प्रस्तुत होगा और अनौचित्य ही उनका मूल कारण रहेगा। ऐसा सम्भवतः प्रतीत होता है कि धनञ्जय ने केवल उनके प्राकृत एवं विकृति रसों का ही सम्बन्ध लिपिबद्ध किया है।

संस्कृत साहित्य के अन्यान्य आलोचकों के अनुसार भोज ने भी हास्य को शृङ्गार रस के अन्तर्गत ही स्थान दिया। और उन्होंने भरत के वर्गीकरण में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके अपनी आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया। भोज ने भरत द्वारा प्रस्तावित हास्य के छः वर्गों के स्थान पर केवल तीन वर्ग निश्चित किए—स्मित, हसित तथा विहसित। स्मित हास्य में उन्होंने मुस्कान, हसित में खिलखिलाहट को छूती हुई संयत मुस्कान और विहसित में अट्टहास का रूप देखा। स्पष्ट है कि भोज के सिद्धान्तों में कोई विशेष मौलिकता नहीं है और जो भी आलोचक भोज के पश्चात आलोचना क्षेत्र में आए, सभी ने केवल पुराने सिद्धान्तों को पुनः दुहराया अथवा उन्हीं पर, अपने शब्दों में टीका टिप्पणी की। इन आलोचकों का विशेष महत्व, पूर्व सिद्धान्तों के वर्गीकरण तथा उनकी समष्टि प्रस्तुत करने में ही परिलक्षित होगा।

संस्कृत साहित्य के अन्यान्य आलोचकों के सिद्धान्तों की ऐतिहासिक समीक्षा के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि संस्कृत साहित्यकारों ने हास्य-प्रदर्शन के प्रायोगिक रूप पर ही अधिक ध्यान दिया और साधारणतः उसके प्रदर्शन और प्रस्फुटन के अन्यान्य रहस्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथा मनस्तलशास्त्रीय विवेचन पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस न्यूनता का पहला कारण तो यह रहेगा कि मनोविज्ञान उस युग में बहुत कुछ विकसित नहीं था और मनस्तलशास्त्र वो अत्यन्त आधुनिक विचारधारा है जिसका प्रसार उस युग में संभव नहीं था। इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने हास्य को केवल नाटकक्षेत्र में स्थान दिया फलतः उसके प्रदर्शनरूप को ही वे सिद्धान्तबद्ध करते रहे। नाटक-क्षेत्र में सीमित होने के साथ-साथ, शृङ्गार-रस के नाटकों में ही उसे थोड़ा-बहुत स्थान प्राप्त हो सका जिसके फलस्वरूप उसका प्रदर्शन-क्षेत्र और भी संकुचित हो गया।

शृङ्गार-रस सम्बन्धी नाटकों में, हास्य की सहज धारा को प्रवाहित करने का मूल कारण यह ज्ञात होगा कि, साहित्यकारों ने यह मनोवैज्ञानिक रूप में जान लिया था कि शृङ्गार रस एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ मानवी जीवन के अनेक अवगुणों के दर्शन सहजरूप में होंगे। इस रस के वश पात्र क्या कुछ नहीं करेंगे।

जहाँ संयम की आवश्यकता होगी वे व्यग्रता प्रदर्शित करेंगे; जहाँ नियंत्रण अपेक्षित होगा वे उच्छृंखल कार्य करने पर सहज ही उद्यत हो जाँयगे; जहाँ धैर्य तथा तर्क आवश्यक होगा वे उतावले गर्वपूर्ण तथा अमानवी कार्यों को करने पर कटिबद्ध हो जाँयगे। इसी कारण, इन परिस्थितियों को संभालने, ऐसे पात्रों को सन्तुलित रखने और जीवन के अनेक असंगत, असंबद्ध तथा अनियन्त्रित कार्यों को संयत, तर्कपूर्ण तथा मानवी रूप देने में हास्य की आत्मा सहज ही सहायक होगी। यह सत्य संस्कृत साहित्य के मनीषियों ने भली-भाँति हृदयंगम कर लिया था और हास्य द्वारा मानवी-आचरण के सुधार का पूर्ण प्रयत्न भी किया था। और इसी ध्येय को सम्मुख रखने के फलस्वरूप वे हास्य के प्रदर्शित रूप की ओर ही अधिक आकृष्ट रहे जिसका व्यापक प्रमाण हमें भरत द्वारा वर्गीकृत हास्य के रूपों में मिलेगा। किस स्तर का पात्र, किन कारणों वश, किस स्तर का हास्य प्रदर्शित करने का अधिकारी होगा इन्हीं नाटकीय प्रश्नों को सुलझाने में संस्कृत आलोचक संलग्न रहे। ऐसी परिस्थिति में, किसी अन्य प्रकार की हास्य-सम्बन्धी व्याख्या की कल्पना उनके लिए, वास्तव में सम्भव नहीं थी।

नाटकीय-क्षेत्र में, हास्य की आत्मा को सीमित करने का दूसरा फल यह हुआ कि वे केवल परिस्थिति मूलक तथा शाब्दिक हास्य के ही कुछ वांछित रूपों को प्रश्रय दे सके। परिस्थिति-व्यवस्था ही नाटक का दूसरा नाम है और शब्द अथवा भाषा व्यवस्था का सहयोग, कथोपकथन रूप में, उसके लिए नितान्त आवश्यक होगा; और ऐसी अवस्था में परिस्थिति मूलक एवं शाब्दिक हास्य का बहुल प्रयोग स्वाभाविक तथा अपेक्षित होगा। फलतः जहां भरत या अभिनवगुप्त ने परिस्थिति के अनुरूप हास्य प्रदर्शन के सिद्धान्त प्रतिपादित किये वहां राजशेखर ने उसके शाब्दिक एवं ध्वनि रूपों की विशेष व्याख्या अत्यन्त सफल रूप में की।

नाटक-क्षेत्र में हास्य के सीमित रहने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उस काल में, संस्कृत साहित्य में, गद्य लेखन की परम्परा नहीं बन पाई थी। जो कुछ भी साहित्य विरचित था वह या तो काव्य-रूप में अथवा नाटक रूप में प्रस्तुत था और काव्य एवं नाटक ही साहित्य के दो प्रमुख अंग निश्चित थे। इसी कारण हास्य साहित्य की वृद्धि नहीं हो पाई क्योंकि हास्य की व्यापक आत्मा के सफल विस्तार के लिए गद्य का क्षेत्र आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होगा। गद्य ही हास्य की रहस्यपूर्ण आत्मा को अपने विकास और परिष्कार का अवसर दे सकता था, जो उस काल में, सम्भव नहीं था। हाँ, काव्य क्षेत्र में हमें यह आशा हो सकती थी कि संस्कृत साहित्यिज्ञ हास्य को

स्थान देते परन्तु इस आशा के विफल रहने का यह कारण था कि उनके काव्य-सिद्धान्त ऐसे थे जिनमें हास्य को किसी भी स्तर का स्थान मिलना असंभव था। संस्कृत-साहित्यकारों ने काव्य के ऊपर अनेक आदर्शवादी सिद्धान्तों का उत्तरदायित्व रख दिया था और यद्यपि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' का सिद्धान्त प्रस्तावित था परन्तु हास्य रस (निम्न स्तर के व्यक्तियों से संबंधित होने के कारण) इस परिधि से बहुत दूर रखा गया था। चूंकि अनुकरण काव्य की कोई सुन्दर परम्परा की छाया भी उस युग में नहीं थी इसलिये इस कोटि के भी हास्य-साहित्य का निर्माण एक प्रकार से असंभव था। संस्कृत काव्य, आदर्श प्रति-पादन तथा साधना की वस्तु था; उसका किसी अन्य स्तर का प्रयोग कल्पना के परे था।

नाटक-क्षेत्र में, परिस्थिति-मूलक-व्यवस्था के कारण, हास्य की सीमा और भी संकुचित हो गई और प्रहसन ही उसका मान्य क्षेत्र रह गया। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य प्रकार के सुखान्तकीयों[1] में हास्य का नितान्त अभाव है। प्रायः सभी सुखान्तकीयों में, जिनमें शृंगार का प्राधान्य है, हास्य को थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य मिला परन्तु यह स्थान अत्यन्त गौण है और केवल विदूषक की भाव-भंगी, वेष-भूषा, शारीरिक स्थूलता तथा भुभुक्षा तक सीमित रहा। इसके अतिरिक्त, मूलतः प्रहसनों में सीमित रहने के कारण हास्य की व्यापक आत्मा को और भी क्षति पहुँची क्योंकि वहाँ हास्य केवल निम्न वर्ग के व्यक्तियों से संबंधित रहा और केवल अपने स्थूल रूप में अट्टहास द्वारा प्रस्तुत होता रहा। इन सिद्धान्तों की प्रायोगिक समीक्षा हम आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे।

---

१. देखिए-'नाटक की परख—' (सुखान्तकी तथा मिश्रितांकी खण्ड)

२

संस्कृत साहित्य में हास्य के प्रायोगिक रूप

संस्कृत साहित्य में, हास्य की रूप-रेखा स्थिर करने के लिए हमें संस्कृत नाटक-कारों की ही रचनाओं का अध्ययन अपेक्षित होगा क्योंकि स्वतः एक सामाजिक गुण होने के कारण हास्य ने अपना सफल और नैसर्गिक प्रकाश नाटक-क्षेत्र में ही पाया होगा। इस सिद्धान्त को मानने में कदाचित संदेह न होगा कि गद्य क्षेत्र बहुत काल के बाद ही विकसित हुआ और हास्य-प्रसार में सहयोग दे सका, फलतः इस अनुसंधान के लिए संस्कृत का नाटक-साहित्य ही विशेष रूप में फलप्रद होगा। परन्तु इस अध्ययन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि संस्कृत साहित्य के समस्त श्रेष्ठ नाटक-कारों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं और यदि उपलब्ध हैं भी तो वे अपने सम्पूर्ण रूप में नहीं प्राप्त हैं। जिस प्रकार यूनानी साहित्यकारों की सम्पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध नहीं और केवल अटकल से ही तथा अन्य साहित्य-कारों द्वारा उल्लिखित सन्दर्भों के आधार पर ही हम किसी संभाविक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसी प्रकार संस्कृत नाटककारों की रचनाओं की अनुपलब्धता साहित्यिक अनुसंधान में बाधक होगी। परन्तु इतना होते हुये भी इसमें सन्देह नहीं कि विशेषतः भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष तथा राजशेखर समान प्रभृत नाटककारों की रचनाओं द्वारा ही हम कुछ सामग्री इकट्ठी करने में सफल होंगे और सम्भाविक निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकेंगे।

संस्कृत साहित्य के नाटककार साधारणतः किसी आदर्श-प्रतिपादन के लिए ही नाटक-रचना करते रहे : चाहे वह आदर्श धार्मिक हो अथवा राज-नीतिक, सामाजिक हो अथवा आध्यात्मिक। इस आदर्श-प्रतिपादन में उन्हें अनेक भावनाओं पर नियन्त्रण रखना पड़ा होगा और वे केवल उन्हीं को प्रयुक्त करना चाहते होंगे जो उनके आदर्श-प्रदिपादन में पूर्ण-रूप से सहायक होती होंगी। इस दृष्टि से इन नाटककारों की रचनाओं में हास्य का सम्यक अथवा बहुल प्रसार ढूँढ़ना असंगत होगा। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत के नाटककार हास्य की नाटकीय शक्ति और उसके नाटकीय प्रयोग से भली-भाँति परिचित थे परन्तु आदर्शवादिता पर दृष्टि एकाग्र होने के कारण उनकी रचनाओं में उसे कोई विशेष अथवा महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका।

इसके साथ-साथ जिस ध्येय की पूर्ति ये नाटककार करना चाहते थे उसकी पूर्ति में हास्य प्रायः बाधक ही होता फलतः हास्य को न तो कोई विशिष्ठ स्थान ही मिला और न उसका सर्वांगीण साहित्यिक प्रयोग ही संभव हुआ। जिन लेखकों ने स्पष्ट-रूप में हास्य का प्रयोग किया वे केवल प्रहसन लेखक थे और उनकी रचनाएं हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु इस निष्कर्ष पर पहुंचना सरल है कि इन प्रहसन लेखकों ने साधारणतः परिस्थितिमूलक एवं शाब्दिक हास्य को ही प्रश्रय दिया और हास्य की सीमा न तो विस्तृत हो सकी और न व्यापक। इसका एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस समय का समाज न तो इतना जटिल था और न व्यक्ति ही, जैसा कि आधुनिक काल में है, मनोविज्ञान के हाथ की कठपुतली था। जो सामाजिक एवं वैयक्तिक उलझनें, संघर्ष तथा जटिलताएँ हम आधुनिक काल में अनुभव कर रहे हैं उसका शतांश भी उस युग के मनुष्य के सम्मुख नहीं था; और कदाचित यही कारण है कि संस्कृत-साहित्यकारों ने हास्य-रस की कोई विशद व्याख्या नहीं की और उन्होंने उसे विशेष रूप में महत्वपूर्ण न मान कर उसकी गूढ़ आत्मा की भी परख नहीं की।

संस्कृत नाटकों में, हास्य-प्रसार का सम्पूर्ण भार केवल विदूषक पर निर्भर जान पड़ता है क्योंकि उन्हीं गर्भांकों में हास्य की छाया दिखलाई देती है जिनमें विदूषक प्रस्तुत रहता है अथवा उन व्यक्तियों (विशेषतः स्त्री-पात्र) की उपस्थिति रहती है जिनसे वह या तो प्रेमालाप करता है अथवा विरोध ठानता है। प्रायः सभी श्रेष्ठ नाटककारों की रचनाओं में विदूषक को स्थान मिला है और सभी ने उसके रूढिगत प्रयोग द्वारा सफल हास्य-प्रदर्शन किया है; परन्तु इस रूढ़िगत[1] प्रयोग में इस बात का सतत संकेत मिलता

---

१. जिस प्रकार अंग्रेज़ी साहित्य में विदूषक का मूल रूप स्थिर हो गया है और उसकी प्रारम्भिक छाया हमें प्रचीन 'मोरैलिटीज़' तथा 'मिरेकिल्स'[1] में स्पष्टतः देख पड़ती है, उस प्रकार का निश्चय संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त 'विदूषक' के संबंध में नहीं हो पाया है। कुछ अनुसंधान-कर्ताओं का कथन है कि 'महाव्रत' अनुष्ठान में जो पात्र ब्रह्मचारी के रूप में राज्य-दरबार की विलासिनी से अश्लील एवं अशिष्ट वार्तालाप करता है कदाचित विदूषक का मूल-रूप रहा होगा और जिससे यह सहज ही प्रमाणित हो सकता है कि कदाचित विदूषक ब्राह्मण वंश का विद्यार्थी-युवा ही रहा होगा।

१—देखिए—'अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास'

रहता है कि सब ने उसके व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रयास किया है और अन्यान्य रूढ़िगत गुणों से विभूषित करते हुए भी उसे नूतन व्यक्तित्व प्रदान करने की चेष्टा अवश्य की है।

कुछ अनुसंधान कर्त्ताओं[1] का विचार है कि यद्यपि संस्कृत नाटकों का विदूषक पश्चिमी नाटकों के विदूषक अथवा मूर्खाधिराज से थोड़ी बहुत समानता अवश्य रखता है परन्तु उनसे वह अनेक रूप में विभिन्न है और उसका स्थान अधिक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी अथवा पश्चिमी नाटकों का विदूषक, इन विचारकों के अनुसार केवल मूर्खतापूर्ण कार्यों का प्रतिपादन करता है और दुःखान्त भावना का प्रतिरोध करता है। उसका निजी अस्तित्व नाटक की मूल आत्मा से सम्बन्धित नहीं और वह केवल गौण और वाह्य रूप में ही प्रस्तुत रहता है। इसके विपरीत संस्कृत नाटकों का विदूषक नाटक की मूल आत्मा से सम्बन्धित रहता है; नाटकीय कार्यों में उसका महत्वपूर्ण स्थान रहता है और कार्य-व्यापार में उसका सहयोग अनिवार्य रूप में रहा करता है। इन नाटकों में उसका स्थान गौण नहीं; और नायक का सहयोगी

महाकवि शेक्सपियर के नाटकों के नायकों एवं कतिपय नाटकों में प्रयुक्त विदूषक की रूप-रेखा, आन्तरिक विशेषताएँ इत्यादि से तो हम सहज ही परिचित हो जाते हैं परन्तु इन व्यक्तियों की ठीक-ठीक वयस क्या होगी उस पर हम कोई निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत कर सकते उसी प्रकार संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त विदूषक की वयस की भी ओर हम निश्चयात्मक रूप में कोई संकेत नहीं दे सकते। हाँ, केवल संभाव्य रूप में यह कहा जा सकता है कि विदूषक की वयस नायक की वयस के कुछ न कुछ समान ही रहेगी तभी वह नायक का मित्र, विश्वासपात्र तथा उसके दुःख-सुख का सहज सहयोगी होता है। संस्कृत नाटकों के विदूषक की वेशभूषा तथा अंग्रेज़ी साहित्य के प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त विदूषक के मूल रूप में कदाचित कुछ रुचिकर समानताएँ दृष्टिगत होंगी। 'मॉरैलिटीज़' तथा 'मिरेकिल्स' में प्रयुक्त कुछ ऐसे पात्र रहते हैं जो अधर्म, अमानुषिकता एवं अन्याय अनैतिक भावनाओं के प्रतीक रहते हैं और वे उसका छद्म-वेश धारण कर रंग-स्थल पर आते हैं उसी प्रकार संस्कृत नाटकों में जहाँ कहीं विदूषक अपने मुख पर कोई भयावह अथवा मनोरंजक चेहरा लगा कर रंगस्थल पर आता है अपने पश्चिमी प्रतिरूप से समानता स्थापित कर लेता है। और छद्मवेश द्वारा जिस प्रकार हास्य आविर्भूत होता है उस पर हम अत्यन्त स्पष्ट रूप में विचार कर चुके हैं।

१. जे. टी. पारीख

होने के कारण उसका स्थान नाटकीय कार्य की प्रगति में सतत् अनिवार्य सा रहता है। इस साहित्यिक विवेचन से, कदाचित्, कुछ पश्चिमी साहित्य के अन्वेषक सहमत न हो पायेंगे।[1]

१. इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य नाटकों, विशेषतः शेक्सपियर के श्रेष्ठ नाटकों में विदूषक दुःखान्त भावना की तीव्रता का शमन करता है और उसका प्रतिरोध प्रस्तुत करता है और इस उत्तरदायित्व का महत्व इसलिए है कि नाटक-कार सम्पूर्ण जीवन पर अपनी दृष्टि एकाग्र रखता है। वह न तो जीवन को केवल दुःखमय समझता है और न पूर्णतः सुखमय मानता है; दोनों के ही समन्वय को प्रस्तुत करना उसका लक्ष्य रहता है। इस दृष्टि से दुःखान्त भावना का प्रतिरोध उपस्थित करना उस श्रेष्ठ नाटककार के लिए जो जीवन को पूर्ण-रूप से परखना चाहेगा, अनिवार्य एवं अवश्यंभावी होगा। हाँ, शेक्सपियर के कुछ पहले के अपरिपक्व नाटकों में विदूषक अट्टहास प्रस्तुत करता है और कार्य-व्यापार की प्रगति में भी उसका विशेष हाथ नहीं रहता और वह उन नाटकों की मूल आत्मा से संबंधित भी नहीं जान पड़ता। परन्तु शेक्सपियर के श्रेष्ठ एवं परिपक्व दुःखान्तकियों में उसका स्थान नायक से कम उच्चतर नहीं। इन नाटकों का विदूषक कोरा विदूषक नहीं; वह श्रेष्ठ दर्शनज्ञ बन जाता है। और यह किसी हद तक सही भी है कि मूर्ख और दर्शनज्ञ में थोड़ा ही अन्तर है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि जहाँ पूर्वी नाटक-कारों का प्रमुख ध्येय आदर्श-प्रतिपादन रहा है वहाँ पाश्चात्य नाटककारों, विशेषतः शेक्सपियर का लक्ष्य, चरित्र-चित्रण एवं मानवी जीवन की गहराइयों[1] का माप लगाना रहा है। उनका विदूषक कोरा विदूषक नहीं; उसका स्थान भी गौण नहीं और नाटकीय कार्य व्यापार में उसका दायित्व भी कम नहीं। संस्कृत नाटकों का विदूषक परिस्थिति की प्रगति और उसका विकास करता है; अंग्रेज़ी नाटककार शेक्सपियर का विदूषक नायक के चरित्र के विकास की कसौटी बन जाता है; वह उसके अन्तर्द्वन्द्व[2] को तीव्र करता है; उन्हें हमारे हृदय के अधिक समीप ले आता है। संस्कृत तथा अंग्रेज़ी नाटकों के नायकों, नायिकाओं, विदूषकों तथा अन्य पात्रों की तुलनात्मक समीक्षा में हम प्रायः यह भूल जाते हैं कि दोनों साहित्यों के साहित्यकारों के लक्ष्य में विभिन्नता रह सकती है और इसके फलस्वरूप नाटकों के पात्रों के प्रयोग में भी विभिन्नता प्रस्तुत रहेगी। इसलिए बिना उनके लक्ष्य का अनुसन्धान

१. देखिए 'नाटक की परख'   २. देखिए—'वही'

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं संस्कृत नाटकों का हास्य-प्रसारक विदूषक प्रायः रूढ़ि-रूप में ही अपना कार्य सम्पन्न करता है और वह श्रृङ्गार-रस के नाटकों में अनिवार्य रूप में प्रस्तुत रहता है। इसका कारण भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट कर सकते हैं। प्रायः श्रृङ्गार के क्षेत्र में ही मनुष्य के असंगत कार्य, विषम भावनाएँ, तर्कहीन विचार एवं व्यवहार के अनगिनत उदाहरण मिलेंगे। प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या और लालसा के प्रांगण में हास्य प्रदर्शन के अनेक सफल अवसरों का निर्माण सहज ही हो सकेगा और यही कारण है कि संस्कृत के श्रृङ्गार-प्रधान नाटकों में विदूषक का महत्त्व कहीं अधिक रहेगा और वहीं हमें हास्य की अनेकरूपता के उदाहरण भी मिल सकेंगे। उसके संवाद में हमें शाब्दिक हास्य के उदाहरण, उसके मूर्खतापूर्ण कार्यों में परिस्थिति मूलक हास्य तथा उसकी मनोरंजक वेष-भूषा एवं अपार-भोजन-प्रियता[1] से प्रेरित शारीरिक इंगित हास्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। अश्वघोष-लिखित बौद्ध-कालीन नाटकों के जो कुछ भी अंश हमें प्राप्त हैं उसमें विदूषक की अपार भोजन प्रियता, शारीरिक स्थूलता तथा राज-दरबार की विलासिनियों से वक्रोक्तिपूर्ण संवाद में हास्य के सफल अवसर आते हैं। कदाचित् भास रचित तेरह नाटकों में विदूषक[2] के अतिरिक्त हमें ऐसे पात्रों का दर्शन होता है जो हास्य की अनेकरूपेण छटा प्रस्तुत करते हैं। उनमें हमें वक्रोक्ति, व्यंग्य, उपहास और

किये हुए किसी एक को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन प्रमाणित करने में श्रेष्ठ आलोचना-सिद्धान्तों को क्षति पहुँचने की संभावना रहेगी। संस्कृत साहित्य के नाटक-कारों ने आदर्श नायक, आदर्श नायिका, आदर्श पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था को अपने मानस में पहले से स्थिर कर ही, कदाचित् अपने नायकों का निर्माण किया है। वे पूर्ण-रूप से परिस्थिति पर काबू पाये हुये रहते है और जहाँ कहीं भी परिस्थिति उनके प्रतिकूल होती है वे अन्त में उन पर अनिवार्य रूप में विजयी होते हैं। इसके विपरीत अंग्रेज़ी नाटकों (दुःखान्तकीयों) के नायक परिस्थिति के शिकार तो हैं ही अपने नैसर्गिक अवगुणों के भी शिकार हैं और दोनों का चक्रव्यूह उन्हें दुर्भाग्य के थपेड़े देता हुआ मृत्यु की गोद में लिटा देता है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए संस्कृत के नाटककारों ने दुःखान्तकियों पर प्रतिबन्ध लगाया और सुखान्तकी रचनाओं की ही परम्परा चलाई।

१. वासन्तक; सन्तुष्ट

२. वासन्तक; सन्तुष्ट; मैत्रेय

कहीं कहीं परिहास के भी सफल उदाहरण मिलेंगे जिन्हें हम अपने अन्यत्र विश्लेषण किए हुए सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रमाणित कर सकेंगे। वे छद्म-वेष[1] भी धारण करते हैं और परिस्थितिमूलक हास्य की अवतारणा करते हैं। विदूषक की विस्मृति और उसका तर्कहीन संवाद मनोरंजक हास्य की सृष्टि करते हैं और जहाँ कहीं वह अपनी आकस्मिक सुबुद्धि[2] द्वारा जटिल परिस्थिति सुलझा लेता है, हास्य की सफल सृष्टि होने लगती है। शारीरिक कुरूपता, असंगतिपूर्ण संवाद, विस्मृतिपूर्ण संवाद, विस्मृतिपूर्ण कार्य-कलाप[4] तथा शाब्दिक उलट फेर[5] इन सब के भी अनेक उदाहरण हमें दृष्टिगत होंगे। चारित्रिक असंगति[6] के भी सफल उदाहरण हमें सहज ही मिलेंगे और उपहास-पूर्ण कार्य-व्यापार[7] के उदाहरणों की भी कमी नहीं अनुभव होगी।

संक्षेप में, उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि संस्कृत नाटककारों ने प्रायः शृङ्गार क्षेत्र में ही हास्य की सृष्टि की और विदूषक द्वारा ही हास्य के अन्यान्यरूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए। अश्वघोष, भास, कालिदास, हर्ष, राजशेखर द्वारा लिखे गए नाटकों में हमें विभिन्न विदूषकों का परिचय प्राप्त होता है जिन्होंने हास्य के अनेकरूपेण उदाहरण प्रस्तुत किए और जिन-जिन वर्गों के हास्य की समीक्षा हम कर चुके हैं उन सबके अनेक उदाहरण हमें दृष्टिगत होंगे। वासन्तक, सन्तुष्ट, मैत्र्येय; गौतम, माणवक, माधव्य; आत्रेय, कापिंजल इत्यादि विदूषक वंश में हमें साधारणतः सभी प्रकार के हास्य की छटा दिखलाई देगी जिनकी परख हम पहले से निर्धारित किए हुए सिद्धान्तों की सहायता से कर सकेंगे। परिस्थिति मूलक, शाब्दिक, चारित्रिक एवं मानसिक हास्य, सभी की सफल अभिव्यक्ति हमें दृष्टिगत होगी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं होगा कि साधारणतः परिस्थिति मूलक तथा शाब्दिक हास्य की ही बहुलता दिखाई देगी; यदा-कदा चारित्रिक एवं मानसिक हास्य के उदाहरण मिलेंगे तो अवश्य, परन्तु न तो उनकी बहुलता के और न इनकी व्यापकता के ही प्रमाण मिलेंगे। इसके साथ-साथ हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि विदूषक शृङ्गार रस के नाटकों को छोड़ अन्य किसी प्रकार के नाटकों में प्रायः स्थान नहीं पाता। एक तो दुःखान्तकी के दर्शन् हमें सिद्धान्त रूप में नहीं होंगे और जिन नाटकों में गंभीर, ऐतिहा-

---

१. वासन्तक
२. वासन्तक
३. मैत्र्येय, गौतम, माणवक, माधव्य
४. मैत्र्येय, माणवक
५. मैत्र्येय
६. गौतम
७. माणवक

सिक एवं वीर-कार्य-पूर्ण गाथा है उनमें भी विदूषक की उपस्थिति इष्टिमत नहीं होगी। इसका सहज कारण यह है प्राचीन यूनानी विचारकों के समान संस्कृत-साहित्य के विचारक भी केवल एक रस अथवा भावना का प्रसार चाहते थे और उनका विचार था कि दुःखान्त तथा सुखान्त भावना दोनों का एक ही कथा-वस्तु के अन्तर्गत सम्मिश्रण से दोनों को क्षति पहुँचेगी।[1]

१. इस सिद्धान्त का सफल खण्डन अँग्रेजी साहित्य के रोमांचक नाटककारों ने बहुत सफलता पूर्वक किया देखिए—'नाटक की परख' मिश्रितांकी खण्ड]

३

यह सिद्धान्त-रूप में प्रमाणित है कि संस्कृत साहित्य-क्षेत्र में केवल विदूषक हास्य का अनेकरूपेण प्रदर्शन करता रहा है और उसकी उपस्थिति कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से केवल श्रृङ्गाररस सम्बन्धी नाटकों में ही उपयोगी रही है। श्रृङ्गार-क्षेत्र में विदूषक को बन्दी बनाने के सम्बन्ध में संस्कृत नाटककारों ने अनेक सिद्धान्त[1] भी बनाए और उसकी उपस्थिति अन्य किसी भी प्रकार के नाटकों में क्षम्य नहीं ठहराई गई। परन्तु अँग्रेज़ी नाटकों की परम्परा इससे कहीं भिन्न रही।

संस्कृत नाटकों में हम जिन विभिन्न वर्गों के हास्य का अनुभव करेंगे उसका मूल कारण विदूषक तथा नाटक के नायक की अभिन्न मैत्री तथा उसका सफल निर्वाह, उसका त्याग तथा उसकी अनुपम स्वामिभक्ति इत्यादि मानवी

---

१. हास्य रस पर अपने विचार प्रकट करते हुए भरत ने, उसे श्रृंगार का ही सहयोगी माना और उसे केवल गौण स्थान दिया। परन्तु जब सिद्धान्त-रूप में यह प्रमाणित कर दिया गया कि श्रृङ्गार रस के नाटकों में विदूषक की उपस्थिति अनिवार्य होगी कुछ नाटक-कारों को उसे पात्र रूप में रखना पड़ा, परन्तु हास्य की अनुपम छटा विकीर्ण करने की न तो उनमें क्षमता थी और न वे जीवन की मनोरंजक असंगति पर ही अपनी दृष्टि एकाग्र कर सकते थे। यही कारण है कि अनेक संस्कृत नाटकों का विदूषक रूढ़िगत तथा रूढ़िग्रस्त हो गया; उसके गुणों अथवा अवगुणों की सूची बन गई और उसे निरन्तर रूढ़ि रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई। फलतः सभी नाटकों में विदूषक की शारीरिक-स्थूलता, उसके शारीरिक इंगित, उसकी भोजन-प्रियता तथा उसकी उपहासप्रद वेष-भूषा के अविरल दर्शन होंगे। इसके अतिरिक्त जब भरत ने नाटकीय टोलियों के लिए पाँच व्यक्तियों की व्यवस्था बनाई तब उसमें विदूषक भी अनिवार्य-रूप में सम्मिलित कर लिया गया और उसके कार्यों और उस कार्य के साधनों की भी एक रूढ़िगत तालिका बना ली गई।

गुण रहेंगे। अपने इस संबंध विशेष द्वारा वह अनेकरूपी हास्य प्रस्तुत करता रहता है। अपनी सुबुद्धि ? से प्रेरित हो कहीं वह सरल परिस्थिति जटिल बनायेगा[1] और कहीं जटिल परिस्थिति सरल बनाने का बीड़ा उठाएगा[2] और परिस्थितिमूलक हास्य[3] के व्यापक उदाहरण प्रस्तुत करेगा। नायक तथा नायिका की प्रेम-प्राप्ति के लिए वह कुछ उठा नहीं रखता[4] और उसके समस्त कार्य-कलाप का केवल एक लक्ष्य रहता है—प्रेम-व्यापार में नायक की सफलता। और साधारणतः इन्हीं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में वह जो अन्य पात्रों से वार्त्तालाप करता है हास्य-प्रसार के अनेक अवसर अपनी और अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति के अनुसार निकालता चलता है। कहीं पर वह छद्म-वेश[5] धारण करता है; कहीं तीव्र वक्रोक्ति[6] का प्रयोग कर नायक में स्थैर्य और धैर्य की स्थापना करता है; कहीं तीक्ष्ण व्यंग्य[7] द्वारा वह अपने प्रविद्वन्द्वी को हतप्रभ करता है। उपहास-मूलक[8] हास्य का तो वह सतत् मूल स्रोत बना रहता है, परन्तु उस कोटि के परिहास के उदाहरण जिसे हम मानसिक हास्य की संज्ञा प्रदान कर चुके हैं हमें प्रायः कुछ ही विदूषकों[9] के चरित्र एवं सवाद में मिलेगा।

शारीरिक स्थूलता केशविहीन-सिर[10], वक्रदण्ड तथा शारीरिक इंगितों तथा उपहासप्रद वेष-भूषा द्वारा हास्य-प्रदर्शन तो हमें साधारणतः सभी विदूषकों द्वारा मिलेगा और यही उनकी रूढ़िगत विशेषता भी रही हैं। और इन उपक्रमों द्वारा हास्य-प्रदर्शन क्योंकर होता है इस प्रश्न पर हम पहिले व्यापक रूप में, अनेक सिद्धान्तों के विवेचन के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं। और इस प्रकार के उपक्रमों द्वारा प्रस्तुत हास्य की श्रेष्ठता का माप क्या होगा इस ओर भी हम स्पष्ट संकेत दे चुके हैं और इसी के आधार पर हास्य की सामाजिक प्रगति, उसकी परिवर्त्तनशीलता तथा उसके विकास का इतिहास भी प्रस्तुत कर चुके हैं। बर्बर के अट्टहास से लेकर आधुनिक शिष्ट समाज के मानसिक हास्य के जितने भी स्तर हैं सबके उदाहरण, साधारणतः हमें

---

१. माणवक
२. गौतम
३. गौतम
४. गौतम
५. वासन्तक (भास)
६. माधव्य
७. गौतम
८. माणवक
९. गौतम
१०. विदूषक (राजशेखर)

विदूषक[1] द्वारा ही प्रस्तुत मिलेंगे और यही संस्कृत-साहित्य-क्षेत्र की विशेषता है।

---

१. शास्त्रों के अनुसार नाटकों के विदूषकों के नाम कुसुम, वसन्तादिक होना चाहिए। नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा ऐसे ही रूपों में उसे प्रदर्शित करना हितकर होगा। उसे किसी विचित्र आकृति का अथवा हकला, तोतला, भोजन-प्रिय, मूर्ख तथा असंगतिपूर्ण कार्य करने वाला होना चाहिए। राजशेखर कृत 'धूर्त समागम' तथा 'प्रपञ्च पाण्डव', सोमराज दीक्षित कृत 'धूर्त नर्तक' जगदीश्वर कृत 'हास्यार्णव' शिव ज्योतिर्विद कृत 'मुण्डित' (प्रहसन) तथा शंखधर कविराज विरचित 'लटक मेलक' (प्रहसन) में, अनुसंधानकर्त्ताओं का विचार है कि प्रहसनात्मक हास्य की सफल सृष्टि हुई है।

प्रकरण–१६

हिन्दी साहित्य
में
हास्य की रूप-रेखा

१

पूर्व में, विशेषतः संस्कृत साहित्य में जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं हमें प्रायः हास्य की व्यापक आत्मा, उसके गूढ़ संकेत तथा उसके अनेकरूपेण दर्शन के सिद्धान्त एवं बहुल उदाहरण कदाचित नहीं मिलेंगे क्योंकि संस्कृत साहित्य के निर्माताओं एवं आलोचक मनीषियों ने इस रस पर केवल कुछ थोड़े से ही विचार प्रस्तुत किए हैं। हिन्दी साहित्य के प्रति भी प्रायः यही विचार मान्य रहा है कि उसमें हास्य-साहित्य की न्यूनता है और इस क्षेत्र में जितनी साहित्यिक उन्नति पाश्चात्य देशों—इंगलिस्तान तथा फ्रांस के साहित्यकारों ने की उतनी नहीं हो सकी है। परन्तु इस न्यूनता का कारण क्या है और इस प्रयास की ओर दोनों क्षेत्र के साहित्यकारों का पूर्ण ध्यान क्यों नहीं गया इस पर सम्यक् विचार करना अपेक्षणीय होगा।

हिन्दी साहित्य में हास्य की रूप-रेखा

यह एक सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि अनेक भौगोलिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों द्वारा व्यक्ति अथवा मानवसमाज की विचारधारा प्रेरणा ग्रहण करती है और वेगवती होती है। यही प्रेरणायें क्रियात्मक साहित्य की मूलाधार भी रहेंगी और वे इस सामूहिक वातावरण से प्रभावित होकर प्रगति करती चलेंगी। यदि हम भारत की भौगोलिक सीमाओं की ओर ध्यान रक्खेंगे और प्राचीन काल से मध्ययुग तक की सामाजिक व्यवस्था पर भी विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत की भौगोलिक सुव्यवस्था ने यहाँ के प्राणियों के लिए अनेक प्राकृतिक सुविधायें वरदान रूप में दे रक्खीं थी। और इन्हीं प्राकृतिक सुविधाओं ने प्राचीन आर्य जाति को एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान किया जिसके द्वारा वे ईश्वरानुरागी हुए और उन्होंने इन सुविधाओं के कारण स्वरूप, अपनी मानवी श्रद्धा एक ऐसी अपार, अलौकिक, अनुपम सत्ता के सम्मुख भेंट की जिसे उन्होंने ईश्वर की संज्ञा से सम्बोधित किया। और, कदाचित, यही कारण है कि प्राचीन आर्य साहित्य का मूल रूप हमें उन मन्त्रों में मिलता है जिसमें ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया गया है। सुविधापूर्ण और सुखी जीवन में

संतोष और श्रद्धा की भावनाओं का अटल साम्राज्य रहेगा; और संतोष और श्रद्धा दोनों ही भावनायें, बहुत कुछ अंश में हास्य की सहयोगिनी नहीं। कल-कल करती हुई अनेक नदियाँ, पशुपालन के लिए विस्तृत मैदान और अन्न उपजाने के लिए उर्वरा भूमि ने सहज ही धार्मिक भावनाओं का संचार किया और इन्हीं भावनाओं द्वारा अभिभूत होकर प्राचीन आर्य ने जगत-नियन्ता के सम्मुख घुटने टेके। प्राचीन आर्य एक अदृश्य ईश्वर के समीप था, कदाचित् इसी कारण वह हास्य से दूर था। ईश्वरीयता तथा हास्य में सतत् आन्तरिक द्वेष रहा है। प्राचीन आर्यों की सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक आदर्शों द्वारा नियन्त्रित तथा संयत की गई, जिसका फल यह हुआ कि वेद मन्त्रोच्चार करता हुआ और अर्धोन्मीलित नेत्रों के सन्मुख एक अदृश्य ईश्वर का साक्षात्कार करता हुआ प्राचीन आर्य-समाज हास्य के प्रति विरक्त रहा। धर्म ने व्यक्ति, उसके परिवार तथा परिवार के अनेक प्राणियों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित किया और जो आदर्श सम्मुख रखे उस पर भी धार्मिकता की इतनी गहरी छाया थी कि हास्य की ज्योति उसे भेद न सकी। व्यक्ति एवं समाज का केवल एक आदर्श था—धर्म की रक्षा और धर्म का प्रसार और इन्ही दोनों आदर्शों को आगे बढ़ाता हुआ आर्य-समाज हास्य को कहीं पीछे छोड़ता गया।

जैसा कि हम संकेत दे चुके हैं प्राचीन आर्य समाज ने समाज एवं परिवार में जो सम्बन्ध स्थापित किया उसके द्वारा हास्य का विकास और उसकी प्रगति असम्भव थी। हमारा परिवार पिता, माता, गुरु, द्वारा ही परिचालित था और सब एक दूसरे से, प्रमुख रूप में, श्रद्धा से और गौण रूप में प्रेम द्वारा अटूट बन्धन में जुड़े हुए थे और ये दोनों बन्धन बहुत काल तक और बहुत कुछ अंश में आज तक भी भारतीय परिवार को नियंत्रित किये हुए हैं। आज्ञापालन, प्रतिज्ञापालन तथा धर्मपालन इन्ही तीनों से भारतीय परिवार और समाज नियंत्रित रहा और हास्य इस सुदृढ़ दुर्ग को तोड़ने में बहुत काल तक विफल रहा।

इन कारणों के अतिरिक्त हमारी राजनीतिक व्यवस्था भी ऐसी रही है जो हास्य के जन्म और विकास के लिए हितकर नहीं हुई। जिस प्रकार से गुरु और पिता समाज एवं परिवार पर नियंत्रण रखते रहे उसी प्रकार चक्रवर्ती राजाओं के एक-क्षत्र राज्य के अन्तर्गत भारतीय जनता अपना राजनीतिक जीवन-यापन करती रही और वह राजा जिसका यह आदर्श हो कि ;—'नात्वहं कांक्षये राज्यं न च स्वर्गं न पुनर्भवम्' हास्य-साम्राज्य का विकास करने में कैसे

सफल होता। हास्य तो उस प्रकार के राजा द्वारा प्रसारित एवं उन्नतिशील किया जा सकेगा जो राज्य-प्राप्ति की चेष्टा में विफल होता रहे और जो बार-बार पृथ्वी पर जन्म लेने में ही अपना जीवन सार्थक समझे। आदर्श राजनीतिक संगठन किसी प्रकार भी हास्य के जन्म के लिए हितकर नहीं होगा। इस राजनीतिक सुव्यवस्था के अन्तर्गत अपराधी को जो दंड प्राप्त हुए उसने उसे अपने 'कर्मों की न्यारी गति' के अन्तर्गत ही रक्खा और इस कारण जहाँ अन्य देशों के अपराधी, जीवन की विषमता पर हँसते रहे, वहाँ कर्म-सिद्धान्त द्वारा नियंत्रित व्यक्ति आँखे बन्द किए, गम्भीर मुद्रा बनाए हुए, सुगति प्राप्त करने की चेष्टा करता रहा। हमारी प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था ने वीरता, देश-प्रेम, त्याग, स्वामि-भक्ति इत्यादि ऐसे गुणों का विकास किया जो हास्य को प्रेरित न कर सके और हास्य की आत्मा ऐसे युग की राह देखती रही जिसमें वह अपना पूर्ण विकास करने में सफल होती। प्रजातंत्र एवं लोकतंत्र में ही उसकी आशा-पूर्ति हो सकती थी और जिन-जिन देशों में ऐसी राजनीतिक व्यवस्था परिपक्व हुई वहाँ का हास्य भी विकसित तथा उन्नत हुआ। इसके साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि समस्त भारतीय सांस्कृतिक जीवन आध्यात्मवाद की छत्र-छाया में ही पल्लवित-पुष्पित होता रहा और पदार्थवाद श्रेष्ठ जीवन का शत्रु ही समझा गया; यहाँ तक कि पदार्थवाद का नाम लेना भी श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए हेय घोषित कर दिया गया, जिसका फल यह हुआ कि मनुष्य की समस्त मानसिक शक्ति षष्ठ योगों की साधना एवं प्राप्ति में संलग्न कर दी गई। मनुष्य, मनुष्य न होकर-साधक हो गया और हास्य के लिए यह अत्यावश्यक है कि मनुष्य साधक न होकर मनुष्य रहे। भारतीय आध्यात्मवाद ने कदाचित, हास्य को कुंठित करने में कुछ उठा न रक्खा। हास्य के लिए रामराज्य हितकर नहीं; उसके लिए ऐसा रामराज्य हितकर होगा जहाँ रावण-राज्य की सुदूर आकर्षक छाया उसे बार-बार चुनौती देती रहे। हास्य और पदार्थवाद में आन्तरिक सम्बन्ध प्रमाणित है।

२

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं पर विचार करते हुए यदि हम मुसलमानों के सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक जीवन को भी ध्यान में रखते तो हास्य के जन्म और विकास की परिस्थिति और भी स्पष्ट अन्य परम्पराएँ हो जाती। हिंदू समाज के विपरीत मुस्लिम समाज, बहुत कुछ अंशों में, प्रजातन्त्रीय विचारों द्वारा प्रेरित रहा और मुस्लिम राजाओं ने राजतन्त्र पर विश्वास करते हुए भी प्रजातन्त्र की विकासपूर्ण विचार-धाराओं को अधिक कुंठित नहीं होने दिया। उनके धर्म ने अनेक रूप से, सामूहिकता को प्रश्रय दिया और इसी सामूहिकता ने ने मुस्लिम साहित्य में हास्य का स्थान बहुत कुछ सुरक्षित रक्खा। जहाँ वर्णाश्रम धर्म ने भारतीय हिन्दू समाज को एक दूसरे से पृथक कर प्रत्येक की निजी सत्ता पृथक रूप में स्थापित की वहाँ मुस्लिम समाज की एकरूपता ने उनकी सामाजिक सामूहिकता को सुरक्षित रक्खा, जिसके द्वारा हास्य की प्रगति में सुविधा प्राप्त होती रही। मुस्लिम परिवार भी अनेक रूप में प्रजातन्त्र के आदर्शोंका अनुसरण करता रहा और यद्यपि श्रद्धा की भावना वहाँ भी कम न थी परन्तु उसका एकछत्र राज्य वहाँ सम्भव न था। पिता-पुत्र, भाई-बहन, भाई-भाई, चचा-भतीजे इत्यादि सम्बन्धों में प्रजातन्त्रीय भावनाओं का बहुत-कुछ समावेश प्रस्तुत था। 'अदब', 'वज़हदारी', 'एख़लाक़', 'तहज़ीब' इन सब ने हास्य और मुस्कान को देश निकाला नहीं दिया था और उर्दू साहित्य, बड़े मियाँ और छोटे मियाँ, अब्बाजान तथा चचा जान तथा अन्यान्य पारिवारिक सम्बन्धों की हास्य द्वारा मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक बनाये रखता है। हास्य के सफल प्रसार के लिए यह आवश्यक ज्ञात होगा कि पिता, वास्तविक रूप में अपने बड़े बेटे को केवल पुत्र ही नहीं वरन छोटा भाई भी समझे; और वयस-प्राप्त अपने बड़े बेटे से श्रद्धा ही नहीं वरन् विवाद करने और स्पष्ट रूप में प्रत्युत्तर पाने पर भी न तो क्रोधित हो और न क्षुभित और हास्य के अमोघ अस्त्र द्वारा उसके विरोध पर विजय प्राप्त करता रहे। मुस्लिम परिवार के अनेक व्यक्ति एक दूसरे से इतना अधिक नियन्त्रित नहीं रहता जिससे हास्य का प्रस्फुटन असम्भव हो जाय। उनके पारस्परिक सम्बन्ध में प्रजातन्त्रीय भावनाओं की स्पष्ट झलक प्रायः दिखलाई देगी। और यही झलक उर्दू साहित्य में भी प्रति-बिम्बित मिलेगी।

हिन्दू तथा मुस्लिम समाज के आदर्शों के उपरोक्त विवेचन के साथ-साथ पश्चिमी समाज-विशेषतः अंग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी, की गतिविधि पर भी विचार कर लेना हास्य की मूल आत्मा की परख के लिए कदाचित् कम अपेक्षित न होगा। पश्चिमी देशों की भी भौगोलिक राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं पर संक्षिप्त रूप में विचार कर लेना भी हमारे अध्ययन को अधिक स्पष्ट करेगा। पूर्व के आदि आर्यों को जो भौगोलिक सुविधायें प्राप्त थीं वे पश्चिम के आदि समाज को प्राप्त न थीं। उन्हें जीवन-यापन के साधनों को प्राप्त करने के लिए प्रकृति की शक्तियों से बहुत पहले से ही संघर्ष करना पड़ा। बर्फ़ीली पर्वत श्रेणियाँ, दुर्धर्ष चट्टानें और अन्धकार को अपनी गोदी में छिपाये घने जंगलों से उन्हे क़दम-क़दम पर संघर्ष करना पड़ा; और इस संघर्ष में न तो संतोष आवश्यक था और न श्रद्धा। उसके लिए आवश्यक थी विरोध की भावना जो अपने विजय पर अट्टहास करती और प्रकृति की हार पर मुस्कुराती। हम उस समय की सहज ही कल्पना कर सकते हैं जब जीवन-यापन की सुविधाओं को ढूँढ़ता हुआ पश्चिमी समाज चट्टानों की छाती से पानी के फौव्वारे खींचता रहा होगा और अन्धकार-पूर्ण जंगलों में पगडंडियों की सृष्टि करता चला होगा। इस अनुसंधान एवं प्रकृति पर विजय प्राप्ति की एकाकी साधना में वह गिर-गिर कर उठा होगा; और विजय और पराजय की विपरीत भावनाओं द्वारा प्रेरणा पाते हुए प्रकृति के विशाल अनुर्वर स्थानों को उर्वर बनाता चला होगा। संघर्ष के लिए विरोध आवश्यक है और विरोध को जीवन-दान देने के लिए हास्य अपेक्षित रहेगा। पश्चिम का धार्मिक संगठन भी बहुत कुछ मुसलमानी धर्म के संगठन से मिलता जुलता ज्ञात होगा। परन्तु उसमें एक प्रमुख तत्व का विशेष स्थान होगा और वह है पदार्थवाद। यदि वास्तव में देखा जाय तो कदाचित् पश्चिमी समाज अपनी आध्यात्मिकता को प्रायः गिरजाघर तक ही सीमित रखता है और पदार्थवाद का आकर्षण, बहुत गहरे रूप में, उसे अपनी ओर खींचे रहता है जिसका फल यह होता है कि वह जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को जीवनमय समझता है; उससे संघर्ष ठानना चाहता है और उस संघर्ष में विजय-प्राप्ति के उपरान्त मुस्कुराना तथा अट्टहास करना उसका सहज स्वभाव हो जाता है। अपने राजनीतिक आदर्शों में भी पश्चिमी समाज ने प्रजातन्त्रीय भावनाओं को पूर्णतः अपनाया है; और जब से प्रजातन्त्रीय भावनाओं का अविरल तथा उग्र प्रसार होने लगा तभी से हास्य की धारा और भी वेगवती होने लगी। अँग्रेज़ी तथा फ्राँसीसी समाज ने तो अपने

पारिवारिक संगठन में जितना अधिक प्रजातन्त्रीय विचारों को प्रश्रय दिया उसकी तुलना किसी अन्य देश के पारिवारिक व्यवस्था से नहीं हो सकेगी। पश्चिमी परिवारों के अनेक व्यक्तियों में श्रद्धा की भावना के विपरीत विशेषतः मैत्री की भावना ही सर्वोपरि रहती है जिसके द्वारा हास्य का विकास संभव हुआ करता है। हम अपने मित्रों पर ही हँस सकते हैं; श्रेष्ठ और श्रद्धेय व्यक्तियों पर नहीं और जब पश्चिमी समाज अपने श्रेष्ठ और श्रद्धेय व्यक्तियों पर हँसता है तब वह उन्हें अपने मित्र-मण्डल का एक सदस्य बना लेता है। प्रजातन्त्रीय राजनीति ने राजतन्त्र को थोड़े ही समय में अपने हाथ की कठपुतली बना लिया और इंगलिस्तान के इतिहास में देश के राजा और देश की लोक-सभा में जो प्रगतिपूर्ण संघर्ष हुए उसकी पार्श्वभूमि में हास्य की आत्मा छिप-छिपकर अपनी झलक दिखलाती रही और आज यदि इंगलिस्तान की लोक-सभा की शतियों की कार्यवाही का अध्ययन किया जाय तो अनेकरूपी हास्य के अनगिनत उदाहरण मिलेंगे।

इसके अतिरिक्त पश्चिमी समाज ने जिस रूप में नारी को देखा, जिस रूप में उसे अपनाया और जिस रूप में उसे समाज में प्रतिष्ठित किया उसके पीछे भी हमें हास्य की उन्नतशील रूपरेखा के दर्शन होंगे। पश्चिमी दृष्टिकोण से हास्य और नारी में वैसा ही सम्बन्ध है जो वर्षा और बसन्त में है। भारतीय आदर्शों के विपरीत पश्चिमी समाज ने, 'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' के आदर्श को किसी भी रूप में नहीं माना और उनके लिए पति-पत्नी, सास-वधू, जामाता तथा सास, श्वसुर तथा जामाता इत्यादि सम्बन्ध हास्य के अविरल स्रोत रहे हैं। पश्चिमी नारी ने भी, कदाचित इसमें सन्देह नहीं, अन्य देशों की महिलाओं के विपरीत रूढ़ि और परम्परा के प्रति पहले पहल संघर्ष छेड़ा। उनकी शिक्षा-दीक्षा ने भी इसमें पूर्ण सहयोग दिया और पश्चिमी परिवार की नारी त्याग, बलिदान और भक्ति की साकार प्रतिमा न होकर परिवार की जीती-जागती, बोलती-चालती, सजीव एवं आकर्षक अंग बनी रही। उसने मनुष्य से समता प्राप्त करने के लिए उससे विरोध ठाना; उसने अपने निजी व्यक्तित्व की रक्षा के लिए वाक्पटुता का अमोघ अस्त्र अपनाया और समाज का उन्नतिशील अंग बनने के लिए अनेक नारी-सुलभ शक्तियों का प्रयोग किया। और इसी द्वन्द्व में पश्चिमी हास्य साहित्य का बहुत कुछ अंश अंतर्हित है। पश्चिमी साहित्य में नारी ने जो हास्य-साम्राज्य स्थापित किया उसका इतिहास अत्यन्त रोचक है। पश्चिमी समाज की नारी प्रजातंत्रीय विचारों के प्रसार और प्रचार में स्वयं एक शक्ति-

शाली साधन बन गई और जैसे जैसे प्रजातंत्रीय साधनों का विकास, प्रचार तथा प्रसार होता गया वैसे ही वैसे नारी भी रूढ़ि और परम्परा के बन्धन से मुक्त होती गई और अन्त में मनुष्य की अनुगामिनी न होकर सहयोगिनी और सहगामिनी बन गई। फलतः सहयोग एवं सहगमन सफल हास्य प्रदर्शन के अपूर्व अवसर प्रस्तुत करते रहेंगे। सारांश यह है कि पश्चिमी संस्कृति अपने अनेक रूप में प्रजातंत्रीय भावनाओं को पोषित करती रही जिसके द्वारा अनेक रूपी हास्य भी उनके साहित्य में समय पाकर अवतरित होता गया।

३

हिंन्दी की परम्पराएं

यदि हम हिन्दी साहित्य की ओर दृष्टि फेरें तो कदाचित् यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दी साहित्य में हास्य का विकास बहुत विलम्ब से हुआ और हम साधारणतः उसके विकास का प्रामाणिक संकेत भारतेन्दु युग के आरम्भ से ही देख सकेंगे। इस न्यूनता के भी अनेक कारणों की ओर स्पष्ट संकेत किया जा सकता है। वीर-गाथा काल से लेकर रीतिकाल के कवियों तक जो कुछ भी हमें काव्य-साहित्य प्राप्त है उसमें हमें यदा-कदा व्यंग्य तथा उपहास के स्फुट उदाहरण मिल सकेंगे। परन्तु स्पष्टरूप से, हास्य रस को प्रमुख रूप में लेकर ही, लिखी गई शायद ही कोई पूर्ण कविता मिल सके। अपने पूज्य वीर की प्रशंसा करते हुए वीर काव्य के रचयिताओं ने व्यंग्य का सफल उपयोग उपमा तथा श्लेष रूप में किया है। भक्ति काल के कवियों में कहीं हमें कबीरदास की उलटबसियों तथा दोहों में शाब्दिक हास्य के व्यंग्यपूर्ण उदाहरण मिलेंगे और कहीं धार्मिक रूढ़ियों तथा धर्मांधन्ता पर कटु उपहास दृष्टिगत होगा। इनमें हमें विरोधाभास अथवा असंगति के सिद्धान्तों का प्रसार मिलेगा। सूर के पदों में, वियोग तथा वात्सल्य के सहज सुलभ प्रदर्शन के अन्तर्गत असंगति की भावना द्वारा हास्य-संकेत मिलेगा परन्तु प्रमुख रूप में गोस्वामी तुलसीदास के महाकाव्य में हमें शाब्दिक हास्य, उपहास एवं यदा-कदा परिहास के भी आकर्षक उदाहरण मिलेंगे; परन्तु जैसा हम संकेत दे चुके हैं, सिद्धान्तरूप में, भक्ति की भावना सतत हास्य विरोधी रहेगी। इसलिए हमें कुछ ही स्थलों में जहाँ का वातावरण थोड़ा बहुत भी प्रजातंत्रीय है गोस्वामी जी ने सफल हास्य प्रस्तुत किया है। इस हास्य के सफल तथा स्फुट उदाहरण हमें शिव-विवाह, नारद-मोह, परशुराम-लक्ष्मण संवाद, लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद, रावण-अंगद संवाद इत्यादि में मिलेंगे। रामायण में प्रायः कौतुक तथा कौतुकी शब्द विशेषतः श्रीरामचन्द्र के संबंध में प्रयुक्त हुए हैं और जिन-जिन स्थलों पर हास्य प्रदर्शित किया गया है इस 'कौतुक' का विशेष स्थान है। वास्तव में 'कौतुक' एक ऐसा नाटकीय गुण है जिसकी मूल प्रेरणा, आश्चर्य-भावना में ही मिलेगी जिसकी विस्तृत व्याख्या हम सिद्धान्त खण्ड के अन्तर्गत कर चुके हैं। कौतुक का मूल प्रदर्शन,

विष्णु तथा श्रीराम की अद्वितीय एवं रहस्यपूर्ण परिवर्तनकारिणी शक्ति द्वारा ही होता है जिसमें नाटकीयता का सफल सहयोग दृष्टिगत होगा और हास्य का प्रस्फुटन होगा। विष्णु अपनी रहस्यपूर्ण शक्ति[1] द्वारा नारद-मोह का कौतुक प्रस्तुत करते हैं और शिक्षात्मक हास्य का सहारा लेते हैं। यद्यपि श्रीराम अपनी रहस्यपूर्ण शक्ति का सहारा नहीं लेते फिर भी वे बानर-सेना[2] में कौतुक प्रस्तुत कर देते हैं। बानर-सेना का पूर्ण कौतुक हम तभी हृदयंगम कर पाएँगे जब मनि खाने वालों की क्षण-क्षण पर परिवर्त्तित होती हुई आकृति पर ध्यान रखेंगे और अन्त में उनकी हताश मुद्रा और क्रोध का काल्पनिक चित्र अपनी आँखों के सम्मुख देखेंगे। उसका प्रयोग चाहे सहज अथवा अद्वितीय शक्ति से हो कौतुक हास्य का नाटकीय रूप रहेगा।

असंगति तथा विरोधाभास सिद्धान्तों का पूर्ण आरोप हम उन कवियों की स्फुट रचनाओं पर भी कर सकते हैं जिन्होंने कहीं घनाक्षरी,[3] छप्पय,[4] सवैया[5] दोहे[6] तथा कुण्डलियों[7] का काव्य-माध्यम चुनकर हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। परन्तु इनकी संख्या नहीं के बराबर है इसीलिए वे महत्त्वपूर्ण भी नहीं।

हिन्दी काव्य में, हास्य की न्यूनता के कारणों की ओर सहज ही संकेत किया जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह हैं कि पद्य हास्य का सफल माध्यम नहीं है। काव्य की उन्नत भावना विशेषतः हमारे प्रचलित छन्दों में हास्य को कुंठित ही रक्खेगी। और पद्य रूप में वह केवल, जैसा हम पहले अपने विवेचन में स्पष्ट कर चुके हैं, अनुकरण काव्य का ही रूप लेगी। इसके साथ-साथ काव्य के ऊपर जो उत्तरदायित्व हम रखते हैं उसके सफल निर्वाह में हास्य बाधक होता है फलतः काव्य के माध्यम से हास्य का प्रस्फुटन अनुकरण-काव्य रूप में ही होता आया है और कदाचित होता भी रहेगा। यह

---

१. 'मुनिकर हित मम कौतुक होई, अवसि उपाय करब हम सोई'

२. 'जो जेहि मन भावै सो लेहीं, मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।
हँसे राम-सिय अनुज समेता, परम कौतुकी कृपा निकेता ॥'

३. बेनी बन्दीजन

४. वही

५. रसखानि

६. घाघ

७. गिरिधर कविराय

सिद्धान्त रूप में भी मान्य रहा है कि सभी देशों का आदि साहित्य काव्य रूप में ही अवतरित हुआ है जिसके फलस्वरूप हास्य का जन्म और विकास, साहित्य में, गद्य के जन्म और विकास की राह देखता रहा। कवियों ने अपने विचार प्रदर्शन के लिए पद्य का अनुशासन सहज ही शिरोधार्य किया था और वह साधारणतः इसलिए कि उसके द्वारा हमारी स्मरण-शक्ति काव्य की पंक्तियाँ सहज ही हृदयंगम कर लेती है[1]। प्राचीन कवियों ने पहले तो उपयोगी विषय तथा ललित विषयों पर रचनायें कीं और हास्य सम्बन्धी विषय न तो उपयोगी क्षेत्र में ही आये और न तो लालित्य के अन्तर्गत ही अभिमत हुए। काव्य ने अपनी दृष्टि मानव की उन्नत भावनाओं की ओर एकाग्र रक्खी। उसमें उन मानवी भावनाओं एवं विचारों को प्रश्रय मला जो मनुष्य को देवत्व की साधना में संलिप्त कर देतीं। चूँकि हास्य पिदार्थवादी वातावरण में ही समुन्नत हो सकता था, उसने देवत्व का सदा से ही विरोध किया और कदाचित् यही कारण था कि हमारे प्राचीन मनीषियों, कवियों तथा दर्शनज्ञों ने हास्य को गंभीर साधना का शत्रु ही ठहराया और उसके विकास में किञ्चित मात्र भी सहयोग न दिया। परन्तु हास्य की आत्मा ने एक कुशल शिकारी की भाँति काव्य-क्षेत्र में भी अपने शिकार ढूँढ निकाले। यही कारण है कि गम्भीर काव्य-क्षेत्र में, हास्य की आत्मा अनुकरण काव्य के माध्यम द्वारा अपना प्रतिशोध लिया करती है।

काव्य का युग समाप्त होते ही, आधुनिक काल में जब गद्य का अनेक रूपी विकास हुआ तो उसके साथ-साथ हास्य को भी नवजीवन मिला। गद्य ने उपन्यास, कहानी, लघुकथा, लेख इत्यादि के अनेक सहज माध्यम, हास्य प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत किये और हास्य ने अपनी मनोरंजक शक्ति का परिचय इन्हीं माध्यमों द्वारा दिया। नाटकों में, कहीं उसने विदूषक का साथ किया और नायक, नायिका एवं अन्य पात्रों को अपना प्रियजन बनाया। उपन्यास, कहानी और लेख में तो उसका पूर्णरूपेणविकास हुआ; और गद्य के इन अनेक क्षेत्रों में शाब्दिक हास्य, परिस्थिति मूलक, हास्य, उपहास, व्यंग्य, कटाक्ष, आक्षेप तथा परिहास के चित्ताकर्षक प्रदर्शन मिलेंगे।

हिन्दी साहित्य में हास्य की न्यूनता का एक विशेष कारण यह भी हो सकता है कि केवल आधुनिक काल में ही लेखकों ने पश्चिमी प्रभाव को व्यापक रूप में अपनाया। उन्नीसवीं शती तक, प्रायः पश्चिमी साहित्यिक प्रभावों को हम सशंक दृष्टि से देखते रहे, परन्तु आधुनिक काल के यातायात के सहज

---

१. देखिये—"काव्य की परख"

साधनों द्वारा संसार एक छोटा सा परिवार हो गया है और यह सम्भव नहीं कि हम एक दूसरे के प्रभाव से वंचित रह जाँय। कदाचित यह मानने में संकोच न होगा कि हिन्दी साहित्य में पहले पहल इन प्रभावों का आगमन बंगला साहित्य द्वारा ही हुआ। कुछ विशेष राजनीतिक कारण वश बंगला के साहित्य-कारों ने पश्चिमी साहित्य के ग्रन्थों का अनुवाद किया, उससे प्रेरणा ग्रहण की और उस प्रेरणा को अपने प्रान्त के साहित्य को उन्नत बनाने के लिए प्रयुक्त किया। बंकिमचन्द्र चटर्जी, द्विजेन्द्र लाल राय, कविवर रवीन्द्र, ऐसे लेखक हुए जिन्होंने पश्चिमी प्रभावों को अपने साहित्य में उचित स्थान दिया और हिन्दी साहित्य के विकास काल के लिए इन तीनों लेखकों की रचनायें वरदान सिद्ध हुईं। बंकिम बाबू के अद्वितीय 'लोक-रहस्य' द्विजेन्द्र लाल राय के 'सूम के घर धूम' अनुवाद और रवि बाबू के 'चिर कुमार सभा' में हमें हास्य रस के ऐसे अविरल श्रोत मिले हैं जिनके थोड़े बहुत सहारे से हिन्दी का आधुनिक हास्य साहित्य गतिशील तथा वेगवान हुआ। हिन्दी साहित्य के व्यापक उदाहरण हम अगले पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे।

हिन्दी साहित्य क्षेत्र में यदि हम हास्य लेखकों की सूची बनायें और उनकी रचनाओं से हास्य के अनेकानेक रूपों के उदाहरण एकत्र करें तो वह सूची काफी लम्बी होगी और उसके उदाहरण भी बहुत कुछ अंशों में कम व्यापक न होंगे। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं गद्य के विकास के साथ ही हास्य का विकास शुरू हुआ और जब हम हिन्दी गद्य का विकास काल भारतेन्दु युग से ही मानते हैं तो कदाचित् उन्हीं की रचनाओं में ही हास्य के कुछ रूपों का अनुसंधान अपेक्षित होगा। भारतेन्दु रचित 'पाखण्ड विडम्बन', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'प्रेम योगिनी', 'विषस्य विष-मौषधम्', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', अन्धेर नगरी' इत्यादि में हमें हास्य के आकर्षक उदाहरण मिलेंगे[1]। कहीं हमें भाषा के अनेक वैषम्यपूर्ण, निरर्थक

---

१. (क) 'पाखण्ड विडम्बन' : [श्रद्धा माता की खोज में निकली हुई दो बालिकायें,—शान्ति एवं करुणा—जैन, बौद्ध एवं शैव धर्म के समर्थकों एवं प्रचारकों की विडम्बना देखती हुई संतोष पाती है कि श्रद्धा माता श्री कृष्ण की भक्ति में लिप्त हैं]

[दिगम्बर सिद्धान्त वादी की भाषा मारवाड़ी का पुट लिए है तथा बौद्ध भिक्षु की भाषा तोतली है]

[कापालिनी की श्रद्धा दिगम्बरी से लिपटती है]

दिगम्बरी—[रोमाञ्चित होकर] अहा हा ! वाह रे ! कापालिनी-गल लगवा रो सुख; अरी सुन्दरी एक बार तो फेर गरे सूँ लपटि जा। (स्वगत) अरी ऐसी समय नागों रहिबो उचित नहीं [लंगोटी कसकर] अहा हा ! [मद्य विमुख बौद्ध भिक्षु को मदिरा की बोतल जब कापालिक की श्रद्धा द्वारा जूठी करके मिलती है तो उसका स्वाद उसके लिए सहस्र गुना बढ़ जाता है और उसे वह 'महा पछाद' तथा 'छुन्दल दुधिया' कहता है और अपना अपूर्व अनुभव घोषित करता है।]

भिक्षु—["आचालज ! इस मत में यह अचलज है कि बिना पलिछ्लम ही छब छिद्दि मिल्ती है"।

[दिगम्बर भी श्रद्धा द्वारा जूठी मदिरा पीकर कहता है;—"अहा हा ! वाहरे ! या मदिरा की मिठास; वाहरे स्वाद, वाहरे सुगन्ध, वाहरे मादकता।

कथा पुनरावृत्तिपूर्ण संकेतात्मक प्रयोग मिलेंगे जिसके द्वारा हास्य का सफल

अरे मैं तो अरहत के मत में रह्यो सो ऐसी मदिरा बिना बहुतही ठग्यो गयो'।

(ख) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'—

[मांसभक्षियों की प्रपञ्चपूर्ण लीला के अंतर्गत बंगाली निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित करता है]

बंगाली—'मच्छ तो कुछ माँस भक्षण में नहीं; इनकी उत्पत्ति जल से है, इस हेतु जो फलादिक भक्ष हैं तो यह भी भक्ष्य है'।

पुरोहित—'वाह ! भगवान करे ऐसी पूजा नित्य हो······आज की पूजा की कैसी शोभा थी; एक ओर ब्राह्मणों का वेद पढ़ना दूसरी और बलिदान वालों का कूद-कूदकर बकरा काटना, 'वाचन्ते शुधामि' तीसरी ओर बकरों का तड़पना और चिल्लाना, चौथी ओर मदिरा के घड़ों की शोभा और बीच में होम का कुंड, उसमें मांस का चटचटा कर जलना और उसमें चिर्राहिन की सुगन्ध का निकलना······'जिन हिन्दुओं ने थोड़ी भी अँग्रेजी पढ़ी है या जिनके घर में मुसल्मान स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आज़ाद हैं।'·········

राजा—'माँस भात को छोड़िकै का नर खइहै घास '।

मन्त्री तो बेसुध पड़े हैं।

मंत्री—'महाराज ! पुरोहित जी आनन्द में हैं; ऐसे ही लोगों को मोक्ष मिलता है।'

राजा—'ब्राण्डी को अरु ब्राह्म को पहिलो अक्षर एक।
तासों ब्राह्मों धर्म में यामें दोष न नेक॥'

(यमपुरी में)

चित्रगुप्त—'महाराज ! सरकार अंग्रेज़ के राज्य में जो उन लोगों के चितानुसार उदारता करता है उसको 'स्टार आफ इन्डिया' की पदवी मिलती है।'

यम—'बोलरे ब्राह्मणाधम ! तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है ?

पुरोहित—(हाथ जोड़कर) 'महाराज ! मैं क्या उत्तर दूँगा; वेद पुराण सब उत्तर देते हैं।...मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेन्द्रलाल के दानों लेख देता हूँ...आप चाहिए 'एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मगाकर देख लीजिए !'

मंत्री—'महाराज ! मैंने जितना धन बड़ो बड़ो कठिनाई तथा बड़े बड़े अधर्म से एकत्र किया है सब आपको भेंट करूँगा। मैं निरपराधी कुटुम्बी हूँ। मुझे छोड़ दीजिए।'

चित्रगुप्त—'अरे दुष्ट ! यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें

घूस देता है क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्ताओं की भाँति जंगल से पकड़ कर आये हैं।

(ग) प्रेम योगिनी

(मन्दिर का चौक)

पहला गर्भाङ्क

(दोनों भाई कभी साथ-साथ कभी आगे पीछे जाते हैं और मशाल उनके साथ है)

छक्कू जी—'मसाल काहे ले आये—मेहरारुन का मुँह देखइकै।'

बनितादास—'तोहरे सिद्धान्त से भाई साहेब हमरा काम तो नाहीं चलत।'

धनदास—'तबै न सुरमा घुलाय कै आँख पै चरनामृत लगाए हौ। जे में पलकबाजी खूब चलै।

बनितादास—-भाई साहब! अपने तो वैष्णव आदमी हैं। वैष्णविन से काम रक्खित है...कुछ कहै की बात नाहीं है' भाई मन्दिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी से महराज कब्बौ तो गाढ़ा तो पहिरैवै न करिहैं–मलमल, नागपुरी ढाकै पहिरहिहैं, अतर फ़ुलेल, केसर, परसादी बीड़ा चाभौ, सबसे सेवकी ल्यो। ऊपर से सब बातन का सुख अलगै है...अरे गुरु गली गली तो मेहरारू फिरतीं हैं...अब तो मेहरारू टके सेर हैं...

(दूसरा गर्भाङ्क)

परदेशी—(काशी माहात्म्य कहते हुए)

आधी काशी भाँड भडेरिया बांभन औ सन्यासी।
...   .
सिफारिशी, डरपोकने सिट्टू बोलैं बात अकासी।
करैं घाटिया वस्तर मोचन दे देकर सब झाँसी।
राम नाम मुँह से नहिं निकलै सुनतै आवै खाँसी।'

परदेशी—'तुमने क्या किसी का ठीका लिया है?'

झूरी—हाँ ठीका लिया है 'मटिया बुर्ज'।

गंगा—भैय्या! इनके दमसे चैन है। ई अमीरन कै खिलौना हैं।

सुधाकर—कहो यह नई मूरत कौन हैं?

झूरी—गुरू हम इहाँ भाँग का रगड़ा लगावत रहे। बीच में गहन के मारे-मारे पीटे ई धुँआकस आइ गिरे।

अश्लील तथा परिहास जनित हास्य के भी अनेक उदाहरण मिलेंगे ।

(च) विषस्य विषमौषधम्

'अरे खुशामद की भी कोई हद होती है । एक बादशाह ने हुक्म दिया बड़े बड़े खुशामदी लाओ । तीन आदमी हाज़िर किए गए । बादशाह ने पूछा,— 'खुशामद कर सकोगे ?'

पहला बोला—'हुजूर क्यों नहीं ।'

बादशाह ने उसे निकाल दिया । और दूसरे से पूछा—क्या तुम खुशामद कर सकोगे ? उसने कहा—जहाँपनाह ! जहाँ तक हो सकेगा !" बादशाह ने उसे भी निकाल दिया और तीसरे से पूँछा—"तुम खुशामद कर सकोगे ?" वह बोला—'गरीब परवर ! भला मेरी ताकत है कि हुजूर की खुशामद कर सकूँ ।'

बादशाह ने कहा—'हाँ, यह पक्का खुशामदी है !'

... ...

भला कहाँ हिन्दुस्तानी सिफारिशी दरबार कहाँ हम से पण्डित ! 'हरि संग भोग कियो जा तन सों तासों कैसे जोग करै ।'......कोई सुनने वाला तो हो— 'प्राण पियारे तिहारे बिना कहो काहि करेजो निकासि दिखाऊँ' । भाई ! कुछ कहना भी तो झक मारना है—पांसा पड़े तो दांव —राजा करे सो न्यांव ।

(ङ) भारत दुर्दशा—

आलस्य—'एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और उसी राह से एक सवार जाता था । पहिले ने पुकारा—भाई सवार ! यह पक्का आम टपक कर मेरी छाती पर पड़ा है जरा मेरे मुँह में तो डाल दो—सवार ने कहा—'अजी तुम बड़े आलसी हो । तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है, सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में आलस्य है । दूसरा बोला— 'ठीक है साहब ! यह बड़ा ही आलसी है । रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था, पर इसने न हाँका ।'

× × ×

'सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा'

× × ×

'अमीर के सर पर क्या सुरखाब का पर रहता है । जो कोई काम न करे वही अमीर ।'............

भारतेन्दु में कवि, नाटककार, पत्रकार तथा सुधारक की विशिष्ट आत्मा निहित थी। कविकल्पना ने उन्हें हास्य को संकेतपूर्ण बनाने में सहयोग दिया; नाटककार की कला ने परिस्थिति तथा वक्रोक्तिपूर्ण संवाद द्वारा हास्य के

(पाँचवा अंक)

स्थान किताबखाना

[जितने व्यक्ति एकत्र हैं उनसे देश की रक्षा की अनुमति माँगी जाती है। बंगाली एक मत होने पर वक्तृता देता है और गोलमाल करने की सलाह देता है। एडीटर अपने सम्पादकीय, एजूकेशन कमेटी, स्पीचों के गोलों का ज़ोर दिखाता है। कवि 'मुये इधर न आइयो वाली' फिलासफी दुहराता है और योरोपीय वस्त्र पहिनने में बचाव समझता है। पुनः पाँच बंगाली मिलकर अंग्रेजों के निकालने की तदबीर बतलाते हैं—'एक पिशान लेकर स्वेज नहर पाटेगा; दूसरा बाँस काट-काट के एक यन्त्र विशेष बनायेगा; तीसरा जलयन्त्र से अंग्रेज़ों की आँख में धूल और पानी डालेगा।]

[परन्तु डिसलॉयल्टी के आते ही दो एक को छोड़ कर सब भागते नज़र आते हैं।]

(च) अन्धेर नगरी

कबावबवाला, चनेज़ोरवाला घासीराम, हलवाई, कुंजड़िन, पाचकवाला, जातवाला इत्यादि का अपनी अपनी बोली में अपनी चीज़ों के वर्णनात्मक ढंग द्वारा शाब्दिक हास्य प्रस्तुत होता है जिनमें वक्रोक्ति के बहुल उदाहरण मिलेंगे।

(क) मुगल : 'ले हिन्दुस्तान का मेवा—फूट और बैर।' 'इस नगर में राजा के न्याय के डर से कोई मुटाता ही नहीं।'

(ख) (स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से) राजा—'राजा के आछत और कौन स्वर्ग जा सकता है।'

(ग) सेवक—'पान खाइये महाराज'।

राजा—'क्या-कहा ? सुपनखा आइए महाराज' !

मंत्री—'नहीं, नहीं, यह कहता है 'पान खाइए महाराज'।

फरियादी—दोहाई है महाराज ! दोहाई है ! हमारा न्याय होय !

राजा—तुम्हारा न्याय यहाँ ऐसा होगा कि जैसा यमके यहाँ भी न होगा। बोलो क्या हुआ ?'

राजा—'क्यों बे बनिये, इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दब कर मर गई ?

मंत्री—'बरकी' नहीं महाराज 'बकरी'

× × ×

अनेक आधार ढूँढ निकाले; पत्रकार की तीक्ष्ण-दृष्टि द्वारा उन्होंने सत्य की गति सहज ही पहिचानी और व्यंग्य का सफल प्रयोग किया और अन्त में सुधारक के उत्साह ने उन्हें उपहास का बहुल प्रयोग करने पर बाध्य किया। यों भी कुछ विचारकों ने हास्य को समाज सुधार का सफल साधन घोषित किया है और अनेक उदाहरणों के बल पर यह सांकेतिक रूप में कहा जा सकता है कि यदि भारतेन्दु हास्य-रस का विश्लेषण एवं विवेचन करते तो उन्हें भी हास्य के इसी तत्व विशेष की ओर आकर्षण अधिक होता। कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में अशिष्ट एवं अश्लील हास्य की भी छाया दृष्टिगत होगी जिसके दो विशेष कारण कदाचित हो सकते हैं। पहला कारण तो यह हो सकता है कि भारतेन्दु स्वयं अत्यन्त रसिक व्यक्ति थे और शृङ्गार के पुजारी तथा साधक भी थे फलतः जहाँ जहाँ इस सन्दर्भ में हास्य प्रसार के अवसर आए लेखक के नाते अशिष्ट तथा अश्लील का लोभ संवरण न कर सके। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है उनमें सुधार की प्रेरणा बहुत मात्रा में थी और देश-प्रेम, मातृ-भाषा

राजा—(चूने वाले से)—अच्छा इस चुन्नीलाल को निकालो भिश्ती को बुलाओ! (भिश्ती आता है)
'क्यों बे भिश्ती! गंगा जमुना की किश्ती। इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

× × ×

राजा—'कोतवाल को पकड़ लाओ'! (कोतवाल आता है) 'क्यों बे कोतवाल! तैने सवारी ऐसे धूम से क्यों निकाली कि गड़िरिये ने घबराकर बड़ी भेड़ बेंची जिससे बकरी गिर कर कल्लू बनिया दब गया।

× × ×

(छ) नीलदेवी

(क) चपरगट्टू—'मैंने कहा जान थोड़े ही भारी है; यहाँ तो सदा भागतों के आगे मारतों के पीछे हैं! ज़बान की तेग़—कहिए दस हज़ार हाथ मारूँ।'

× × ×

(पागल का प्रलाप में अनेक निरर्थक शब्दों की पुनरावृत्ति द्वारा हास्य प्रदर्शन का प्रयास किया गया है)

(ख) 'तुरुक, तुरुक, तुरुक; घुरुक, घुरुक, घुरुक; मुसक, मुसक, मुसक; फुसक, फुसक, फुसक; याम-श्याम, लीम लाम; लाम-दाम! बन्दर की थैली में चूने की दूकान; मियाँ की दाढ़ी में दोजख़ की दूर।'

प्रेम, शिक्षा-प्रेम की आतुरता इतनी अधिक थी कि जो भी उनकी इन भावनाओं का विरोध प्रस्तुत करता उपहास का शिकार बन जाता और उपहास तथा अशिष्ट और अश्लील दोनों का सम्बन्ध दूरस्थ नहीं। उपहास अशिष्ट का आवाहन करता है और अशिष्ट का अश्लील में कुछ न कुछ पारिवारिक सम्बन्ध सतत दृष्टिगत होगा।

केवल शाब्दिक हास्य के लिये, जहाँ सुधार की भावना इतनी तीव्र नहीं, और जहाँ चलते-फिरते विषयों पर दृष्टि एकाग्र करके हास्य प्रदर्शन की चेष्टा की गई हमें पं० प्रतापनारायण जी मिश्र की रचनाओं[1] की ओर संकेत करना होगा। मिश्रजी के हास्य का मूल आधार शब्दों की नूतन परिभाषा[2]; शब्दों की सरल पुनरावृत्ति, शब्दों की ध्वनि एवं प्रयोग की व्याख्या, तथा बैसवाड़ी हिन्दी का प्रयोग रहेगा। उन्होंने कुछ ऐसे प्रचलित शब्दों को, कभी-कभी अक्षरों को शीर्षक रूप में रख उनपर हास्यपूर्ण लेख लिखे और एक ही शब्द को कलाबाज़ियां खिला कर सफल हास्य-प्रदर्शन किया। उनके प्रहसन में परिस्थिति, काव्य में अनुकरण-काव्य तथा लेखों में शब्दों के अर्थ-विवेचन द्वारा सफल हास्य प्रवाहित हुआ है। हास्य का विशेष प्रवाह कदाचित खड़ी बोली युग में बैसवाड़ी भाषा के प्रयोग द्वारा विशेष हुआ है जिसकी परख हम अपने पहले निर्धारित सिद्धान्त पर सहज ही कर लेंगे। इन हास्यपूर्ण रचनाओं में खड़ी बोली के शिष्ट वाक्य-विन्यास में पड़ कर बैसवाड़ी हास्य-प्रसार में सहयोग देने लगता है।

हास्य की यही साहित्यिक परम्परा हमें बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं में भी मिलेगी। भट्ट जी भी राष्ट्रप्रेमी, मातृभाषा प्रेमी, पत्रकार तथा सुधारक थे।

१—क. 'जुआरी-खुआरी प्रहसन'; कलिप्रभाव; तृप्यन्ताम; मानस विनोद; देहाती कविताएँ 'निबंध-नवनीत' (लेख-संग्रह)

२. 'कलि कोष' (लेख)

'कचहरी'—'कच' माने बाल और 'हरी' माने हरण करने वाला; अर्थात् मुण्डन 'उलटे छूरे से मूँड़ने वाली। 'बकील'—ब; कील; जो सदा कलेजा में खटके अथवा बंग भाषा में ब—की: क्या है; अर्थात् तुम्हारे पास क्या है लाओ।

'दाँत'; 'आप'; 'भौं'; 'ट'; 'ट'; 'हमारे उत्साहवर्धक'; 'होली है'; 'इनकम टैक्स'; 'बिलायत यात्रा'; उर्दूबीबी की पूँजी' इत्यादि में शाब्दिक हास्य एवं व्यंग्य की परम्परा का दर्शन होगा। वर्णन एवं लेख की इस नवीन शैली में शब्दों, वाक्यांशों तथा विचारों के उलट फेर, पुनरावृत्ति, तथा नवीन अर्थ में प्रयुक्त शब्दों द्वारा हास्य प्रस्फुटित हुआ है।

सुधार का आग्रह तो उनकी रचनाओं में कदाचित् सर्वोपरि दिखाई देगा और उस समय यह स्वाभाविक भी था। उनके विरचित नाटक[1],

---

१. (क) शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम (सं० १९६९)

(एक पतिव्रता स्त्री अपनी सच्चरित्रता तथा सुबुद्धि द्वारा अपने दुःश्चरित्र पति का सुधार एवं उद्धार करती है। कहीं-कहीं देहाती भाषा के नाटकीय प्रयोग द्वारा सफल हास्य की सृष्टि हुई है)

राधावल्लभ दास—'खूब चैन उड़े–तो यहाँ बिलाई के क्या भैंस लगती है' !

(नाइन छद्म-वेश धारण करने के बाद हास्य-प्रद वेष भूषा पर संवाद करती है)

'मुँह जैसे जरा चूल्हा; आँखी घुच्चू सी, तेह पर ई पाग से तौ अउरे हँसी छूटत है।'......

(प्रेम-संवाद की भूमिका का उदाहरण देती हुई नाइन कहती है)

'पहिले तोह से हम ई पूछब कि तोहार पेट काहे फूला बा। आज तू काहे की रोटी खाई है—बेर्रा की कि जुआर की—तुम कबहूं सांवा का भात खाए हो—एही तरह से और......।

(प्रेम-संवाद में दीक्षित होने के पश्चात् वह कहती है)

'पिरये ! जब ते तुम्हार रूप माधुलि नैनों देखा तब ते......

(पूछते हुए—और का कही)

(पुनः अभ्यास करती हुई)

पिरये तुम्हार बेरागिन हमार अन्तकरुना दध, दध, दध...

(पूछते हुए तब का कही) 'भाई हम तौ भूल गइन।'

(प्रेमी रूप में नाइन का छद्म-वेश, राधावल्लभ का सास का छद्म-वेश, तथा रसिक लाल की सम्पूर्ण सुव्यवस्था द्वारा हास्य का सफल प्रसार हुआ है)

(वारविलासिनी की प्रशंसा द्वारा अश्लील हास्य का जन्म होता है)

मदिरा की बोतलों की ओर संकेत करते हुए—'हमें दै न दो—कल हमारे बाप का मासिक श्राद्ध भी है।'

'आपने तो पहले ही......उसे कुछ चुग्गी दे रखना था'। 'रोज सुरुआ खाने की बान उनकी पड़ी है। (अश्लील संकेत)

पतिव्रता अपने गिरने का कारण स्पष्ट करती हुई कहती है—'मिसराइन तो रही नहीं; हमी थाली लेकर झपट कर चली; राह में गौ बँधी है : मुतहरी में बिछला के गिर पड़ी।'

लेख-संग्रहों' इत्यादि में इसमें मूलतः परिस्थितिमूलक हास्य के अन्तर्गत

रसिक बिहारी की उपेक्षिता पत्नी मालती नाइन से उसके पति के संबंध में पूछती है—"कहीं कोई दूसरी ठौर उसका लगाव बझाव तो नहीं है ?"

नाइन—"दीदी की बात ! भला मजूरा मनई ऊ ई सब बात का जानै—ऐसा होत तो बाम्हन, छत्री के बीच में रहना ठहरा, कैसे निबाह होत ।"

मालती (हताश होकर) 'वह परेतिन तो दिन-रात उन पर चढ़ी रहती है। उसके उतारने का तो कोई उपाय ही नहीं।'

मालती—(वशीकरण प्रयोग पर टिप्पणी करती हुई) भला भवा जो कहीं दूध पी लेता और इतना बड़ा कछुआ पेट में पैदा हो जाता तो वह बिचारा मर ही जाता। बसीकरन तो एक ओर, मांग का सेंदुर भी गवा रहा।

रसिक—(घर पर देर से आने की बात का खण्डन करते हुए) 'घड़ी 'रांग' है।'

मालती—घड़ी रांग काहे का—तुम्हें जो रंग चढ़ा है सो है।

रसिक—(वेश्या गमन के दोष को छिपाकर सूचना देते हैं) 'आज बड़े महावीर का श्रृंगार था; सो दर्शन को गए थे।'

मोहिनी—(वेश्या का छद्म वेश रखे) 'जिस मुए से जी न मिलै वह चाहे कोट जतन करे उसका सब कुछ ऐंठ निबुआ नोन चटाय दे।'

(छद्मवेशी माँ से) तुम्हारे ऊपर हम तन, मन, धन जो कुछ कहौ सब वारि डारै; तुम तो हमारी माँ हो। तुम्हारे पेट से तो हम पैदा भई हैं—हा; हा; हा। जब तक तुम जीती हो हमारे बाप का नाम तो बनाए हो।

१. 'निबंधावली'—

(क) परम्परा (लेख) १९०४

'यह पावन श्रुति, स्मृति, धर्म-शास्त्र, 'मन्वत्रि विष्णु हारित' आदि अठारहो स्मृतिकारों की दिमाग की चटनी का एसेंस है।'

बड़े-बड़े नामी देश-हितैषी, संशोधक और रिफार्मर सिर धुना किए इसके पीछे पड़ मर गए, खप गए; पर इस परम्परा के हटाने में कुछ असर न पहुँचा सके। 'इसे रोकने में सुशिक्षित नौ जवान कितनी ही कूद-फाँद मचाते हैं किन्तु घर की पुरानी बुढ़िया ने जहाँ एक बार डाँट के 'दुर मुए' कह दिया तहाँ सब जोश उतर गया।'

शाब्दिक हास्य के अनेक स्पष्ट उदाहरण मिलेंगे ।

(ख) 'काल का चक्कर' (१९०३)

'यह किसी ने न समझा कि अन्तक देव ने एक बड़ा भारी कालेज खोल रखा है सर्वविद्यापारंगत इनको वहाँ का प्रोफेसर किया चाहते हैं ।'

'जिनके मिजाज़ कुतुबमीनार की ऊँचाई तक चढ़ गए थे अब कौड़ी के तीन-तीन हो गए हैं ।'

'हमारे धूर्त शिरोमणि इसी पर जोर दे रहे हैं कि ब्राह्मणों का मान और हिन्दू धर्म पर विश्वास उठता जाता है उसी का यह फल है ।'

'इसको संसार-इंजिन का सबसे बड़ा इन्जिनियर अपने हाथों में रखे हुए है ।'

(ग) 'संसार कभी एक सा न रहा' (१८९२)

(टूटे हुए दाँतों का वर्णन) 'मुख के भीतर थोड़ी-थोड़ी दूर पर मानो विंध्य-पर्वत का एक एक खड्डा सा खड़ा कर दिया गया ।'

'जो बात एक बार के कहने या सुनने से अक्लि की सराय में मानो सदा के लिए टिक गई थी, उसे रूठे पाहुने की भाँति बार-बार बुलाते हैं, घोखते हैं पर सिवाय उच्चट जाने के बुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नही ।'

'शरीर समथर मैदान में जगह-जगह टीले से खड़े हो गए' ।

'इस समय की विद्यानिधि दाल में नमक की भाँति मालूम होती है' ।

घ. "ईश्वर भी क्या ही ठठोल है ।" (१८९३)

'वह या तो कुंभकर्ण का जेठा भाई बनने की हविस बुझाय रहा है······या जागत है तो कोई बड़ा ही ठठोल, दिल्लगीबाज़ मसखरा है ।'

ङ. 'दिल बहलाव के जुदा-जुदा तरीके' (१८९६)

'हा हा, ठी ठी, धौल-धक्कड़ का मौका न मिला तो बेजड़ बुनियाद, जी उबियाऊ कोई दास्तान छेड़ बैठे ; घण्टों तक उसी में समय बिताय घर की राह ली—दिल बहल गया ।'

'घर-गृहस्थी के सब काम पिसौनी-कुटौनी से छुट्टी पाय जब तक दाँत न किर्र लें और आपस में झोंटी-झोंटा न कर ले तब तक कभी न अघांय······ मानो उस दिन उन्हें उपवास हुआ ।'

'बाज-बाज नौसिखिए, नई रोशनी वाले जिनका किया धरा आज तक कुछ नहीं हुआ मुल्क की तरक्की के खब्त में आय इस सभा में जाय हड़ाकू मचाया, कल उस क्लब में जा टांय, टांय कर आए दिल बहल गया ।'

'कोई कोई घाऊ-घप्प गुरू घंटाल किसी क्लब या समाज के सेक्रेटरी बन बैठे और सैकड़ों रूपया वसूल कर डकारने लगे। भाड़ों की नकल, सवारी की सवारी, जनाना साथ, आमदनी की आमदनी दिलबहलाव साथ में।'

च. 'उपदेशों की अलग-अलग बानगी' (१८९४)

(पादरी साहेब बाजार में खड़े उपदेश देते हैं) 'न कुछ दान का काम, न तपस्या की जरूरत, न बड़े-बड़े संयम नियम से शरीर सुखाने की आवश्यकता है। उमदा से उमदा शराब पिया करो, देह को आराम और सुख पहुँचाने में कहीं से कसर न होने पाये। सिर्फ ईसा पर ईमान लाओ, मुक्ति तुम्हारी दासी और किंकिरी होगी।'

'जप्पल बुढ़ियाँ ये उपदेश देती हैं बेटा अब तुम सयाने भये, घर दुआर की फिकिर रखा करो, दुलहिनिया की नथिया टूट गैहै, बतसिया का ब्याह नियरान है; फक्कड़ बने रहे से काम न सरिहे।'

'घरवाली समझाती है—हम सौ-सौ बार कहा सास-ननद की बात हमसे सही न जाई; हमै अलग लैके रहो—न बाप, न भैया, सबसे बड़ा रुपैया।'

छ. 'नाम में नई कल्पना'

(लेखक बेतुके नामों को हास्यास्पद प्रमाणित करता है) 'जुग्गो, पग्गो, भग्गो, बत्तसो, गट्टूमल, मिट्ठूमल' (अथवा मुखन्नस नाम) 'राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशंकर; (आधे मुसलमान) 'नवाब बहादुर', रामबख्श, कुँवर बहादुर।'

ज. 'मेला-ठेला (१८९९)

'दो घड़ी रात रहते भोर ही खूब सज-धज पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति तेल और पानी से बदन चुपड़ घर से निकल चल खड़े हुए। मेला क्या देखने गए अपना मेला औरों को दिखाने गए।......माँस का लोंदा थूहा सा रख दिया गया। किस मतलब से गढ़ा गया कौन बतला सकता है। कुम्हार का बर्त्तन होता बदल लिया जाता।'

'अब यह दूसरे कौन आए...जरदी मुँह पर छाई हुई, सीकिया पहेलवान क्यों हो रहा है......कुन्दे ना तराश यह दूसरा इसके साथ कौन है—नरकू महराज के सगे नाती—अक्षर से कभी भेंट नहीं हुई हैं—कौन काम है? न हम पढ़े न हमारे आजा। पढ़े-लिखैं क्या सुआ-मैना है—पढ़ा-लिखा तू पंच।'

'लूलू है, जाने दो इस मुकन्दर को। लो इधर ध्यान दो—छल्लेदार बालों में तेल टपकाता हुआ, पान के बीड़ों से गाल फूला मानों बतौड़ी निकाली हो,

आड़ा तिलक, मुँह चुचुका, आशिक तन, हिमाकत, नज़ाकत, शानो-शौकत में लासानी। घर में भूंजी भांग नहीं; पर बाहर मानो दूसरे नवाब वाजिद अली। ओ खिलौने वाले! बाबू साहेब को खिलौना दे। चटुआ भी तेरे पास है? दे बाबू साहेब को। चटुआ चाटेंगे।'

झ. 'नये तरह का जनून'

(अनेक सुधारक-संस्थाओं पर व्यंग्य—आर्य समाज, स्त्री-शिक्षा प्रचारक, विधवा-विवाह प्रचारक, इंगलिस्तान यात्री)

'इन्होंने राडों की भाँति जो चरखा शुरू किया कि गाते ही जाते हैं। पुराण सब गप्प है; वेद में यावत सायंस और विज्ञान उसकी नस-नस में भरे हैं...... किसी को औरतों की तालीम सवार है; कोई विधवाओं के विवाह में गड़गाप है......कमसिनी का ब्याह मुल्क से उठा दिया जाय, बस देश उन्नति के शिखर पर एक बारगी छलांग मार उछल कर चढ़ जाय—किसी सत्यानासी को विलायती यात्रा सवार है।'

१. 'मिस्टर व्यासकी कथा' (आनन्द सम्पादक)

(लेखक अनेक मित्रों के परिवार का परिचय व्यंग्यात्मक एवं हास्यास्पद शैली में देता है। कहीं वह 'लालाजी तथा पुरोहित की हाथा-पाई', कहीं 'विगुलधर का लेक्चर'; 'भाड़ों के स्वांग' तथा कहीं होली के स्वांग का आकर्षक एवं हास्यपूर्ण वर्णन करता है।)

क. 'हम अपने मित्रों के बीच में मेरा-तेरा' शब्दों का व्यवहार करके व्याकरण की टाँग नहीं तोड़ते हैं और परम वेदान्तियों के सिद्धान्तानुसार सबका माल अपना ही समझते हैं।'

'पहिले तो हम बहुत दिनों तक गुरुजी की टकसाल में पहाड़ी तोते के समान पहाड़ों का रटन्त करते रहे...तब हमारे शुभचिन्तकों ने हमको हिन्दी के खेत में छोड़ा...इसमें हम बहुत चरे।...तब संस्कृत के खेत में जोते गए और झुटैया बाँध कर ऐसी रटन्त के घिस्से लगाए कि हमारी जिह्वा हमारी होने के कारण बबड़ा उठी। बीबी उर्दू और हमसे बहुत साबका रहा पर पटी नहीं। इधर औलाद पर औलाद होने लगी और बाल्य-विवाह की परम कृपा से हमारे घर में फौज का सामान हो गया! इसी बीच ज्येष्ठ पुत्र नौ वर्ष का हो गया और निरक्षर भट्टाचार्य का छोटा सा नमूना बनने लगा। पर करते क्या? आप पढ़ते कि उसको पढ़ाते। हमको अंग्रेजी गिटपिट बड़ी अच्छी लगी और हम दोनों बाप-बेटे ए० बी० सी० डी० में भरती हुये। कालेज के पुस्तकालय को

के साथ-साथ प्राचीन शिक्षा प्रणाली को उन्होंने व्यंग्य का शिकार बनाया;

हम दीमक होकर चिपटे रहे पर गरीबी की फटकार ने वहाँ भी हमको न रहने दिया।'

'हमारे लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम इन चारों में मिष्टराश्रम और बढ़ गया और हम आश्रमों का पूरा पंचामृत पान करने लगे।'

'हम किसी मित्र की हाँ में हाँ मिलाने की मुसाहबत नहीं करते हैं और इस कारण हमारे भाग्य में मरभुखों को सोहबत बदी है। साल में एक दिन भी दावत कर सौभाग्य नहीं होता और उलटे मित्रगण घर में ऐसा धन्ना देते हैं कि घर के सब बर्तनों को अंग्रेज़ी राज्य की हिन्दू प्रजा बना देते हैं। इस बात से हमको तो कष्ट नहीं होता पर गृहलक्ष्मी की क्रोधाग्नि की आहुति बराबर होती रहती है। यदि हमारा डील-डौल भीमसेन का छोटा भाई न होता तो हम खल्वाट होकर अमीरी का चिन्ह बन जाते।'

'इनकी 'आज' कई वर्षों में होती है और 'कल' का हिसाब बड़े हिसाब से निकलता है, और इनकी 'परसों' को तो काग-भुसुण्डि के सिवाय किसी के भाग्य में देखना ही नहीं बदा है।'

'लाला एकादशी के दिन घर भर को निर्जल कराते थे और उस दिन चूल्हे को बड़े दिन की छुट्टी दिया करते थे : वह कहते थे—'फ़ाका करके जो बचाया जाय वह पैदा करने के बराबर है।'

'शक्कर का खाना वह ऐसा व्यर्थ समझते थे कि उनके घर में चींटियाँ भी उसके स्वाद को भूल गई थीं। जब अछनू बाबू का जन्म हुआ तब वैद्य के कहने से उनको दूध में शक्कर दी जाने लगी थी। इसका भी सरल प्रबन्ध कर लिया था। आप महाबीर जी के मन्दिर में जाकर उनके मुँह से बताशे नित्य खुरच लाते थे और भक्ति, शंकरा, बालक की आयु—तीनों का फायदा होने से अपने इस काम को त्रिवर्ग के लाभ के समान समझते थे।'

'एक अंगे में वह साल भर काटते थे; जूते को यहाँ तक आदर से रखते थे कि पानी में कभी छूने नहीं पाता था। बरसात में वह प्रायः उपानह को अपनी बगल में रहने की प्रतिष्ठा देते थे।'

ख. 'होली की महफिल'

'यह जन्म के वैश्य, कर्म के कायस्थ, नाम के नामर्द और बातों के मर्द बन कर निकले।'

'उसी जोश में लाल पोशाक डाट कर सुग्रीव की सेना में बावर्ची से बने

मित्रों के पेटूपन को हास्यास्पद प्रमाणित किया और श्लेष-पूर्ण सवांद द्वारा हास्य की सफल सृष्टि की । उन्नीसवी शती की हास्य-प्रसारक परम्परा का भी,

---

इधर-उधर निमन्त्रण देने पर उतारू हो गए । अश्व ऐसे तैयार थे मानो कब्र-स्तान से खुदा के घर की डाक पर मुकर्रर थे । टिक-टिक की तार लगाई गई......घोड़े अड़ियल टट्टू का खिताब पाने के लिए अपनी कवायद दिखलाने लगे ।'

(भँग-पार्टी में श्लेषपूर्ण संवाद)

लाडले—'आप मुझे इन भंगियों के जलसे में कहाँ ले आए ?'

नब्बन—'घबड़ाइए नहीं, पंजा आपको ही मिलेगा ।'

लाडले—'देखिए नब्बन साहेब, आपका जोड़ा कोई बदलकर न ले जाय ?'

नब्बन—'यह जोड़ा मिलाने में आपने बड़ी मेहनत की होगी ।'

लाडले—'आप भी अच्छा बनाते हैं ।'

नब्बन—'अगर आपके पूरा हो जावे तो ऐन खुशी की बात है ।'

लाडले—'अबकी बार हमारे यहाँ भुट्टे बहुत पैदा हुए हैं; आपके शहर में लाए जायँ तो शायद आपका बड़ा मतलब निकले ।'

नब्बन—'आपकी छोटी और बड़ी जुआरों की यहाँ खपत हो जायगी'—
(फिर भांडों का गाना; आपस की धौल धप्प; टट्टुओं की चाल; डण्डे का प्रहार इत्यादि तत्पश्चात् अट्टहास)

ग. 'नकल'

लाला—'अरे काह धमाको भयो ?'

मियाँ—'कुछ नाहीं—ललाइन हैं !'

लाला—'का चोट आ गई—का भयो ?'

मियाँ—'ललाइन गिर पड़ीं ।'

लाला—'अरे को गिरो ?'

ललाइन—'गिरौ नाहीं रपट परयो ।'

लाला—'चोट-ओट तो नाहीं लागी ?'

ललाइन—'चोट तो नाहीं लाग—'करिहांउँ टूट गयो ?'

घ. 'दिवाली की मिठाई'

'जिस दिन से यहाँ के निवासी लंगूरी चाल में दीक्षित होकर बापदादा को बेवकूफ पुकारने का मन्त्र सीखने लगे, उस दिन से देश में पूरा आनन्द छा गया है ।'

जिसमें कहीं-कहीं अश्लील का स्पष्ट संकेत था और जहाँ अशिष्ट पर निषेध नहीं था, दिग्दर्शन हमें इन रचनाओं में होगा परन्तु इसके कारण की ओर हम पुनः संकेत इसलिए करना चाहेंगे कि इसकी आवश्यकता उस समय अधिक थी। देश में निरक्षरता का साम्राज्य था; विदेशी प्रभाव बुरी तरह अपनाए जा रहे थे; प्राचीन शिष्ट एवं उपयोगी परम्पराओं की ओर से समाज विमुख हो रहा था और अश्लील तथा अशिष्ट हास्य का प्रयोजन यही था कि पाठक की विरक्ति उस ओर और गहरी हो जाय। सुधारक का उत्साह सहज ही अश्लील एवं अशिष्ट से आकर्षित हो जाता है : सुधारक का क्रोध अश्लील का सहज सहगामी भी हो जाता है।

सुधार की भावना से प्रेरित हास्य-प्रसारक लेखक पं० नाथूराम शंकरशर्मा, की रचनाओं में (पद्य एवं काव्य) हास्य का सफल प्रसार शाब्दिकरूप में बहुलता से हुआ है। विषय है सामाजिक और हास्य है—शाब्दिक[1]। पद्यरूप

'इनकी कमजोरी और डरपोकपन देख कर श्रीमती प्लेग ने इनको बिल का चूहा ही समझ लिया और व बिल्ली भी नातेदार बनकर गरीब देशवासियों का शिकार करने लगी।'

'घर में चूहे निर्जला एकादशी का सामान कर डण्ड पेलते हैं पर बाबूगिरी एक बूँद भी कम नहीं हुई।'

१. 'शंकर सर्वस्व'

'राम-रुपैया'—

'जग में सबसे बड़ो रुपैया—जानो याहि राम को भैया'।
प्यारो रूप राम को कारो—याको रूप करे उजियारो।
राम देह त्यागे पर तारे—यह जीवत ही संकट टारे।
यह चोखो चांदी को जायो—चिलक चन्द्रमा सौ बनि आयो।
या बिन जोरू मारे जूते—कहे न लायो नाज निपूते।

'कंजूस-रोगी'—

'बीते दिवस महा दुख पाय—मरे न कौड़ी खरची हाय'।

'रेलवे देवी'

'जय देवी सबकी सुखदाता, जय वाहन कुल की गुरु माता।
पल-पल की करतूति विभूती, सूचित करै दामिनी दूती।
सुन तेरी कठोर किलकारो, दौड़े—पंडा, दास, पुजारी।
दिन में स्वागत-सूचक झण्डी, रजनी में प्रकाश की हण्डी।

में होने के कारण हास्यपूर्ण तुकों, पुनरावृत्ति, तुलनात्मक-भावों, तथा समस्या

रुण्ड विसार मुण्ड मुख फारे, सुड गजानन की जल डारे।
सीस मिले धड़ सों पी पानी, छांड़े स्वास शेष की नानी।
धूमावती धमारों खोले, फक्क, फकाफक, फक फक बोले।
भारत के लदुआ व्यापारी, तेरे भक्तन के बेगारी।'

'दोहावली'

तन मोटो मोटे चलन धन मोंटो घर मांहि,
मति के मोटे सेठ जी कहां मुटाई नांहि।
माला सटके सेठ जी, पाय धरा धन धाम,
लिया राम का नाम पै दिया न एक छदाम।
चिलम चढ़ाई चरस की चट चूंसी ललकार,
जागी ज्वाला जोगिनी धार धुआं की धार।
तापत हो दिन रात क्यों नागर जी मल-खेह,
पूरौ तप कर लीजिए धर धूनी में देह।

बाल ब्रह्मचारी हम सब है, सहते नहीं मार की मार
नर के कण्ठ नहीं लगते हैं, करते नहीं नारि पर प्यार।
कोइ नृप होय हमे का हानी, इसपर करबैठो विश्वास,
चेरि छांड़ि नहीं होउब रानी, कह गए बाबा तुलसीदास॥

'भारत और विलायत'

'तू अति रंक, विलायत रानी
तू कारो वह गोरी है।
तू नाचे वह तोहि नचावे,
तू कठपुतरा वह डोरी है।
तू आलस ऊजड़ को उल्लू,
वह साहस चन्द्र चकोरी है।
तू परिताप तेल की पीपा
वह सुख रस भरी कमोरी है।
तू साहब शंकर को माने
वह गिरिजा की मिस भोरी है।

पूर्तियों में संगत एवं असंगत विचारों की आश्चर्यपूर्ण समुपस्थिति द्वारा व्यंग्यात्मक हास्य प्रस्फुटित हुआ है। लेखक ने सुधारकों, काहिलों, तुकबन्दी लेखकों, पाखण्डियों, फैशनग्रस्तयुवाओं; रूढ़ि के पोषकों इत्यादि को विषय-रूप रखकर शाब्दिक हास्य को ही साधारणतः स्पष्ट किया है।

परिस्थिति मूलक तथा शाब्दिक एवं परिहासात्मक हास्य के अत्यन्त सफल उदारण हमें कुछ बँगला साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों[1] में मिलेंगे और ये अनुवाद-रूप में हिन्दी क्षेत्र में आ चुके हैं। यद्यपि ये अनुवादरूप हैं परन्तु जो मुहावरे और शाब्दिक प्रयोग किए गए हैं उनमें हिन्दी भाषा की आत्मा पूर्णतः सुरक्षित है और इन्हें यदि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत विशिष्ट स्थान दिया जाय तो कोई हानि नहीं। जैसा हम पिछले प्रकरणों में स्पष्ट कर चुके हैं परिस्थिति-मूलक-हास्य-क्षेत्र विशेषतः नाटक और मूलतः प्रहसन ही रहेंगे और वहीं हमें इनके अपूर्व उदाहरण मिलेंगे। द्विजेन्द्रलाल के 'पुनर्जन्म'[2] प्रहसन के प्राक्कथन से स्पष्ट है कि हास्य का उद्देश्य मानव-चरित्र का सुधार है और निष्ठुर हास्य इसमें विशेष सहयोग देता है। निष्ठुर हास्य में व्यंग्य तथा उपहास की ही मात्रा विशेष रूप में रहेगी। इसके विपरीत हमें बंकिम चन्द्र

'कुमाता की लोरी'

प्यारे पीट बहन भाई को, पकड़ बुआ को, भौजाई को,
घेर घसीट चची ताई को, झटपट लहँगे फाड़ले
फिर तार तार कर चोली
हंस बोल मनोहर बोली
दे दे गाली कुनबे भर को, नाच नचाले सारे घर को
ठोंक सगे बाबा शंकर को, निधड़क मूँछ उखाड़ ले
कर ठसक पिता की पोली
हँस बोल मनोहर बोली

---

१. द्विजेन्द्रलाल राय; बंकिमचन्द्र चटर्जी; रवीन्द्रनाथ टैगोर

२. द्विजेन्द्रलाल राय लिखित 'पुनर्जन्म' प्रहसन, अंग्रेजी भाषा के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य लेखक डीन स्विफ्ट के 'बिकरस्टाफ पेपर्स' के आधार पर लिखा गया और 'सूम के घर धूम' नाम के प्रहसन रूप में १९२० में पं० रूपनारायण पाण्डे द्वारा अनूदित हुआ। कथावस्तु, प्राक्कथन रूप में स्पष्ट है :

चटर्जी की रचना[1] में मूलतः परिहास के अपूर्व दर्शन होंगे। कदाचित् बंकिम चन्द्र चटर्जी ही ऐसे लेखक हैं जिनमें उपहास, व्यंग्य और श्रेष्ठ परिहास के स्मरणीय उदाहरण मिलेंगे। यद्यपि उनके विषय भी साधारणतः सामाजिक हैं, और यह स्वाभाविक भी है, परन्तु जिस परिहासपूर्ण दृष्टिकोण का परिचय उन्होंने दिया है वह अन्यत्र उसी रूप में कदाचित् ही अन्य लेखकों में दिखलाई पड़े। मानव-चरित्र की कमजोरियों; उसकी न्यूनताओं; उसकी दुखती रगों पर लेखक कहीं तीव्र व्यंग्य और कहीं सुमधुर परिहास की छटा विकीर्ण करता है। उसका समस्त व्यक्तित्व मानवता, करुणा, भ्रातृप्रेम, सहानुभूति से द्रवित रहता है। बंकिम चन्द्र ने मानव की व्यापक कमज़ोरियों[2] पर दृष्टि डाली और उसका अर्थ-मोह तथा विकृत दृष्टिकोण; नारी

साथ सब ले जायँगे, यों कह रहे थे सेठ,
ना खिलाएँगे न खुद भी खायेंगे भर पेट।
मौत का जामा पहिन तब 'हँसी' आई झूम,
निठुर बन कर लगी करने 'सूम के घर धूम'।

१. 'लोक-रहस्य' (१५ कहानियों का संकलन) अनुवादकर्त्ता कात्यायनी देवीदत्त त्रिवेदी (सं० १९७६)

२. 'लोकरहस्य'

(क) व्याघ्राचार्य बृहल्लांगूल (व्याघ्राचार्यों की सभा में बृहल्लांगूल का भाषण) 'इस समय सभ्यता की जिस वेग से उन्नति हो रही है उसे देखकर हमें विश्वास है कि हम बाघ भी एक दिन सभ्य जातियों के मुखिया बन बैठेंगे।' 'इस सुन्दरवन में बाघों में विद्या की चर्चा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है— हमारी यह अभिलाषा है कि हम विद्वान बनें क्योंकि आजकल विद्वानों की ही कदर है; सभी विद्वान बन रहे हैं, इससे हम भी विद्वान बनेंगे।'

'आप लोगों को मालूम है कि इसी सुन्दरवन में बृहल्लांगूल नामक एक बाघ रहते हैं—वे बड़े पण्डित हैं...उन्होंने मनुष्य चरित्र के सबंध में एक प्रबंध पढ़ना स्वीकार किया है :—

'मनुष्य का नाम सुनते ही किसी-किसी नए सभ्य की भूख जाग उठी; परन्तु उस समय 'पब्लिक डिनर' की सूचना न पाकर चुपके ही रह गए।'

'सभापति महाशय, बाघिनी बहनों और व्याघ्र-भाइयों':—

'मनुष्य एक प्रकार का दो पैरों वाला जानवर है; उसके पर नहीं होते इससे उसे पक्षी नहीं कह सकते परन्तु चौपायों से वह बहुत मिलता जुलता है। चौपायों में जो हड्डियाँ होती हैं वे मनुष्यों की भी होती हैं। इसलिए

की दासता तथा कपट इत्यादि सहज अवगुणों पर अपनी परिहासपूर्ण दृष्टि

मनुष्य को एक प्रकार का चौपाया कहना चाहिए; अन्तर यही है कि चौपायों की गठन की जो परिपाटी है वैसी मनुष्य की नहीं। केवल इतना ही अन्तर होने से यह उचित नहीं कि मनुष्य को दो पैरों वाला जीव समझकर हम उससे घृणा करें। पंडित लोग कहा करते हैं कि 'काल क्रम' से पशुओं के अवयवों में उत्कर्ष होता रहता है......इससे मुझे विश्वास है कि मनुष्य भी समय के प्रभाव से पूँछ वाला होकर धीरे-धीरे बन्दर हो जायगा...वास्तव में मनुष्य जाति जिस तरह अरक्षित है; बड़े-बड़े दाँत और सींग उसे नहीं मिले, चलने में सुस्त और स्वभाव में नरम है; उसे देखकर विस्मय होता है कि ईश्वर ने किस लिए उसकी सृष्टि की? बाघ जाति की सेवा करने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य मनुष्य जाति के जीवन का नहीं देख पड़ता।'

'जीविका का अर्थ है आहारान्वेषण-अर्थात् खाने पीने की चीज़ ढूँढना। बड़े-बड़े और सभ्य लोगों के आहारान्वेषण का नाम है जीविकार्जन और जो बड़े नहीं उनके आहारन्वेषण का नाम है-बदमाशी; उचक्कापन, भीख। धूर्तों के आहारान्वेषण का नाम है चोरी; बलवानों के आहारान्वेषण का नाम है डकैती; पर किसी-किसी पुरुष विशेष की डकैती को डकैती न कह कर वीरता कहते हैं। आप जब सभ्य समाज में बैठें तो इन नामों की विचित्रता को याद रखें; यदि आप ऐसा न करेंगे तो असभ्य कहलाएँगे।'

'मनुष्य जीव उभयाहारी है। वह मांस भी भोजन करता है और फल-मूल-का भी आहार करता है। बड़े-बड़े वृक्ष तो खा नहीं सकता पर छोटे-छोटे पौधें जड़ समेत खा जाता है। मनुष्य छोटे-छोटे पौधों का इतना शौकीन है कि उनकी खेती करता है और उन्हे एक घेरे में रखता है। इस तरह की रक्षित भूमि को बगीचा या बाग़ कहते हैं। एक मनुष्य के बगीचे में दूसरा मनुष्य चरने नहीं पाता।'

'मनुष्य फल, फूल, लता तो खाते ही हैं पर घास खाते हैं कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कभी किसी मनुष्य को मैंने घास खाते देखा नहीं परन्तु इस मामले में मुझे कुछ सन्देह है। गोरे मनुष्य और धनवान काले मनुष्य अपने-अपने बागीचों में घास तैयार रखते हैं। मेरी समझ में ये लोग घास खाते हैं! अगर ऐसा नहीं है तो बढ़िया घास के लिए वे इतनी तदबीरें क्यों करते हैं? यह बात मैंने एक काले रंग वाले आदमी से सुनी थी। वह कहता था कि देश का तो सत्यानाश हो गया। साहेब सूबा और

डाल कर सुमधुर हास्य का प्रसार किया ।

बड़े-बड़े लोग तो बैठे हुए घास खा रहे हैं। इससे एक प्रकार यह निश्चय है कि बड़े-बड़े लोग घास खाते हैं।'

'कोई मनुष्य जब बहुत क्रोधित होता है तब वह कहता है—क्या मैंने घास खाई है ? मैं जानता हूँ यह तो मनुष्य स्वभाव की बात है कि जिस काम को वे करते हैं उसे बड़े यत्न से छिपाते हैं—इससे जब वे घास खाने की बात से चिढ़ते हैं तब तो यह अवश्य मान लेना पड़ेगा कि वे घास खाते हैं।'

'मनुष्य पशुओं की पूजा करते हैं...घोड़ों को वे अपने घर में रखते हैं : भोजन देते हैं और उनकी देह साफ करते हैं। शायद घोड़ा मनुष्य-पशु से बड़ा है, इसी से पूजा जाता है। मनुष्य भेड़, बकरियाँ और गाएँ भी पालते हैं। गौओं के संबंध में इनकी एक बड़े ताज्जुब की बात देखी गई है। वे गाय का दूध पीते हैं! इसी कारण मनुष्य और बैलों की बुद्धि में सदृश्यता तो अवश्य है।'

'कुछ भी हो मनुष्य आहार की सुविधा के लिए गौओं, बकरियों, और भेड़ों को पालते हैं...मैंने सोचा है कि यह प्रस्ताव करूँगा कि हम लोग भी मनुष्यों की गोशाला बनवा कर मनुष्य पालें।'

'विवाह किसे कहते हैं यह बात आप सबको मालूम ही है—सबही बीच-बीच में अवकाश होने पर विवाह करते रहते हैं परन्तु मनुष्यों के विवाह में कुछ विचित्रता हैं। उनमें बहुत से लोग एक के संग जन्म भर के लिए विवाह कर लेते हैं।'

'कोश में लिखा है कि पूरी और लड्डू उड़ाने वाले, चालबाज़ी का व्यवसाय करने वाले आदमी को पुरोहित कहते हैं। पर सभी पुरोहित लड्डू नहीं खाते। अनेक पुरोहित मद्य और मांस खाते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो सर्व-भक्षी कहे जाते हैं...पूरी और मिठाई खाने से ही पुरोहित नहीं होता। वाराणसी नामक नगर में अनेक साँड़ हैं वे भी पूरी और लड्डू उड़ाते हैं; पर वे पुरोहित नहीं, इसका कारण यह है कि वे चाल बाज़ नहीं। यदि चालबाज़ और वंचक पूरी और लड्डू खाय तब ही वह पुरोहित हो सकता है।'

'पौरोहित विवाह में इसी प्रकार का एक पुरोहित वर और कन्या के बीच बैठता है, बैठ कर कुछ बकता रहता है। ऐसे बकने को मंत्र कहते हैं। उसका मतलब तो मैं नहीं जानता पर मैं भी पण्डित हूँ और मैंने इसी से इन मन्त्रों का अर्थ मन ही मन सोच रखा है। जान पड़ता है पुरोहित कहता है—'हे वर कन्या! मैं आशा करता हूँ कि तुम विवाह करो। तुम्हारे विवाह कर लेने

से मुझे रोज़ पूरियाँ और लड्डू मिलेंगे। इससे तुम विवाह कर लो। इस कन्या के गर्भाधान में, सीमन्तोनयन में और सन्तान होने पर छठी, बरही, मुण्डन, कर्ण भेद और उपनयन आदि में मुझे खूब लड्डू-पूरियाँ मिलेंगी। इससे तुम विवाह कर लो।'

'मुद्रा मनुष्यों की एक पूज्या देवी है। मनुष्य जितने देवताओं और देवियों की पूजा करता है उनमें इसी देवी पर उसकी विशेष भक्ति है। जो इस देवी का पुरोहित है अथवा जिसके घर में यह देवी रहती है वही मनुष्यों में बड़ा गिना जाता है।'

'बड़े लोग का मतलब आठ दस हाथ का मनुष्य नहीं होता। जिसके घर में यह देवी वास करती है उसी को बड़ा आदमी कहते हैं। जिसके घर में इस देवी की उपासना नहीं वह हाथ-पांव लम्बा होने पर भी छोटा आदमी कहा जाता है।'

'व्याघ्रादि प्रधान पशु कभी अपने जातिवालों की हिंसा नहीं करते; परन्तु मनुष्य सदैव ही अपनी जाति वालों की हिंसा करते हैं—मुद्रा पूजा ही इसका कारण है।'

'अमितोदर ने कहा—'आप शान्त हों! सभ्य जाति वाले इस तरह स्पष्ट रूप से गाली नहीं देते; गुप्त भाव से आप इससे भी अधिक गालियाँ दे सकते हैं।'

'दीर्घनख ने कहा—'जो आज्ञा! वक्ता बड़े सत्यवादी हैं! उन्होंने जो कुछ कहा है उसकी अधिकांश बातें असत्य होने पर भी उसमें दो एक बातें सत्य पाई जाती हैं। वे बड़े भारी पंडित हैं। बहुत लोगों के मन में शायद यह बात आई हो कि वक्तृता में वक्तव्य विषय कुछ भी नहीं। पर हमने उसमें जो कुछ भी तत्व पाया है उसके लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए।'

'मनुष्य स्वभावतः दुर्बल और प्रभुभक्त है: इससे प्रत्येक मनुष्य को एक एक प्रभु चाहिए। सब मनुष्य एक-एक स्त्री को अपना प्रभु नियुक्त करते हैं। इसी को वे विवाह कहते हैं—जब वे किसी को गवाह नियुक्त करते हैं तो उसे पौरोहित विवाह कहते हैं! गवाह का नाम है पुरोहित!'

'पुरोहित—'बतलाओ हमको किस बात का गवाह होना पड़ेगा'?

'वर—'आप गवाह रहें, अपने जीवन भर के लिए मैंने इस स्त्री को अपना प्रभु बनाया।'

'पुरोहित—और कुछ?'

पत्रकारों तथा सम्पादकों की गणना होगी जिन्होंने हास्य के अनेक श्रेष्ठ स्तरों

'वर—'और सदा सर्वदा के लिए मैं इसके श्री चरणों का दास हुआ। कमाने का भार मेरे ऊपर और खाने का इस पर'।

'पुरोहित—(कन्या से) 'और तुझको क्या करना है?'

'कन्या—'मैंने इच्छापूर्वक इस भृत्य को ग्रहण किया। जब तक मेरी मौज होगी इसे अपनी चरण सेवा करते रहने दूँगी। जिस दिन मौज आएगी उसी दिन लात मार कर निकाल दूँगी।'

(ख) 'अंग्रेज़ स्तोत्र'

'आप हर्त्ता हैं शत्रु दल के; आप कर्त्ता हैं कानून के; आप विधाता हैं नौकरी प्रभृति के; इससे हे अंग्रेज! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

'आप युद्ध में दिव्यास्त्र धारण करते हैं; शिकार में बल्लम धारण करते हैं; विचारालय में आध-इंच मोटा बेंत धारण करते हैं। इससे मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

'आप एक रूप से राजपुरी में बैठकर राज्य करते हैं; और एक रूप से बाज़ार में बैठकर वाणिज्य करते हैं, और एक रूप से कछार में चाय की खेती करते हैं। इससे हे त्रिमूर्त्ते! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

'आपका सत्य गुण आपके रचे हुए ग्रन्थों से प्रकाशित है; आपका रजोगुण आपके किए हुए युद्धों से प्रकाशित है; आपका तमोगुण आपके सम्पादित संवादपत्रों से प्रकाशित है। इससे हे त्रिगुणात्मक! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

'आप हैं इसलिए आप सत हैं; आपके शत्रु रण-क्षेत्र में चित है; और आप उमीदवारों के आनन्द हैं। इससे हे सच्चिदानन्द आपको प्रणाम है।'

'आप इन्द्र हैं, तोप आपका वज्र है। आप चन्द्र हैं, इनकम टैक्स आपका कलंक है; आप वायु हैं, रेलवे आपकी गति है; आप वरुण हैं, समुद्र आपका राज्य है। इससे हे अंग्रेज़ आपको प्रणाम है।'

'आपही सूर्य हैं, आपके आलोक से हमारा अज्ञानांधकार दूर हो रहा है; आपही अग्नि हैं क्यों कि आप सब कुछ खाते हैं; आपही अमला लोगों के यम हैं। इसलिए हे अंग्रेज......'

'आप वेद हैं, इससे ऋक, यजुर आदि वेदों को हम नहीं मानते। आप स्मृति हैं, इसलिए मन्वादि स्मृतियों को हम भूल गए। आप दर्शन हैं, न्याय मीमांसा आपही के हाथ में है। इससे हे अंग्रेज......

के उदाहरण अपने अग्रलेखों, सम्पादकीय टिप्पणियों तथा विवादपूर्ण प्रश्नों के

'आपका हरा और भूरा, पीला और सुर्ख, सियाह और सफेद नाना भाँति के वर्णों वाला, अतियत्न से सुधारा गया, भालू की चर्बी से संवारा हुआ केश-पाश देख कर मेरी इच्छा होती है आपकी स्तुति करूँ।'

'आप कलिकाल में गौरांगावतार हैं; हैट आपका गोपाल-वेश मुकुट है; पतलून काछनी है; चाबुक मोहन मुरली है; इससे हे गोपीवल्लभ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

'हे मिष्टभाषिन! मैं अपनी मातृभाषा छोड़कर आपकी भाषा में बोलूँगा; ब्राह्मधर्म अवलम्बन करूँगा; बाबू न लिखकर नाम के पहिले मिस्टर लिखूँगा। आप मुझ पर प्रसन्न हों......

'हे सुभोजक! मैं पावरोटी खाता हूँ; मुर्गा मेरा जलपान है...।

(ग) 'बाबू'

(अंग्रेज़ी वेशभूषा तथा पश्चिमी आदर्श अपनाने वाले व्यक्तियों के चरित्र का व्यंग्यात्मक वर्णन)

'चश्माधारी, उदार चरित्र, बहुभाषी, मोदकप्रिय, बाबू लोगों के चरित्र का कीर्तन करूंगा'—

'जो लोग विचित्र कपड़े पहिने, हाथ में बेंत लिए, बाल संवारे, कीमती बूट धारण किए रहेंगे; जिन्हें कोई बात चीत में जीत नहीं सकेगा, जो परभाषा पारदर्शी और मातृ-भाषा विरोधी होंगे...और अपनी मातृ-भाषा बोलने में असमर्थ होंगे—बाबू होंगे!'

(घ) 'गर्दभ' (मनुष्य की चारित्रिक कमज़ोरियों पर व्यंग्यात्मक लेख)
'यह कौन कहता है कि आपका पद छोटा है? जहां कहीं मैं आपको देखता हूँ बड़े ही पद पर देखता हूँ! हे बृहन्मुण्ड। रजक-गृह-भूषण! प्रकाण्डोदर! महाभाग! महाशयो! महा पृष्ठ!......'

(ङ) 'दाम्पत्य दण्ड विधान' (नारी के चरित्र की कमज़ोरियाँ,—उनकी नारी सुलभ आवश्यकताएँ, गर्व तथा ईर्ष्या; पति से दासता की इच्छा, इत्यादि कानून की भाषा में वर्णित की गई है और अन्त में पति को पूर्ण पत्नी भक्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है)

(च) 'वसन्त और विरह' (कवियों की विरह-वेदना और उसकी अति का व्यंग्यात्मक वर्णन)

(छ) 'लाला बार्के लाल' (सामाजिक जीवन की असंगति पर परिहास)

सुलझाने में प्रस्तुत किए। इस वर्ग के व्यक्तियों में कदाचित् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान श्री बालमुकुन्द को दिया जा सकेगा। इनकी रचनाओं का अध्ययन केवल उनकी स्फुट रचनाओं, पत्रों तथा सम्पादकीय विचारों तक ही सीमित है परन्तु इस सीमा के होते हुए भी जिस स्तर के उपहास, परिहास, व्यंग्य तथा कटाक्ष इत्यादि के उदाहरण हमें उनकी रचनाओं में मिलेंगे कदाचित उस युग के कम ही व्यक्तियों की रचनाओं में दृष्टिगत होंगे। हास्य के श्रेष्ठतम वर्ग-परिहास के उदाहरण—जिसकी विस्तृत विवेचना हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं बहुत कम लेखकों में मिलते हैं और इस न्यूनता के कारणों की ओर भी हम संकेत कर चुके हैं उसकी भी प्रचुर मात्रा, सीमा विशेष के होते हुए भी, हमें दिखाई देगी। व्यंग्य तो पग-पग पर मिलेगा और उपहास की न्यूनता भी नहीं खटकेगी। व्यंग्य की प्रचुरता का एक विशेष कारण भी रहा है : वह है उनका युग। भारतेन्दु-युग राष्ट्रीय जागरण का युग माना गया है और उसी युग से अंग्रेज़ी राज्य के प्रति क्षोभ और क्रोध का विशेष प्रदर्शन होने लगा था। अंग्रेज़ों की नीति और उनकी कार्य-शैली के प्रति शिक्षित वर्ग की आँखें खुल चुकी थीं। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु ही इस विशेष राजनीतिक प्रतिक्रिया के अग्रणी माने गए हैं और इस प्रतिक्रिया को तीव्र करने में बालमुकुन्द गुप्त का विशेष सहयोग रहा है। पूर्व रूप से सुगठित अंग्रेज़ी शासन के प्रति राष्ट्र के जागरूक व्यक्तियों का क्रोध स्वाभाविक ही था परन्तु समाज में क्रोध का प्रदर्शन कानून तोड़ने में ही हो सकता था। साहित्य-क्षेत्र में इस क्रोध का रूप व्यंग्य ने सहज ही ले लिया और जिस तीव्र रूप में यह व्यंग्य मुखरित

(ज) 'जान डिक्सन साहेब' (सरकारी अधिकारियों की चाटुकारिता; उनका स्वार्थ; उनकी दास प्रवृत्ति; उनकी अराष्ट्रीय भावना का उपहास)

(झ) 'हनुमद्-बाबू-संवाद' (मातृ भाषा को हीन समझने वाले तथा अंग्रेज़ी के मद मे ग्रस्त नव-शिक्षितों का उपहास)

(ञ) 'रामायण की समालोचना' (संस्कृत तथा हिन्दी क्षेत्र में ओछे अनुसंधान कर्त्ताओं का उपहास)

(त) 'ग्राम्य-कथा (धार्मिक पुस्तकों का तर्क-हीन रूप में अध्ययन का उपहास)

(थ) 'हिन्दी साहित्य का आदर' (मातृभाषा विरोधी और अंग्रेज़ी भाषा के पोषकों के विरुद्ध व्यंग्य)

(द) 'नवीन वर्ष का आरंभ' (अंग्रेज़ी समाज का अनुकरण करते हुए नव-वर्ष पर शुभ कामनाएं भेजने की सामाजिक रीति पर व्यंग्य)

हुआ है उसके अद्वितीय उदाहरण बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं में मिलेंगे। साधारणतः यह देखा गया है कि क्रोध जब व्यंग्य में परिणत होता है तो इस बात की अधिक संभावना रहती है कि अशिष्ट की भावना का संचार अनियमित रूप में होने लगे और तीव्रता की इच्छा मानसिक संतुलन को ठेस पहुँचाये। इस ओर भी बालमुकुन्द गुप्त विशेष रूप में सतर्क रहे। पत्र-सम्पादक होने के नाते यह गुण तो सब में सहज रूप में होना चाहिए परन्तु उस युग में इस प्रकार के सन्तुलन के टूटने की आशंका, आधुनिक काल के विपरीत कहीं अधिक थी। देश-द्रोह के लाच्छन, उस युग में सहज ही लग सकते थे और इससे सुरक्षित रह कर ही समाज-सेवा व्यापक रूप में हो सकती थी। विवाद तथा तर्क के क्षेत्र में भी क्रोध की भावना को अत्यधिक विस्तार प्राप्त रहता है और प्रतिद्वन्द्वी सहज तर्क-क्षेत्र में अपने को शिथिल अथवा कमज़ोर पाकर क्रोध को आवाहन देता है। इस दुर्गुण से भी बालमुकुन्द गुप्त कहीं दूर रहे। तर्क की पतवार जब एक बार हाथ में आगई तो वे निर्भय हो जाते हैं परन्तु इस निर्भयता में भी अशिष्ट तथा अश्लील की भावना का संचरण उनके पास नहीं होता था। राजनीति-क्षेत्र में, बालमुकुन्द गुप्त ने व्यंग्य तथा उपहास के अन्यान्य मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किए। इसी क्षेत्र में उनके "चिट्ठे और खत" जो 'शिव शम्भु' के नाम से लिखे गए, की गणना होगी। 'शिव शम्भु' अन्यान्य गवर्नरों तथा वायसरायों को आशावादी भारतीय के नाते पत्र लिखते हैं और भारत की दयनीय दशा का उत्तरदायित्व अपने गौराङ्ग शासकों पर रखते हैं। न जाने कितने ही स्वागत गान और सम्मान पत्र 'शिव शम्भु' वाइसरायों[1] के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक पत्र में उपहास की विस्तृत

---

१. 'शिव शम्भु के चिट्ठे और खत'—'श्रीमान का स्वागत' (२) (जो कुछ खुदा दिखाए, सो लाचार देखना।)

'अभी भारत वासियों को बहुत कुछ देखना है और लार्ड कर्ज़न को भी बहुत कुछ। श्रीमान के नए शासन काल के यह दो वर्ष निःसन्देह देखने की वस्तु होंगे। अभी से भारत वासियों की दृष्टियाँ सिमट कर उस ओर जा पड़ी हैं। यह ज़बरदस्त द्रष्टा लोग अब बहुत काल से केवल निर्लिप्त निराकार तटस्थ द्रष्टा की अवस्था में अतृप्त लोचन से देख रहे हैं और न जाने कब तक देखे जावेंगें। अथक ऐसे हैं कि कितने ही तमाशे देख गए पर दृष्टि नहीं हटाते हैं। उन्होंने पृथ्वीराज, जयचन्द की तबाही देखी, मुसल्मानों की बादशाही देखी, अकबर, बीरबल, खानखाना और तानसेन देखे, शाहजहाँनी तख्त-ताऊस और शाही जुलूस देखे। फिर वही तख्त

छाया दिखलाई देती है।

नादिर को उठाकर ले जाते देखा। शिवाजी और औरङ्गजेब देखे, क्लाइव हेस्टिंग्ज से वीर अंग्रेज देखे, देखते देखते बड़े शौक से लार्ड कर्जन के हाथियों का जलूस और दिल्ली दरबार देखा। अब गोरे पहलवान मिस्टर सैंडो का छाती पर कितने ही मन बोझ उठाना देखने को टूट पड़ते हैं। कोई दिखाने वाला चाहिए भारतवासी देखने को सदा प्रस्तुत हैं। इस गुण में वह मोछ मरोड़ कर कह सकते हैं कि संसार में कोई उनका सानी नहीं। लार्ड कर्जन भी अपनी शासित प्रजा का यह गुण जान गए थे। इसी से श्रीमान ने लीलामय रूप धारण करके कितनी ही लीलाएं दिखाई,.........,सुना है कि अब कि विद्या का उद्धार श्रीमान जरूर करेंगे। उपकार का बदला देना महत् पुरुषों का काम है। विद्या ने आपको धनी किया है इससे आप विद्या को धनी किया चाहते हैं। इसी से कंगालों से छीनकर आप धनियों को विद्या देने चाहते हैं। इससे विद्या का वह कष्ट मिट जावेगा जो उसे कंगाल को धनी बनाने में होता है। नींव पड़ चुकी है, नमूना कायम होने में देर नहीं। अब तक गरीब पढते थे, इससे धनियों की निन्दा होती थी कि वह पढ़ते नहीं। अब गरीब न पढ़ सकेंगे इससे धनी पढ़े या न पढ़े उनकी निन्दा न होगी। इस तरह लार्ड कर्जन की कृपा उन्हे बे पढ़े भी शिक्षित कर देगी।......कौन जानता है कि श्रीमान लार्ड कर्जन के दिमाग में कैसे कैसे आली ख्याल भरे हुए हैं। श्रीमान कैसे आली दिमाग शासक हैं, यह बात उनके उन लगातार कई व्याख्यानों से टपकी पड़ती है जो श्रीमान ने विलायत में दिए थे और जिनमें विलायतवासियों को यह समझाने की चेष्टा की थी कि हिन्दुस्तान क्या वस्तु है? आपने साफ दिखा दिया था कि विलायतवासी यह नहीं समझ सकते कि हिन्दुस्तान क्या है। हिन्दुस्तान को श्रीमान स्वयं ही समझे हैं विलायतवाले समझते तो क्या समझते? विलायत में उतना बड़ा हाथी कहाँ जिस पर वह चमर छत्र लगा कर चढ़े थे? फिर कैसे समझा सकते कि वह किस उच्च श्रेणी के शासक हैं? यदि कोई ऐसा उपाय निकल सकता जिससे एक बार भारत को विलायत तक खींच ले जा सकते तो विलायतवालों को समझा सकते कि भारत क्या है और श्रीमान का शासन क्या है? आश्चर्य नहीं भविष्य में ऐसा कुछ उपाय निकल आवे क्योंकि विज्ञान अभी बहुत कुछ करेगा। भारतवासी जरा भय न करें, उन्हें लार्ड कर्जन के शासन में कुछ करना न पड़ेगा। आनन्द ही आनन्द है। चैन से भंग पियो और मौज उड़ाओ। नजीर खूब कह गया है—

आलोचनात्मक क्षेत्र में कदाचित् जिस व्यापक रूप में बालमुकुन्द गुप्त ने,

कूंडी के नकारे पर खुतके का लगा डंका
नित भंग पी के प्यारे दिन रात बचा डंका...

'वायसराय का कर्त्तव्य' [३]—

'आप कर्त्तव्य पालन करने आए हैं और हम कर्मों का भोग भोगने। आपके कर्तव्य पालन की अवधि है, हमारे कर्म-भोग की अवधि नहीं। आप कर्तव्य पालन करके कुछ दिन पीछे चले जायेंगे, हमें कर्म के फल भोगते-भोगते यहीं समाप्त होना होगा।'

'माई लार्ड, आप वक्तृता देने में बड़े दक्ष हैं। पर यहाँ वक्तृता का कुछ और ही वजन है। सत्यवादी युधिष्ठिर के मुख से जो निकल जाता था वही होता था। आयु भर में उसने एक बार बहुत भारी पोलिटिकल जरूरत पड़ने से कुछ सहज सा झूठ बोलने की चेष्टा की थी, वही बात महाभारत में लिखी हुई है......एक बार अपनी वक्तृताओं से इस विषय को मिलाइये और फिर विचारिये कि इस देश की प्रजा के साथ आप किस प्रकार कर्तव्य करेंगे।

'पीछे मत फेंकिए' [४]—

'स्वयं आप की विलायत के बड़े भारी बुद्धिमानों और राजनीति विशारदों में गिनती है, बरञ्च कह सकते हैं कि विलायत के मंत्रीलोग आपके मुँह की ओर ताकते हैं। विलायत के प्रधान समाचार पत्र मानों आपके बन्दीजन हैं—बीच-बीच में आपका गुणगान सुनाना पुण्य कर्तव्य समझते हैं। संसार में अब अंग्रेजी प्रताप अखंड है। भारत के राजा अब आपके हुक्म के बन्दे हैं। उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिए चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइए उन्हें चाहे विलायत भिजवाइए चाहे कलकत्ते बुलवाइए, जो चाहे सो कीजिए वो हाजिर हैं। आप के हुक्म की तेजी तिब्बत के पहाड़ों की बरफ़ को पिघलाती है। फ़ारस की खाड़ी का जल सुखाती है और काबुल के पहाड़ों को नर्म करती है। जल, स्थल, वायु और आकाश मंडल में सर्वत्र आपकी विजय है। इस धरा धाम में अब अंग्रेजी प्रताप के आगे कोई उंगली उठाने वाला नहीं है। इस देश में एक महाप्रतापी राजा के प्रताप का वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहाँ जल भरता था, पवन उसके यहाँ चक्की चलाता था, चाँद सूरज उसके यहाँ रोशनी करते थे। पर अंग्रेजी प्रताप उससे भी बढ़ गया। समुद्र अंग्रेजी राज्य का मल्लाह है, पहाड़ों की उपत्यकाएँ बैठने के लिए कुरसी हैं। बिजली कलें चलाने वाली दासी और हजारों मील की खबर लेकर उड़ने वाली दूती। आश्चर्य है माई लार्ड! एक सौ

व्यंग्य, उपहास, वक्रोक्ति तथा परिहास के बहुल उदाहरण प्रस्तुत किए, उनकी तुलना अन्यत्र नहीं। इस क्षेत्र में उनका उपहास और भी तीव्र हो गया है और कहीं कहीं परिहास प्रदर्शन अत्यन्त उच्चकोटि का हुआ है। आलोचना-प्रत्यालोचना क्षेत्र में, उस युग में कटुता और विद्वेष प्रसार की बहुत कुछ सम्भावना थी और भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर अनेक विवाद भी उठ खड़े हुए थे। इन विवादों में कहीं हमें तर्क एवं धर्म हठ, क्रोध एवं शान्त उपहास, कटूक्ति तथा संगत उपहास, के अनेक आकर्षक उदाहरण मिलेंगे। बालमुकुन्द गुप्त में अत्यन्त पैनी तर्कपूर्ण सुबुद्धि थी और जब उनका तर्क उपहास का माध्यम ग्रहण कर लेता था तो उसका उत्तर कठिन ही नहीं वरन असम्भव भी होता था और विवाद में संलग्न दूसरा व्यक्ति पथभ्रष्ट हो जाता था और अपने विरोध का क्षेत्र बदलने की चेष्टा में और भी उपहसित[१]

साल में अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी प्रताप की तो इतनी उन्नति हो पर उसी प्रतापी ब्रिटिश राज्य के अधीन रह कर भारत अपनी रही सही हैसियत भी खो दे।

......'आशा का अन्त' [५]...... 'बड़े लाट होकर आपके भारत में पदार्पण करने के समय...हिन्दू समझने लगे कि फिर से विक्रमादित्य का आर्विभाव हुआ या अकबर का अमल हो गया। मुसलमान ख्याल करने लगे खलीफा हारुन अलरशीद का जमाना आ गया। पारसियों ने आपको नौशीरवां समझने की मुहलत पायी थीं या नहीं ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि श्रीमान ने जल्द अपने कामों से ऐसे जल्दबाद लोगों को कल्पना करने के कष्ट से मुक्त कर दिया था। वह लोग थोड़े ही दिनों में इस बात के समझने के योग्य हो गए थे कि हमारा प्रधान शासक न विक्रम के रंग ढंग का है न हारूं या अकबर के, उसका रंग ही निराला है। किसी से नहीं मिलता।'

२. इसी प्रकार का उपहासात्मक हास्य 'शायिस्ता खाँ का खत' में मिलेगा।

१. 'भाषा की अनस्थिरता' तथा 'व्याकरण विचार' नामक दो लेखों के सम्बन्ध में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा 'भारतमित्र संपादक' बाबू बालमुकुन्द गुप्त उपनाम 'आत्माराम' में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विवाद छिड़ गया जिसमें, कदाचित् द्विवेदी जी की पूर्ण हार प्रमाणित हुई। गुप्त जी की वाग् विदग्धता तथा तर्क-पूर्ण विश्लेषण ने ऐसे गंभीर उपहास का रूप ग्रहण किया जिसकी तुलना हिन्दी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकती:—

"व्याकरण विचार"

"एक लड़के ने एक दिन अपनी माँ से कहा—'माँ मुझे कोई न मारे तो मैं सब को मार आऊँ।" ठीक यही दशा हिन्दी के कुछ आलोचकों की है।

होने लगता था।

वह समझते हैं कि हमें सबको आलोचना करने का अधिकार मिल गया है और हमारी आलोचना कोई करे तो हमारे भाई बन्धु, जाति धर्म की, भाई बिरादरी की दोहाई देते हुए चारों ओर से लट्ठ लेकर सहायता के लिए आ धमकें और विद्या से नहीं तो उसे लट्ठ से सीधा कर दें। आत्माराम पर भी वही बीती। वह बेचारा लठैतों के दल में घिर गया।"

"इस बार एक सज्जन बेनी प्रसाद शुक्ल नामधारी ने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' में पदार्पण किया है। यह भी द्विवेदी जी की अनानियत का ही डंका बजाते आये हैं। लेख के आरम्भ में ही गीदड़ों और शेरों का एक श्लोक लिखकर उनके महत्व और अपने शिष्टाचार का परिचय देने आए हैं। द्विवेदी जी की सब भूलों को ज़ेवर समझकर उनकी गठरी अपने साथ लिए फिरते हैं। कोई इनसे पूछे जब आपके शिष्टाचार का यह हाल है—तो दूसरों से आप किस शिष्टाचार की आशा रखते हैं।"

[भाषा की अनस्थिरता]

'जो लोग समझते थे कि हिन्दी भाषा एकदम लावारिस है, कोई उसका मुरब्बी या सरपरस्त नहीं—वह यह खबर सुनकर खुश होंगे कि वास्तव में वह भाषा माता पिता विहीन नहीं है। गत नवम्बर मास के "सरस्वती" के देखने से विदित हुआ है कि उक्त पत्रिका के सम्पादक पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी भाषा के संरक्षक या वारिस दोनों में से एक कुछ हुए हैं। इसके लिए हिन्दी के प्रेमियों और द्विवेदी जी महाराज को हम बधाई देते हैं।'

"कहावत है कि बारह वर्ष के पीछे घूरे के दिन भी फिरते हैं। उसके अनुसार अन्त को हिन्दी के भी दिन भी फिरे। बड़े ही अच्छे अवसर पर द्विवेदी जी ने सरस्वती की उक्त संख्या में, "भाषा और व्याकरण" लिखकर अपनी हिन्दी दानी के झण्डे गाड़ दिए हैं। आपने साबित कर दिया है कि हरिश्चंद्र से लेकर आजतक जितने हिन्दी लिखने वाले हुए हैं, सबकी हिन्दी अशुद्ध हैं। उन सबकी इसलाह के लिए आपको स्वयं खलीफा या उस्ताद बनना पड़ा है और सबको एक ही उल्टे उस्तरे से मूँडना पड़ा है। सच है इस तरह किए बिना ठीक सफाई भी नहीं हो सकती।

'लल्लू और लक्ष्मण सिंह को द्विवेदी जी ने कुछ नहीं कहा—लल्लू को तो शायद इसलिए छोड़ दिया कि स्वर्गीय पं० अम्बिका दत्त व्यास 'विहारी विहार' की भूमिका में उसे ठीक कर चुके थे। फिर वह उर्दू, शूर्दू का जानने वाला अर्धशिक्षित लल्लू द्विवेदी जैसे हमादों संस्कृत के अद्वितीय पण्डित, संस्कृत

श्लोकों के लासानी उच्चारक [कोई सज्जन इस पर एतराज न करें, क्योंकि यह ईजादे बन्दा है] अंग्रेजी के परम पण्डित के लेखनी के नीचे आने ही के योग्य कहाँ था पर राजा लक्ष्मण सिंह को छोड़ दिया। इस पर आगरा भर हैरान है। हरेक के जी में रह रहकर यही प्रश्न उठता है कि राजा को बेलियाकत समझ कर द्विवेदी जी ने माफ किया या वह कुछ शुद्ध हिन्दी लिखना जानता था।

ग्राम्य पाठशाला की गुरुजी की भाँति द्विवेदी जी ने 'क' 'ख' 'ग' से ही अपना लेख आरम्भ किया है। बड़ी सरलता से आप फरमाते हैं—'मन में जो भाव उदित होते हैं वह भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं। मन की बातों को प्रकट करने का प्रधान उपाय भाषा है" क्या कवाइदे हिन्दी समझाने की चेष्टा आपने की है। हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक किसी को यह बात मालूम न थी। विषय जरा कड़ा है—इससे उसे आप और भी सरल करके समझाते हैं। "संकेतों अर्थात् इशारों [अर्थात रुमूज़ अर्थात् किनायों-भी जोड़ दिया जाता तो संकेत का अर्थ और सरल हो जाता] से भी मन के भाव प्रकट किए जा सकते हैं पर यह उपाय अप्रधान है। इशारों से वह काम नहीं हो सकता जो भाषा से होता है। इससे मनोभाव प्रकट करने का प्रधान साधन भाषा है।" वाह! वाह! आप न समझाते तो यह गूढ़ विषय कौन समझाकर हिन्दी साहित्य का उपकार करता? आप जैसे विद्वान संसार से उठ जावेंगे तो कौन फिर ऐसी जरूरी बातें इस सफाई से समझावेगा? तब तो हिन्दी की दुनियाँ में अंधेरा ही हो जावेगा।

पर बावजूद इस कवायददानी के हमारे द्विवेदी दो कदम चल कर ही फिसलन्त फरमाते हैं। सुनिये—"मनुष्य और पशुपक्षी आदि की उम्र देश, काल, अवस्था और शरीर बन्धन के अनुसार जुदा जुदा होती है।" कोई पूछे कि जनाब, व्याकरण—वीर साहब! उम्र जुदा जुदा होती है या उम्रें जुदा जुदा होती हैं? जुदा जुदा होती हैं कि न्यूनाधिक होती हैं? एक बार सिंहावलोकन तो कीजिये—जरा अपनी कवायदे हिन्दी से तो मिलाकर देखिए तो कौन सी बात ठीक है? क्या आपकी व्याकरणदानी की इज्जत रखने के लिए बेचारी उम्र के टुकड़े कर दिए जाते हैं।

आप फरमाते हैं—'जिस तरह मनुष्य पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश होता है उसी तरह भाषा का भी होता है।" क्या होता है? विनाश? क्योंकि आपकी उत्पत्ति और वृद्धि को ही आपका 'होता' लातें मार मारकर भगाता है और आपकी व्याकरणदानी की ओढ़नी उतारे लेता है।

'सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर घमंडी हों, उस अभागी का विनाश ही होता है। वाजिदअलीशाह खूब कह गए हैं कि खुदा किसी शहर की जबान को देहात में राइज न करे।'

'अब जरा आपके बनाए हुए वाक्यों के अर्थ टटोलिए। आपका पहला ही वाक्य है—"मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं।" क्यों जनाब भाषा की सहायता से मन के भाव दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं या भाषा से? आप टाँगों की सहायता से चलते हैं या टाँगों से? आँखों की सहायता से देखते हैं या आँखों से? कानों की सहायता से सुनते हैं या खास कानों ही से? लेखनी की सहायता से लिखते हैं या लेखनी से ही लिखने लग जाते हैं? जो अपनी बोली जानते हैं वे इस वाक्य को इस तरह लिखते हैं—"मन में जो भाव उठते हैं वह भाषा से दूसरों को सुना दिए जाते हैं" अथवा "मन की बात बोलकर दूसरों को जना दी जाती है।" द्विवेदी जी तरजमें से भाषा तैयार करते हैं उसमें असलियत कहाँ है? भाषापन कहाँ? तिस पर भी सबको सिखाने के लिए कमर कस कर तैयार हो गये हैं।"

'श्रीमान की यह घबराहट उस देहातन की घबराहट से कम नहीं है जो एक दिन शहर में सूत बदलाने चली गई थी। वहाँ जाकर उसने देखा कि पचासों गाडियाँ रूई से भरी सामने से आ रही हैं। देखकर बेचारी को ज्वर आ गया। काँप कर गिर गई और कहने लगी कि हाय! हाय! इतनी रूई को कौन कातेगा? उस बेचारी बुढ़िया को डर हो गया था कि सब रूई उसी को ही कातनी पड़ेगी। उसी तरह हमारे द्विवेदी जी महाराज को भय हुआ है कि पचास साल पहले की हिन्दी आज की हिन्दी से नहीं मिलती है तब सौ साल के बाद क्या हाल होगा।

सरस्वती के उसी अङ्क में एक वाक्य है—'इसमें कोई सन्देह नहीं कि पं० बलदेव प्रसाद के शरीर के साथ हिन्दी का एक बहुत अच्छा लेखक हमेशा के लिए तिरोहित हो गया।" इस वाक्य के लेखक जी महाराज का मतलब तो यह है कि पं० बलदेव प्रसाद हिन्दी के अच्छे लेखक थे, वे उठ गये। पर इससे अर्थ निकलता है यह कि पं० बलदेव प्रसाद का शरीर भी तिरोहित हो गया और उसके साथ हिन्दी का एक अच्छा लेखक भी हमेशा के लिए तिरोहित हो गया। लेखक ने एक अंग्रेजी बोतल का टुकड़ा पीस कर हिन्दी की खिचड़ी में मिलाना चाहा है! यह वाक्य उसी तरह दुलत्तियाँ झाड़ रहा है और रस्सियाँ तुड़ा रहा है जिस तरह दो शऊरदार बाप बेटों की सवारी का जानवर एक बाँस में बँधा

हिन्दी भाषा में प्रहसनात्मक[1] हास्य की परम्परा को आगे बढ़ाने में

हुआ, उनके कंधे पर लटकता हुआ एक पुल पर से जाते समय झाड़ और तुड़ा रहा था।'

द्विवेदी जी को 'को' की बड़ी बीमारी है, ऊपर के वाक्य में है—"बहुत से वाक्यों को न समझ सकें"। सीधी बात है "बहुत से वाक्य न समझ सकें।" "को" इसमें फालतू है। जिनको हिन्दी जानने वालों की सोहबत नहीं वह इसी तरह "को" की भरमार करते है। अर्थ को—को बनाना उनकी आदत हो जाती है।

द्विवेदी जी ने "भाषा और व्याकरण" का लेख क्या लिखा है, एकदम जीवों के उद्धार की ठान ली है। आपके एक ही इस लेख में वेद, शास्त्र, पुराण-दर्शन सब हैं। गीता, वेदान्त न्याय सब इसी में है...बातें आपने एक साथ इतनी कह डाली हैं कि किसी का किसी से मेल नहीं। जैसे कैलाश में बाघ और हिरण एक ही साथ विचरते हैं किसी को किसी से कुछ कष्ट नहीं, उसी तरह द्विवेदी जी की बातें भी अलग अलग अपना अपना काम करती हैं"...इस समय कृपा करके इतना बताते जाइए कि "अनस्थिरता" का क्या अर्थ है ? स्थिरता और अस्थिरता के बीच में यह कहाँ से आ गई।'

बालमुकुन्द गुप्त की हास्य प्रियता के अन्य उदाहरण हमें उनकी पद्यमय, रचनाओं में मिलेंगे जिसमें उन्होंने विदेशी रहन सहन, भोजन तथा परिधान भारतीय परिवार की "सभ्य बीबी" 'विज्ञ विरहिनी' 'जोरू दास', हमारे धार्मिक जीवन के जोगीड़ा, बाबाजी बचनम्, चेला वचनम्, इत्यादि पर उपहासपूर्ण कवितायें लिखी है। 'आजकल का सुख' में उन्होंने भारतीय जीवन पर पड़ने वाले विदेशी प्रभावों को व्यापक रूप में उपहंसित किया है। 'टेसू' तथा 'पोलिटिकल होली' कविताओं में उन्होंने उस समय की भारतीय राजनीति का उपहासात्मक तथा आकर्षक परिचय दिया है।

१. "चुंगी की उम्मेदवारी"—(चुंगी की उम्मेवारी के लिए एक सेठ तथा एक वकील में प्रतिस्पर्धा चलती है। सेठजी, साम, दाम, दण्ड, भेद, सभी का प्रयोग करते हैं और विशेषतः वोटरों को पैसे का लोभ देते हैं और साथ साथ उनकी गहरी खुशामद करते हैं। धन लोलुप सेठजी के अनेक मित्र और कारिन्दे अपना स्वार्थ-साधन करते हैं। परन्तु अन्त में सेठ की विजय होती है। और इस विजय के कारणों की ओर संकेत करते हुए म्युनिसपैलिटी की अनेक कमजोरियों के प्रति लेखक ने अपना तीव्र उपहास प्रयुक्त किया है।)

मौलवी—'जनाब सेठ साहब! आदाबर्ज़; कहिए सेठ साहब मिजाज मुबारिक ?

बदरीनाथ भट्ट का विशेष महत्व है। परम्परा के अनुसार उन्होंने हास्य के दो विशेष मूल आधारों पर हास्य-प्रदर्शन की चेष्टा की है। परिस्थिति तथा भाषा तथा उसके प्रान्तीय रूपों के आधार पर सफल हास्य-प्रदर्शन हुआ है। प्रायः इनकी रचनाओं में शाब्दिक रूप में ही प्रदर्शित हास्य की बहुलता मिलेगी।

सेठ—(घबराहट में कुर्सी पर से उठते हुए) जी हाँ, मुझे कोई तीन रोज से मर्ज़ मुबारक की शिकायत हो गई है—बंदगी—कै जिसको हकीम जी, मर्ज़ मुबारक बतलाते हैं—इनाइत है आपकी—हकीम जी कैते थे कि शर्बत बनफ़्सा और शोफ का अरक मिला के रात को पीने से दो ही दिन मैं ठीक हो जावोगे......लोग जो कहै हैं कि चुंगी में पढ़े लिखे आदमी की जरूलत है सो मैं क्या भला किसी सै कम पढ़ा लिखा हूँ! चिट्ठी पत्तरी लिखूँ बांच सकूं हूं और क्या चाहिए......'

शिव—'सेठ जी साहब राम राम कहिए मिजाज खुश!'

सेठ—'हुँ मैं सब समझता हुँ ऐसी चालें, मिजाज खोश! मिजाज खोश! हाँ साब खोश! कहिए साब खोश!'

शिव—'तो फिर हिन्दुओं में आपस में फूट फैलाना ही आपको पसन्द है!'

सेठ—'हिन्दुओं में पुराने समय से जो काम होता आया है, वोही सनातन धर्म है। जो बराबर जारी रहैना चाइये, आपका बूता होय तो आप उसे रोकिये—क्यों न मौल्वी साब—बोल श्री सनातन धर्म की जय!'......
'मौल्वी साब! घबराइये मत आप के घर में जितनी आप कैंगे जितनी नालियाँ, मोरिया, छजलियाँ, पन्नालियाँ, खिडकियाँ, गुसलखानैं निकलवानैं के अलावा मौका हुआ तो आप के घर के इधर विधर की जमीन भी—आप समझ गए न!

सेठ—अजी एक एक, एक कै हथकड़ियाँ डलवा दूँगा किसी ने समझ क्या रक्खा है। अंग्रेजी राज है अंग्रेजी, मैं कलक्टर साब को दो दफै डाली दे चुका हूँ, और तसीलदारों और डिप्टी कलक्टरों को तो रोज ही।

वजीर—'उन्हांने मेरी एकाध बात सुनकर मुझसे 'पूछा 'अबे उल्लू हुआ है! मुझे अच्छी तरह सुनाई न दिया मैंने जवाब दिया-जी हाँ आपकी दुआ है। बस इसी में वे मुझसे खुश हो गए।.........

सेठ—'भाई साब, मेरी बेवकूफी थी, कै जिसके लिए मैं भौत शड़मिन्दा हूँ अगर अबकै आपका कोई काम आ पड़े तो जहाँ आपका पसीना गिरता होय, म्हां दिन दहाड़े मैं अपना—जरा सोचिये—मैं अपना खुद खून गिराने को, बल्कै खुद गिर पड़ने को तैयार हूँ।'·····और रिश्तंदारी की बात जे है

हास्य-क्षेत्र की परम्परा जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक के लेखकों में विदित है[१] वह भी शाब्दिक हास्य के ही अन्तर्गत रखी जा

कै देखिये मेरे भाई के नाना की नानी की लड़की के लड़के के साले के सलैज की मां के भाई के ताऊ के बेटे की बहू की मां की भैन आपकी मुनीम की ताई के नाती के मामा की साली के भौजाई के लड़के की लड़की के भाञ्जे के दादा के बाप के बेटे के परनाती को ब्यायी थी।

मौलवी—वल्लाह रिश्ता तो वाकई करीबी है इसका तो ख्याल लालाजी को जरूर ही करना चाहिये।······

सेठ—'इस समय सब बनियों को एक हो जाना चाहिये देखिये त्योरस साल मुंशी हर सहाय माथुर जब मेम्बरी के लिए खड़े हुए तब सब के सब कायथ कैसे झुंड बाँध कर एक हो गए थे।...'

सेठ—'भाई जी, रामाइन में जो बात लिखी है सो त्रेता की है और आज कल कलजुग है—दूसरे आप कुछ रघुकुल वाले थोड़े हैं। आप तो अगरबाले हैं आजकल तौ कलजुग की म्हैमा अपार है, देवता भी अपनी परतिज्ञा पूरी नहीं करै हैं फिर बिचारे रघुकुल बालों, दालवालों, तरकारी बालों, सोंठ टिकिया वालों, चूरनवालों, खोमचोंवालों की क्या गिनती है।'

वजीर—'देखो देखो हाथ न लगाना बस कह दिया है कुछ तुम्हारा माल नहीं हैं इन बातों में झगड़ा हो जायगा।'

कन्हैया—'अबे एडिटर लोग तो पंचायती माल हुआ करते हैं। तू फिर भूल गया।'······

बाबाजी—'क्यूँ रामजी क्या तहाँ माखनचोर औरु चीर हरन लीला हू होत है।'

पहिला—'बाबा चीर हरन लीला तो वहाँ नहीं होती पर और बहुत सी लीलाएँ होती हैं—जैसे कमैटी करन लीला, चन्दा करन लीला, सलाम झुकावन लीला, जी हजूर लीला, टैक्स लगावन लीला, इनके अलावा मेम्बरों को कभी कभी मौका देखन लीला भी करनी होती है।'······

बंगाली—'माथा, आमार बाङ्गाले—

तीसरा—'मेड़ी अंगड़खी फाड्डाली मैं तौ जाणू एक एक शै दाम धड़वां लूँगा, मैं तौ जांणू कहाँ के वकील साब आए हैं, मैं तो जाणू उल्टी नालिश करा दूंगा, मैं तौ जाणूं आठ आड़ें गज का कपड़ा अभी डिल्ली शै मगाया ठा—मैं तौ जाणूं।'

१ (क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—
'मच्छंकराचार्य', 'गण्डकीदास', 'कुकुर झौंझौ', 'हुज्जते-बंगाल', 'अंधरी मजि-

सकेगी। यह परम्परा केवल शब्दों की ध्वनि, उनकी निरर्थकता, उनकी पुनरावृत्ति और उनमें निहित शारीरिक एवं मानसिक संकेतों द्वारा हास्य के प्रफुटन का आयोजन बनाती है। और इस हास्य के मनोवैज्ञानिक कारणों को भी हम पिछले प्रकरणों में स्पष्ट कर चुके हैं।

स्टर', 'कनमचाप' (कंनिग चैप का रूपान्तर); 'भण्डाचार्य, 'चपरगट्टू खां', पीकदान अली', 'जानछल्ला',

(ख) बालकृष्णभट्ट :—

'सेठ गप्पूमल', 'गवद्दराय', 'चिथरूमल', 'बाऊ घप्प', गुरूघन्टाल', 'रायकम्बख्त चन्द के वली अहद बदबख्त बहादुर', 'शाह पनारू दास', 'बी. हुस्सो', 'बी. बानो', 'गट्टूमल', मिट्ठूमल', 'बतस्सो',

(ग) आनन्द सम्पादक :—

'बिगुलधर (वंशीधर)', 'ऐंधीटर' (एडिटर), 'सरौताओं' (श्रोताओं), 'प्रोत' (पुरोहित)', डुग्गीगुरू' चकलामल', 'बिलबिल-खां', 'मूसलचन्द', 'लाला भक्कड़ शाह', 'चकमालाल'।

(घ) प्रताप नारायण मिश्रः 'उर्दू बीबी।'

(ङ) पं० नाथूराम 'शङ्कर' शर्मा : 'खचेरूलाल', 'दोल्ला लिख बाचों लाला, लूल, लाली लाला', 'मेढ़क-मण्डल', 'गितक्कड़', 'गर्दभ-जाति',

(च) बंकिमचन्द्र चटर्जी :

'व्याघ्राचार्य वृहल्लांगूल', 'वृहन्मुण्ड', 'रजकगृहभूषण', 'प्रकाण्डोदर', 'महाभाग', 'महायशो', 'महापृष्ठ', 'सुभोजक', 'गौरांगावतार'।

(छ) जी. पी. श्रीवास्तव :

'महामहोपाध्याय पण्डित चापर करन अगड़म-बगड़म उर्फ पण्डित जी', 'बाबू झपसटनाथ, एफ. ए. फेल', 'पं० घौंचूमल', 'बौखलानन्द', 'जनाब मौलाना बरबादअली वाही तबाही', 'ढकोसलानन्द', 'मुसीबत मल', 'मौलाना खफ्तुलहवांस', 'उचक्कानन्द', 'मैडम कुलच्छनी', 'झटपटराय', 'गोबर चन्द', 'भकभकानन्द', 'फितरतअली', 'हिकमतलाल', 'चक्कागुल खैरू', 'अनारी मजरैंट', 'मिर्जा अललटप्पू', 'चपरगट्टू', 'मुन्शी खुराफात ,हुसैन', 'घोंघाबसन्त', 'बम्बूबख्श सिंह', 'हजामत बेग', 'भुरकुस्तानी रिश्ता', 'मिजाज आलू बोखारा', 'अगियाबैताल की खाला', 'मौलाना हुदहुद', 'जनाबे आलीशान, मशाले कुस्तुनतान', 'सापड़-सूपड़, धामड-बिल्ला-तोबी, तिल्ली, इल्ली, बिल्ली', 'तोंदकस' (पेटी के लिए)।

हिन्दी हास्य में परिहास की परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न जिन लेखकों ने किया उनमें पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का महत्व उल्लेखनीय है। यद्यपि यदाकदा अश्लील[1] का संकेत स्पष्ट हो जाता है परन्तु मूलतः परिहासात्मक दृष्टिकोण ही उनकी कुछ रचनाओं की विशेषता रहेगी। परिहास की आत्मा और उसके महत्त्व का विस्तृत विवेचन हम पिछले प्रकरणों में कर चुके हैं और उसके कुछ स्फुट उदाहरण इन रचनाओं[2] में सरलता से स्पष्ट

(ज) भगवती चरण वर्मा :

'बाबू झटपट प्रसाद', 'गिरफ्तारअली', 'लाला तिकड़मीलाल', 'ठाकुर नाम कमावन सिंह', 'फटीश जी'।

(झ) पं० बद्रीनारायण शुक्ल :

'धमधूसरचन्द', 'मूसलचन्द', 'घरघूमन',

(ञ) 'बेढ़ब' बनारसी :

'श्रीमती गुड़गुड़ा देवी कमेटी', 'चपरगट्टू लाल शास्त्री', 'डाक्टर नकछेद शाह', 'प्रोफेसर पाण्डुरंग चपरगटकर', 'ठाकुर मूसलसिंह', 'धिरौऊ सिंह', 'दूरबीन सिंह', 'डाक्टर चूहानाथ कतरजी', 'पं० खुखड़ी शास्त्री'

(त) कृष्णचन्द्र :

'झोहरचन्द्र', 'थपकीराम बसुन्धा', 'श्री० जी० के० काकटेल', 'मिस कुरकुरी', 'डाइरेक्टर दुखियानन्दन', 'मिस जरासिम', 'मिस झटपट', 'मिस प्रेम-पिटारी', 'सरदार खूकासिंह', 'चौधरी चूहाराम', 'मलिक घसीटामल', 'बोंगाभाई', 'बोंगाराज', 'बन्दराकुमार'।

(थ) सरयूपण्डा गौड :

'महाशय रकटूराम जी'; 'साहित्य-शार्दूल पं० बकोटू जी।'

१—बिल्लेसुर बकरिहा—पहला अध्याय। नामकरण की समस्या।

२ (क) 'बिल्लेसुर बकरिहा'—एक हास्यपूर्ण स्केच।

(एक दरिद्र ब्राह्मण अपनी जाति परम्परा की अवहेलना कर चरवाहे का व्यवसाय अपना कर अपने शारीरिक श्रम द्वारा अपनी जीविका चलाता है और अपनी आमदनी को कुटिल संबन्धियों तथा चाटुकार मित्रों से सुरक्षित रखते हुए एक ब्राह्मण कन्या से विवाह करने में सफल होता है)

'बिल्लेसुर चार भाई आधुनिक साहित्य के चारों चरण पूरे कर देते हैं... उनके पुकारने के नाम गुणानुसार और और हैं। मन्नी पैदा होकर सालभर के हुए। पिता ने बच्चे को गर्दन उठाए बैठा झपकता देखा तो 'गपुआ' कह कर पुकारना शुरूकर दिया—आदर में गप्पू। दूसरे लड़के ललई की

किए जा सकते हैं।

गोराई रोंओं में निखर आई थी, पिता ने नाम रखा 'भर्रा'—आदर में 'भूरू'। बिल्लेसुर के नाम में गुण था; पिता बिलुआ आदर में 'बिल्लू' कहने लगे।'

मन्नी और बिल्लेसुर एक तरफ हुए, ललई और दुलारे एक तरफ जैसे सनातनधर्मी और आर्यसमाजी। फिर इनमें भी शाखें फूटी—जैसे वैष्णव और शाक्त; वैदिकी और वितण्डावादी—फिर सबकी अपनी डफली और अपना राग।'

'मन्नी तब तीस साल के थे; पर चूँकि नाटे कद थे, इसलिए अठारह उन्नीस की उम्र बताई गई—मूँछों की वैसी बला न थी। बात खप गई।'

'रास्ते में जमींदार का खलिहान लगा था—दिखा कर कहा—सब अपनी ही रब्बी है। गाँव के बागात देख पड़े—मन्नी ने हाथ उठाकर बताया—यहाँ से वहाँ तक सब अपनी ही बागें हैं।'

'इलाहाबाद पहुँचते-पहुँचते चेकर ने कान पकड़ कर गाड़ी से उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे; कुछ बोले नहीं। चुपचाप उतर आए। लेकिन सिद्धान्त नहीं छोड़ा। दो तीन दिन में चढ़ते-उतरते बर्दवान पहुँच गए।'

'वह अपनी अपार मूर्खता के कारण सत्ती दीन महाराज के खजांची हो गए। उनकी स्त्री बातें कभी-कभी ऐसी सुनाती थी जो कानों को प्यारी न थीं और उनसे आंतें निकलने को होती थीं।'

'जब एक साल तक पुत्र-विषय में बाबा जगन्नाथ जी ने कृपा न की तब सत्तीदीन की स्त्री को देवता पर कोप चढ़ा और वे दिव्य-शक्ति की पक्षपातिनी बन गईं—यथार्थवादी लेखक की तरह।'

'बिल्लेसुर त्रिलोचन के पिता तक का इतिहास कण्ठाग्र किए थे—सिर्फ हिन्दी के ब्लैंकवर्स के श्रेष्ठ कविकी तरह किसी सम्मेलन या घर की बैठक में आवृत्ति करके सुनाते न थे।'

'(बकरियों की सुरक्षा के लिए बिल्लेसुर से कहा गया) 'यहाँ हम लोग हैं, भेड़िए का डर नहीं; वह ऊँचे हार में लगता है।' बिल्लेसुर ने कहा—'इधर भी आता है, लेकिन आदमी का भेष बदल कर।'

'भाइयों को राजयक्ष्मा न होने के कारण बकरियों की गंध से एतराज होता।'

'गाँव—वाले, दिलका गुबार निकालने के लिये बिल्लेसुर को बकरिहा कह कर संबोधित करने लगे। जबाब में बिल्लेसुर बकरी के बच्चों के वही नाम रखने लगे जो गाँव वालों के नाम थे।'

'(बकरी के खो जाने पर वे महावीरजी के पास गए ; लापरवाही से सामने खड़े हो गए और आवेश में भरकर कहने लगे—'देख ! मैं गरीब हूँ ! मैं इसी-लिए तेरे पास आता था और कहता था—'मेरी बकरियों को और बच्चों को देखे रहना—क्या तूने रखवाली की बता—'थूथन सा मुह लिए खड़ा है ।'

'(विवाह के लिए लड़की ढूंढ़कर) त्रिलोचन ने खुश होकर कहा—'ऐसी औरत गाँव में आई नहीं—सोलह साल की-आग-भभूका !'

'(विवाह के पहले) पूजा करते समय दरपन कई बार देखा; आँखें औरभौंहें चढ़ाकर, उतारकर, गाल फुलाकर, पिचकाकर, होठ फैलाकर, चढ़ा कर ।'

(ख) कुल्लीभाट

'मारते वक्त पिता जी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाए हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं ।' 'चार-पांच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था । और प्रहार की हद भी मालूम हो गई थी ।'

'पुजारी जी की बातचीत चल रही थी कि उस साल भगवान के जन्म-दिन के दिन मुहर्रम पड़ा ।'

'पान भी क्या खूबसूरत बनाता है तुम्हें ! तुम्हारे होठ भी गज़ब के हैं ! पान की बारीक लकीर रचकर क्या कहूँ शमशीर बन जाती है ।'

'श्रीमती जी पूरे उच्छ्वास से खड़ी बोली के ऐसे धुरंधर साहित्यिकों के नाम गिनाती गईं जैसे लेख में उद्धरण पर उद्धरण देख कर पाठक लेखक की विद्वत्ता और विचारों की उच्चता पर दंग हो जाता है वैसे ही मैं भी खड़ी बोली के ज्ञान पर जहाँ का था वहीं रह गया । अब समझता हूँ—सहस्र-नाम का प्रभाव इतना क्यों है ।'

'अकसर ग़ज़ल न गाने वाली पुरानी वृद्धाएँ थीं, भजन गाने वाली । उनपर नवीनाओं का वैसा ही—रोब था जैसा आजकल साहित्य और समाज में देखा जाता है ।'

'राजा का नौकर राजा नहीं तो क्या है ? भारत की नौकर शाही का यही अर्थ है ।'

'मुझे कोरी का काम करते देखकर कहा—'तुम महाराज होकर क्या यह काम करोगे, अरे कहीं भागवत बाँचो !' बोले 'जल्दी में था खरीदने की याद नहीं रही ।'

'कुछ ही दिनों में जैसे कविता-क्षेत्र में चूहे लग जाँय उसी तरह कवि किसानों और जनता जमींदारी में मेरा नाम फैला ।'

'पुलीस ने गोली चलाने की तैयारी की—तब कार्यकर्त्ता लखनऊ से हटकर राय बरेली चले गए ताकि पुलिस को तकलीफ न हो ।'

ईश्वर की कृपा से उनके एक पुत्र और सात-आठ कन्याएँ थीं तब देखने वालों को 'वायेज टु लिलिपुट' याद आ जाता था' ।

'शुद्धि कराने अयोध्या जी ले गया था—लेकिन हिन्दू बड़े नालायक हैं इस हद तक मुझे उमीद न थी–कहते हैं–'बिल्ली को माला पहना कर लाया है ।' '(परदा करती हुई सलहज से कहा) 'मेरे सामने घूँघट क्यों काढ़ती हो ?' उन्होंने कहा—' मेरी इच्छा नहीं, लेकिन यहाँ के आदमी ऐसे हैं कि कुछ का कुछ सोच लेते हैं । मैंने कहा—'तो अपनी आँखें ढँककर दूसरों की आँखों पर पर्दा डालना चाहती हो, रहस्यवाद अच्छा है ।'

'सब जगह मैंने एक बात देखी—'मेरी कविता पढ़ कर लोग नहीं समझे। सुनकर समझे; और इतना समझे कि मुझे 'श्रुति' पर ही कविता को छोड़ना पड़ा ।' '(विवाह तय करते समय ज्योतिषी ने कहा) विवाह बहुत अच्छा है, अगर लड़की को कुछ हो जायगा तो बुरा नहीं, फिर जहाँ लड़का मगंली है वहाँ लड़की राक्षस है । पटरी अच्छी बैठती है ।'

'पञ्चाग लेकर ससुराल गया—मेरे हाथ में देशी जूता देख कर सासु जी को उतना आश्चर्य न होता जितना पञ्चाग देखकर हुआ ।'

१ (क) 'लंबी दाढ़ी'—मकतब में, अवकाश-प्रेमी विद्यार्थी मौलवी साहेब की पगड़ी पर एक मछली रखकर, एक सधी हुई बिल्ली उसे खाने के लिए निमन्त्रित करता है; पीनक में पड़े हुए मौलवी साहेब के मुँह में पतिंगे गिराता है; उनके जम्हाई लेने पर उनके मुँह पर लालटेन साफ करने वाला झाड़न बाँधता है और उन्हें पतिंगा मुँह म् कुचल डालने पर विवश करता है; दाढ़ी पर गोंदानी उलटता है; पाजामें में मेढ़क डाल देता है; दाढ़ी पर दूध गिरा कर अपने पालतू कुत्ते टिपुआ को उस ओर ललचा कर उनकी दाढ़ी नुचवाता है । वह सोने के कमरे में पुराने कागज जला कर, आग बुझाने के लिए पानी की बौछार छोड़ता है और मौलवी साहेब स्नान करने पर विवश होते हैं । अमरूद की चोरी में स्वयं पकड़े जाकर छल से डाकू की आवाज लगाकर मौलवी साहेब

असंगति की भावना द्वारा प्रस्फुटित हास्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही उनकी गणना, साधारणतः होगी। इसके यह अर्थ नहीं कि केवल इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत इस प्रकार के हास्य की परख हम कर सकेंगे अपितु अन्य सिद्धान्तों को भी, जिनकी समीक्षा हम पहिले कर चुके है, उन पर तर्क रूप में लागू किया जा सकता है। परिस्थिति मूलक हास्य के अतिरिक्त हमें शाब्दिक हास्य के अन्य-रूपों के भी उदाहरण दृष्टिगत होंगे। इन रचनाओं में उपमा, श्लेष, निरर्थक शब्दावली, शाब्दिक पुनरावृत्ति; इत्यादि द्वारा प्रस्फुटित हास्य के भी उदाहरण कम नहीं। अशिष्ट तथा अश्लीलता जनित हास्य,[२] जिसके कार्य-कारण सम्बन्ध

को कोठरी में बन्द करा देता है और मौलवी साहेब माली से मार खाते हैं। उनकी चिलम में तंबाकू की जहग बारूद छिपाई जाती है और मौलवी साहेब का मुँह झुलस जाता है।

(२) स्कूल के छात्रावास के भोजन-प्रिय संरक्षक मौलवी साहेब को जमाल गोटे का हलवा खिलाया जाता है और शौचगृह में सब स्थानों पर पहिले से लड़के बैठा दिए जाते है; सिढ़ियों पर मटर बिछाकर उन्हें धराशायी किया जाता है; उनको सोते हुए जानकर पैर में एक गदहे के गले की रस्सी बांधी जाती है, उन्हें सड़क पर घिसटाया जाता है; उनकी 'सेकेण्ड-हैण्ड' बीबी का मज़ाक उड़ाया जाता है और छात्र उनकी गालियों को 'अरबी भाषा की गर्दान' घोषित करता है और अन्त में मौलवी साहेब की नौकरी बरकरार रखने के लिए उनसे अधिक से अधिक नम्बर लेता है और सब फेल हुए लड़कों को लड़-झगड़ कर पास करा देता है।

(३) संस्कृत पाठशाला में पण्डित जी को फोटो खींचने के बहाने कुर्सी पर खड़ा करता है, फिर कुर्सी सरका कर उन्हें जमीन पर गिरा देता है। उनकी मानसिक शक्ति की प्रशंसा कर सब पुस्तकें फड़वा डालता है; मेज की दराज में कबूतर बन्द करता है, उनके दो प्रिय शिष्यों की शिखा एक दूसरे में बांध कर उन्हें गिराता-पड़ाता है। सोते में पण्डित जी की पगड़ी में दावात छिपा देता है और पगड़ी पहिनते ही पण्डित जी का सारा शरीर होली खेलता है; उनकी शिकायत हेडमास्टर से करता है और उनके सोने में बाधा डालता है। उनके दोनों प्रिय शिष्यों को भांग पिलाता है और भड़का कर एक दूसरे से लड़ा देता है और पंडित जी का पैर तुड़वा देता है। इंसपेक्टर साहेब के मुआइने के समय उन्हें गरीबी की प्रतिमा बना कर उनके सामने लाता है; उनसे गिरिजा की

को हम स्पष्ट कर चुके हैं उसके भी अनेक उदाहरण दृष्टिगत होंगे ।

स्तुति पढ़वाता है और इन्सपेक्टर साहेब की जय-जयकार कराता है। इन्सपेक्टर क्रोधित होकर उन्हें सदा के लिए अवकाश दे देता है ।

(३) मास्टर साहेब की पत्नी पति को खूब गाली देती है; क्रोध में मायके चली जाती है। मास्टर साहब ग़लत व्याकरण पढ़ाते हैं; उन्हें सिगरेट पिला कर नकल करने का आयोजन किया जाता है; वे निरर्थक शब्दो का प्रयोग अपनी तरक्की के लिए दी हुई अर्जी में करते हैं; वे बीस बार एफ. ए. में फेल होते हैं; 'सवाल दीगर जवाब दीगर' देते है; इम्तिहान में माला फेरते हैं। इंस्पेक्टर साहेब की सिगरेट सुलगाते वक्त मास्टर साहेब उनकी मूँछ झुलस देते हैं; उन्हें ठोकरें मार कर निकाला जाता है और उन्हें भागते हुए पाकर उनके पीछे कुत्ते दौड़ा दिए जाते हैं ।

(४) मैच में जाते हुए लड़कियों की बाइसिकिल से टकराना; लड़की की बाइसिकिल गल्ती से लेकर भागना; घोड़े के पानी-पीने की चरही में गिरना; इक्के का फरवट दौड़ना, छूट जाने पर पीछे लटक जाना, ५) का नोट खो देना; स्टेशन पर जैसे तैसे पहुँचना ।

डिब्बे में दाढ़ी वाले मौलवी साहेब को सोते हुए देख उनका हाथ रखना, उनके फलों की टोकरी पर हाथ साफ करना; पाजामें का इजारबन्द काट देना; बंधने में मिट्टी घोल देना; उन्हें पागल घोषित करना, पुलिस द्वारा उन्हें बीबी सहित दूसरे स्टेशन पर उतरवा देना ।

(५) चाचा,लोकइ नौकर को आदेश देते हैं कि वह 'हुक्का बदल लावे' और लोकई मुहावरे का मतलब न समझ कर उसके शाब्दिक अर्थ लगाकर एक मुसलमान बाराती का हुक्का ले आता है; गुड़गुड़ी ताज़ा करने के लिए चुल्लू में पानी लाता है; गुड़गुड़ी फेंकने के आदेश को अक्षरशः मान कर उसे सड़क पर फेंक देता है ।

देहाती नौकर पीकदान में थूकने वालों को हजारों गाली देता है; साक्षी के लिए कीमती कालीन पर पीकदान उलट देता है ।

भांवरों के समय वर पंडित जी की गोद में गिर पड़ता है; ससुर भी झपेटे में आ जाते हैं; उनकी सूखी दाढ़ी पर चिराग गिर पड़ता है; ठोढ़ी दाढ़ी रहित हो जाती है और आग बुझाने का प्रयत्न .करता हुआ नाई पानी का घड़ा पंडित जी के सर पर गिरा देता है । पत्नी

के पहिने हुए गहने के झटके से पति की नाक पर चोट पड़ती है और वह गालियों की बौछार करती है।'

'आप कौन सी ज़बान बोलेंगे?'
'वही जो मेरे मुँह में है।'

चाचा—'क्यों बे लोकई! क्या मैंने गुड़गुड़ी पी थी?'
लोकई—'नहीं सरकार! दुइए एक फूंक तो खिंचबे कीन रहा कि हजूर फेंकवाय दिहिन।'

पंडितजी—'हम सबकी देह धुन के रख देंगे।'
—इसमें क्या शक है! आपके यहाँ यह काम हमेशा होता आया है!
'बहुब्रिह समास किसे कहते हैं?'
आप इतना भी नहीं जानते! कौन इसके बिना हर्ज हो रहा है।
—'मुझे ऐसी बीमारी होगई थी कि चारपाई छोड़ना मुहाल था!
कुछ परहेज़ भी करते थे तुम?
जीहाँ!
'किससे?'
पढ़ने-लिखने से।

(अध्ययन की कठिनाई बतलाते हुए पंडितजी)—'संस्कृत होय! कपड़ा का थान न होय कि चर्र से फाड़ दीन!'
'पगड़ी क्या है, कुकुरमुत्ता है।'
'अपनी नाक की दुनाली बंदूक से ठांय-ठांय दो फायरें दागीं।'
'समझ लीजिए कि कछुआ दो पैरों पर खड़ा है।'
'जभाई क्या लेते थे कि मछली के तेल की बोतल का पेंदा टूट जाता था।'
'बाप एम. ए. आई. ए. एस; माँ बी. ए. (केंब्रिज) पैदा होते ही अंग्रेजी बोलने लगे।'
(खिजाब लगाए हुए देखकर) 'हैं! हैं! हमार मूड़ नहीं सड़ा है, हम खिजाब लगाए हैं।'
(भचकते हुए मास्टर साहेब को देखकर) 'मास्टर साहेब की एक अदद

सही दो बटा तीन आँखें थीं; स्याही समान काला रंग; डेढ़ टाँगें; घोड़ी जो ४१२ टिख में एक डग बढ़ने वाली।

'वे चपेटाघात जो मेरे पश्चात भाग पर पड़े हैं।'

(ख) 'भइया अकिल बहादुर'—

'हांलां कि मुँह और पेट दोनों इस राय के सख्त खिलाफ थे, चाचा की शुद्धि १½ पाव गोबर खिला कर की गई।'

परिभाषाएँ—

लेखक—बे-पेट का जानवर

लेखक सम्राट—समालोचक का नातेदार

समालोचना—गाली देने का ढंग

उत्तम रचना—जो संपादक को मुफ्त मिले

साहित्य—जिसे पढ़ने को जी न चाहे

शिक्षा की पुस्तक—जो बिना छड़ी की मदद से पढ़ी न जा सके।

नाटक—व्याख्यानों का संग्रह

व्याख्यान—जिसे सुनते नींद आ जाय

कविता—जिसे समझने के लिए स्वयं कवि को बुलाना पड़े

शिष्ट हास्य—पढ़ते समय मुँह खुले—मगर जंभाई में !

सम्पादक—जिसके लेख नहीं छपते

(फिल्मों के लिए स्टोरी लिखने का आग्रह पाकर) 'स्टोरी तो मैं लिख देता ! मगर क्या बताऊँ मेरी नानी जिन्दा नहीं, उन्हें इस ढ़ग की एक नहीं सैकड़ों याद थीं।

'जिसकी बीबी सुन्दर फैशनेबिल हो और गुणवती हो फिर उसे न रुपयों की कमी हो सकती है और न दोस्तों की।'

(हरिद्वार में : 'गिरहकटों के व्यापार का ब्योरा, मुसाफिरों के टिकने का स्थान, अकिल बहादुर का जूतों में रुपया छिपाना, भूचाल से बचने का मन्त्र बनाना, विज्ञापनों की बहुलता पर आश्चर्य, ज्योतिष को केवल बारह प्रकार के उत्तरों में समेट लेना; संसार 'को दो भागों में बाटना : उल्लू बनकर या उल्लू बनाकर रहना।)'

(कलकत्ते में : 'अपने मित्र कलकतिया बाबू की तलाश में, बिना पता जाने अकिल बहादुर अनेक विषम परिस्थितियों के शिकार होते हैं; उन्हें स्टेशन, स्टेशन नहीं जान पड़ता; होटल के एजेन्टों को कुली समझते हैं, रिक्शा उन्हें अजीब लगता है; दो मंजिलीलारियों, ट्रामों से बचते हुए वे किसी न किसी प्रकार दौड़ते हुए किसी के सामान पर गिरते हैं; दर्जी के दूकान पर रखे हुए 'माडेल' को सलाम करते हैं, पुलिसमैन को मुर्दा समझ उसकी नाक खींचते हैं; मार खाते हैं।

होटल में रसगुल्ले को सफेद आलू समझते हैं; हाथ धोने के लिए मिट्टी ढूँढ़ते हैं; अनजाने किसी स्त्री से मजाक कर बैठते हैं और अन्त में गाँव भाग कर जान बचाते हैं।'

लखनऊ की सफर में : 'लम्बरदार के साथ रेल पर बैठते हैं; मारपीट होती है, और वे पागल बनाए जाते हैं। खिजाब द्वारा लम्बरदार की जवान बनने की इच्छा और उनके विवाह सम्बन्ध में अनजाने ही रोड़ा अटकाते हैं, चने की डेहरी में छिपते हैं; उछलकूद मचाते हैं, और मार-पीट धींगा-मुश्ती के बाद वहां से निकल भागते हैं।

बम्बई में : 'स्त्रीवेश में एक सुन्दर पुरुष द्वारा टिकट के पैसे मिल जाते हैं और उसका पति बन कर रहने लगते हैं और खानसामा का ही कार्य विशेषतः करते हैं और अनेक चालाकी के कार्यों में सहयोग देकर जीवन व्यतीत करते हैं और अन्त में स्त्री-वेश धारी पुरुष अनेक सिनेमा-डाइरेक्टरों को ठग कर भाग जाता है और जब यह रहस्य उन पर खुलता है तो वह भी भाग निकलते हैं।'

(ग) नाक में दम : (पश्चिमी ढंग से शिक्षित लड़की से एक वृद्ध की शादी होती है और अवैध प्रेम की भूमिका तैयार की जाती है और उसके अन्तर्गत पश्चिमी सभ्यता, ज्योतिष, दर्शन इत्यादि पर व्यंग्य किया जाता है)

(घ) 'मियाँ की जूती मियाँ का सर' (वृद्ध-विवाह के बन्धन में पड़ी हुई लड़की अवैध प्रेम की सफल व्यवस्थाएँ बनाती है; ससुराल में वृद्ध-दामाद की अवहेलना की जाती है; वृद्ध अपने दुर्भाग्य को कोसता है और परि-स्थिति पर आँसू बहाता है।

(ङ) उलट फेर (डिप्टी कलक्टरों की मदान्धता, उनका गर्व, उनकी कचहरी की कारर्वाई; सरिस्तेदारों पर उनकी निर्भरता, उनके चपरासियों का काइयां-पन, मुहर्रिर की आदतें, बेबात की मुकदमेबाज़ी इत्यादि का विवरण)

—सात्विक एवं परिस्थिति मूलक हास्य की पुनरावृत्ति हम पुनः अनेक आवु-

'अरे हाथी केर खरीदन और मुकदमा केर लड़ब एकइ आय'।

—'क्या तुम ख्वाब देखता है ?

—'हम बोलेन, हुजूर खूब देखता है।'

—'हमार बड़ी तारीफ किहिन कहिन तुम अहमक है।'

हम कहा—'हाँ हजूर!' अब कहौ घोंघावसन्त तूरे बापौ का कोई अहमक कहिस रहा—चला अह हमसे बड़वार बनै।'

—क्यो भाई वकील साहेब की कमर कैसे झुक गई ?

'मारे मिसिलन के बोझ के!'

—'वाह भाई! दाढ़ी के बोझ का कुछ ख्याल ही नहीं! वही तो असली पसंघा है।'

लालचंद—'मुवक्किलों को यह शिकायत है कि मेरा घर ढूँढे से उन्हें नहीं मिलता। मगर चन्देवालों को न जाने मेरा घर कैसे मिल जाता है।'

सुकई (घड़ी उठाकर)—'कहौ भाई निरहूँ, यू कउने रमक की चुनौटी आय; अउर भला खुल्त कइस है हां!'

मतई (वकील की प्रशंसा करते हुए) 'भइया फिर होय लाग बहस-आल्हा ऊदल केर लड़ाई ओकरे आगे झक होइगै—बक-बक-बक मार बहसियाय के सिटपिट लाल देर कै दिहिन। ओहर चिराग अलीओ खूबे बहसियान—घर-घर खाइस, कलम पकड़-पकड़ लिहिस; राम दोहाई अस लड़ा है, अस लड़ा है कि काव कही भइया जस कुकुर लड़े।'

गुलनार—'मगर मियां मुझ पर क्यों रोब जमाते हो ?'

अलल्टप्पू—'ताकि औरों पर रोब जमाने की आदत पड़ जाय।'

गुलनार—'तुम्हारे फैसले अपील तक पहुँचते २ उलट जाते हैं!

अललटप्पू—' पहले अक्सर ऐसा हो जाता था, मगर अब मेरे सरिश्तेदारों ने एक ऐसा ढंग बता दिया है कि कभी मेरे फैसले पर आंच आने का डर नहीं रहा। वह यह कि जैसा फैसला हो गवाहों का बयान भी वैसा ही लिखा जाय कि नतीजा भी वही निकले।'

निक लेखकों की रचनाओं में पायेंगे। इन दोनों वर्गों के हास्य के उदाहरण

गुलनार—'आप अपनी आज़ाद अक़्ल से काम क्यों नहीं लेते ? सरिश्तेदार के बहकाने पर क्यों जाते हो ?'

अललटप्पू—'इसलिए कि एक से दो की राय अच्छी होती है।'...मैं कामचोर कैसे हो सकता हूँ; मैं तो हाकिम हूँ और हाकिमों को तो सिर्फ दस्तखत करना है—और इसमें भी वक्त बचाने के लिए मैंने अपने दस्तखत का मुहर बनवा लिया है।

(च) 'साहेब बहादुर' उर्फ चट्टा गुल खैरू (एक पाश्चात्य फैशन-ग्रस्त व्यक्ति की दिनचर्या का वर्णन। वह पग-पग पर फैशन की दुहाई देता है और उसकी स्त्री उसकी मूर्खता का उपहास करती है। वह किसी पाश्चात्य सभ्यता में दीक्षित सुन्दरी से विवाह करना चाहता है और एक वार-विलासिनी के चंगुल में फँस कर अपनी हंसी उड़वाता है)

'मेरा बाप भी जरूर जेन्टिलमैन रहा होगा तभी तो मुझे यह चाल एक ही दिन में आगई'।

(अंग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ अपनी अयोग्यता छिपाते हुए) 'तौबा! तौबा! इस ऐनक में ऐसी खूबी है कि हरूफ सीधे, उल्टे,-टेढ़े-मेढ़े, चाहे जैसे हों मगर इसमें सीधे ही दिखाई देते हैं'

'यह धजा! आदमी है या तामलोट!'

'देखो तुमलोग मेरे पतलून के पीछे वाली लिब्र-लिबी थामे चलो ताकि लोगों को मालूम हो कि तुम दोनों मेरे अरदली हो!'

(जूतों को) 'अच्छा ला रख दे मेरे जेब में; मगर खबरदार कहना मत किसी से।'

—आपपर अंग्रेजी पोशाक तो गजब ढ़ाती है!'

—'जी हाँ! यह मेरी काठी की तारीफ है; बिलकुल बिलायती है।'

—आप शेर-शायरी से शौक रखते हैं ?'

—'जी हाँ सभी तरह के शेर जानता हूँ—अर्बी, फारसी, बोकराती, शहराती, डम्पलाटी!'

'हाय! हाय! यह औरत है या जापानी भूचाल!'

(नग्नावस्था का कारण पूछते हुए)—'मगर कोट और टोप क्या किए' ?

—'अजी वह तो बीबी के गुस्से के तोप के फायर में चूल्हे के हवाले हो गए। वह यह कहिए मैंने बड़ी जवांमर्दी की…और अपनी साहेब बहादुरी कमर तक बचा ली…क्योंकि वह…तो बिना इसे उतारे ही जला देने वाली थी।'

'सर पर टोप न धड़ पर कोट यह तो बिलकुल तामलोट है।'

'तुम तो चण्डूलों का लबादा पहिन कर झट खुरासानी बन्दर बन गए'।

'यह औरत है कमबख्त या हवाई जहाज की तोप'।

---

१ 'दो बांके'—(कहानी संग्रह)

(क) रेल में—(दो यात्रियों में वार्तालाप)

—'आप कौन ज़ात हैं?' उन्होंने पूछा।

'आदमी।' बहुत गंभीर होकर मैंने कहा।

—'यह तो मैं भी जानता हूँ—मैंने तो ज़ात पूछी है।'

'मेरी कोई जात नहीं है; सिर्फ इतना जानता हूँ कि आदमी हूँ।'

'आप अजब तरह के आदमी हैं।'

(ख) **'कुँवर साहेब का कुत्ता'—**

'अगर आपके पास रुपया है तो आप बड़े मज़े से कुत्ता पाल सकते हैं। कुत्ता ही क्यों—घोड़ा, भालू, शेर सभी कुछ! यही नहीं आप अपने मकान को जू बना सकते हैं।'

'चूहे के बराबर से लेकर गधे बराबर तक के कुत्ते आपको उनके यहाँ मिलेंगे; हर रंग और हर शक्ल के। यह बतला देना अनुचित न होगा कि आदमियों की भांति कुत्ते भी विलायती ही अच्छे समझे जाते हैं और कुंवर साहेब के सभी कुत्ते सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान को पवित्र करने आये थे।'

'और जनाब ज़्यादा पी जाने के बाद मैंने अपने खिदमतगार को गुस्से में कुछ मार दिया। कोई तलवार बन्दूक तो मारी ही न थी। केवल हाथ से मारा था, लेकिन वह साला मरियल खिदमतगार मेरी मार बर्दाश्त न कर सका और उसे कुछ चोट आगई। अब जनाब इस साले का मैंने इलाज करवाया, सब कुछ

में मिलेंगे। कहीं-कहीं परिहास की सुन्दर छाया भी दृष्टिगत होगी और

उसके लिए किया लेकिन इन कांग्रेसवालों के बरगलाने से वह साला पुलिस में रिपोर्ट करने जा रहा था।'

'अब आप ही समझिए कि अगर एक दिन बेगारियों को चबेना नहीं मिला तो वह मर न जाते और फिर कमिश्नर साहेब की खातिरदारी की वजह से चबेना देना भूल गए थे।'

'या तो ऐलसेशियन को संध्या समय गधे की चहल-कदमी करने की अनाधिकार चेष्टा पर बुरा लगा या फिर उसने गधे से कुछ खेल करना चाहा'''कुंवर साहेब के कुत्ते ने गधे का पीछा किया ! गधा कुछ दूर भागा और एकाएक रुक गया। उसे शायद यह याद हो आया कि संसार में सबको शान्तिपूर्वक रहने का अधिकार प्राप्त है और भागना कायरता है'''उसकी मुद्रा साफ कह रही थी—'म्यां ! क्यों सताते हो ? हमने तुम्हारा क्या बिगाडा है; आखिर तुम्हारा इरादा क्या है ? तुम्हारे मालिक कुँवर साहेब हैं—होंगे ! अपने राम को इसकी कोई चिन्ता नहीं। अपने राम तुमसे दबने वाले नहीं...।'

'उसने गधे पर धावा बोल दिया—पर गधा तो आदमी है नहीं; उसका सत्याग्रह दुराग्रह में परिणत हो गया...वह घूमा बिजली की भांति और उसने अपनी दुलत्ती का पूरा प्रयोग किया...एक भारी गुर्राहट के साथ कुत्ता धराशायी हुआ—आँखें बन्द, मुँह से खून निकलता हुआ।'

'एक ओर मैकू एवं उसकी पत्नी और तीन बच्चों का, जो उनका जीवनाधार था गधा गोली का शिकार होगया; और कुँवर साहेब बोल रहे थे और उनका सेक्रेटरी लिख रहा था—'पन्द्रह सौ रुपया भेजा जा रहा है। जिस ऐलसेशियन का फोटो आपने भेजा था उसे खरीद कर भेज दें।'

(ग) 'तिजारत का नया तरीका'—

—'कल यहाँ के सबसे बड़े सेठ को यदि उसने ५०००) नहीं दिया तो पांच जूते चौराहे पर मारूँगा ?'

—'तो उसके लिए तुम्हें जेल जाना पड़ेगा।'

—'अरे जेल जाने से क्या हुआ ! जहाँ महात्मा गांधी, पण्डित जवाहर लाल नेहरू ऐसे बड़े आदमी जेल जाते हैं वहाँ मुझे जेल जाने में क्या आपत्ति ?'

—'वे तो राजनीतिक कारणों से गए हैं।'

उपहास तथा व्यंग्य के भी उदाहरणों की कमी नहीं अनुभव होगी ।

—'और मैं भी तो राजनीतिक कारणों से ही जाऊँगा......जानते हो कि सोशलिस्ट हूँ; मैं धन के बराबर बटवारे में विश्वास करता हूँ ! सेठ को इतना रुपया रखने का अधिकार नहीं ।'

'मुशी उल्फतराय के नशे में तिमंजले से उड़ने की कोशिश करने पर वहां गिर कर मर जाने की सूचना तार द्वारा जिस समय उनके एक मात्र सुपुत्र तथा उत्तराधिकारी मुन्शी खुशवक्तराय उर्फ के. राय. को मिली उस समय वे एक ऐंग्लो इण्डियन गर्ल के कारण एक टामी से पिटने के बाद अस्पताल से मरहमपट्टी करवा कर अपने कमरे में दर्द के मारे कराह रहे थे ।'

(बेटा कहता है) 'अफसोस की कोई ऐसी बात तो नहीं है, जो होना था वही हुआ । आखिर बाबू जी को मरना था ही, बीमार होकर महीनों चारपाई पर कराह कर तिलतिल कर मरने की जगह कुछ क्षणों में ही उनक प्राण निकल गए; यह उनके लिए अच्छा ही हुआ ।'

'रोनेवालों में सिवा एक चमारिन के जिसको पांच वर्ष हुए पहिले मुंशी उल्फतराय ने घर में डाल लिया था और कोई न था और वह चमारिन मुंशी उल्फतराय की मृत्यु पर रो रही थी या उस घर से निकाले जाने की आशंका पर रो रही थी, कहना कठिन है ।'

(ङ) अनशन (पाण्डेय जी गद्दे से निकाल कर पुलिस की हिरासत में लिए गए; उनसे जबरदस्ती अनशन कराया गया और वे तबियत से दूध पीते गए)

'दुःख के समय कोई गाना नहीं गा सकता, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ—हिन्दुस्तानी थियेटरों की बात जाने दीजिए ।'

(च) 'लाला तिकड़मीलाल' (तिकड़मी व्यवसायी कवियों को बेवकूफ बना कर अपना। यशोगान कराते हैं, उनकी किताबें बेचते हैं और पारितोषिक का लालच देकर अपनी गोटी सीधी करते हैं)

''फटीश' जी ने उन चुने हुए शब्दों में जिनका प्रयोग साहित्यकारों ने कुबड़िनों तथा भटियारिनों के लिए छोड़ दिया है, तिकड़मी लाल का गुणगान करना शुरू कर दिया ।'

(छ) 'नाजिर मुंशी'

—'आज नाजिर मुंशी चुप हैं ?'

—'इसलिए कि आप लोगों को मुहल्ले के धोबी न सताएँ ।'

सब जज—'नाजिर मुंशी ! अपनी बहन से पान लाओ ।'

मुंशी—'हुजूर का मामा बनने में मुझे कोई इन्कार नहीं है ।'

परिस्थिति मूलक हास्य-पूर्ण रचनाओं में समाज के सभी[1] क्षेत्रों से

सब जज—'नाजिर मुंशी ! सुना है समधिन को तुमने अपने हाथों मिठाई खिलाई ! कैसी है ?'

मुंशी—'उनकी शकल हुजूर की शक्ल से बिलकुल मिलती जुलती है।'

'इन पच्चीस वर्षों में डिप्टी साहेब मनुष्य की कोटि से उठकर देवता की कोटि में आगए थे—वे लखपती हो गए थे।'

(ञ) 'दो बाँके'

(शहरी गुण्डों की दो पार्टियाँ ताल ठोकती हैं और उनके उस्ताद ज़बानी पटेबाजी दिखा कर अपनी वीरता का प्रमाण देते हैं) 'बकौल लखनऊ वालों के—ये शोहदे ऐसे वैसे नहीं हैं—ये लखनऊ की नाक हैं—लखनऊ की सारी बहादुरी के ठेकेदार।'

'एक नवाब साहेब (इक्केवान) ने आवाज दी—'नखांस !' तो मैं उचककर उनके इक्के पर बैठ गया...लखनऊ के इक्केवालों में तीन चौथाई शाही खान्दान के हैं और यही उनकी बदकिस्मती है कि उनका वसीका बन्द या कमकर दिया गया और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।'

'हुजूर ! जो सुख इक्के की सवारी में है वह भला तांगे या मोटर में मिलने का है। ताँगे में पलथी मारकर आराम से बैठ नहीं सकते; जाते उत्तर की तरफ हैं मुँह दखिन की तरफ रहता है—अजी साहेब ! हिन्दुओं में मुर्दा उलटे सिर ले जाया जाता है लेकिन तांगे में लोग जिन्दा ही उलटा सिर चलते हैं। और जरा गौर फरमाइए—ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं; जहाँ जाती हैं वह बला की धूल उड़ाती हैं कि इन्सान अंधा हो जाय। मैं तो कहता हूँ, बिना जानवर के आप चलने वाली सवारी से दूर रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।'

'इतने में किसी ने बाँके से कहा—'मुला स्वांग खूब भरयो।' बाँके ने देखा कि एक लम्बा और तगड़ा देहाती है जिसके हाथ में एक भारी सा लठ है—सामने खड़ा मुस्कुरा रहा है। उस वक्त बांके खून का घूँट पीकर रह गए। उन्होंने सोचा, एक बांका दूसरे बांके से ही लड़ सकता है। देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता। और शागिर्द भी खून का घूँट पीकर रह गए; उन्होंने सोचा भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक नहीं है।'

---

१ (क) क़हक़हा (कहानी संग्रह : सरयू पण्डा गौड़)

परिस्थितियां ढूँढ़ी गई है और शायद ही कोई ऐसा मानवी-क्षेत्र हो जो

'भाईजी'—(भोजन प्रेमी हैं, दही खाने के लिए बक्स में बन्द हो जाते हैं और बाराती बिना दही खाए वापस जाते हैं)

'भइयाजी'—(डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की मेम्बरी के लिए कांग्रेस का टिकट माँगने में व्यस्त होकर दौड़ते-धूपते हैं; १½ पूड़ी खाने बैठते हैं, आँधी आती है; रात को टिकट मांगने भागते हैं, अनेक व्यक्तियों पर गिरते-पड़ते अपनी उपस्थिति लिखाते हैं और मेम्बर बनते हैं)

'दो सज्जन'—(भांग के नशे में चूर दो व्यक्ति मिठाई की तलाश में घूमते हैं, रसगुल्ले को सफेद अण्डा कहते हैं, दूसरे के घर को अपना घर समझ कर शोर गुल करते हैं और अन्त में बहुत कठिनाई से घर पहुँचते हैं)

'दो बहरे'—(एक जुलाहा अपने कपड़े लिए और कोइरी जाति के व्यक्ति बैगन की तरकारी लिए रास्ते में मिलते हैं; एक दूसरे का प्रश्न ठीक नहीं समझते और एक दूसरे को शोक ग्रस्त जानकर आपस में सहानुभूति दिखाते हैं और रोते हैं)

'शादी'—(अपनी निरक्षरता के कारण कुछ बाराती बालकों को अंग्रेजी पढ़ते हुए देखकर समझते हैं कि वे उन्हें गाली दे रहे हैं; मार-पीट होती है; सब भाग खड़े होते हैं)

'वे मिडिल स्कूल में पन्द्रह बार फेल हुए, उनके कान मलते-मलते मास्टरों की चुटकियाँ घिस गईं, उठक बैठक करते-करते चटशाले की सवा चार फिट जमीन धँस गई।'

'पिता जी और मामू जी जोर लगाकर बक्स का ढक्कन उठा रहे हैं, मगर उठना तो दूर जरा अपनी जगह से टस से मस न होता था। मारे क्रोध के पिता जी का मुख ईंगुर की तरह लाल हो रहा था।'

'भाई जी बक्स से बाहर हुए, सारा शरीर पसीने से सराबोर; कुर्ते से लेकर धोती तक दही से लिपटा हुआ, चेहरा उड़ा हुआ, मिजाज घबराया हुआ, हाथ-मुँह दही से डूबा हुआ।'

'तुम हमारा 'पावर' क्या जानो; हम डिहटिक बोरड के लीम्बर हैं—कुछ ठट्टा नहीं है।'

'मकान के बाहर फिदवी लोगों का काफला गीध की तरह मंडरा रहा था,

फलप्रद रूप में प्रयुक्त न हुआ हो। इससे यह सिद्धान्त अक्षरशः प्रमाणित

बटेर की नाईं फड़फड़ा रहा था और कुचकुचवा की भाँति आपस में कुच-कुचा रहा था।'

'आश्रम के सघन आम्र-वृक्ष अपने हरित पीत पल्लव, अपार रजराशि, अपने धर्मानुमाकण, आश्रम के आगत अतिथि देश-भक्तों की देह पर अगाध श्रद्धाभिभूत जनता की भाँति घोर उदासीनता से बरसा रहे थे।'

'अभी बेचारे ने दो पूड़ी भी न खाईं थी कि पछुए ने जोरों से ललकार दिया और पक्की तौल डेढ़सेर पूड़ी में तीन सेर बालू मिला दिया।'

'नाक बेचारी सारे दिन की विपदा बड़े ऊँचे सुर में गाने लगी; मुँह बेचारा नैमिषारण्य की कन्दरा की भाँति खुलकर मौन भाषा में नाक की विपद कहानी का समर्थन करने लगा और छाती लोहार की भाथी की तरह हाथ-हाथ भर ऊपर-नीचे बैठ-उठकर सर्द आहें भरने लगी।'

'भइया जी का डेढ़-हत्था चरणारविन्द जब मझौआ के कांग्रेस-कर्त्ता महतो जी के शिला जैसे सीने पर चप्प से बैठा तो उन्हें सहसा पवन कुमार के पदार-विन्द का प्रहार स्मरण हो आया।'

'मौलाना सींक की तरह पतले और ताड़ की नाईं लम्बे थे; पण्डित जी हाथी की तरह मोटे और तकिए की तरह छोटे थे। मौलाना की बगल में सटकर जब पण्डित जी खड़े होते तो मालूम होता बाँस के सहारे कोल्हू उठघां है।'

'तुम उसी दिन से भंग को सारे नशे का सरताज मान लो और तुम्हारे दिमाग में चन्दन वन लग जाय, दिल में इन्दर सभा जम जाय'।

'मारे भूख के अंतड़ियां इस तरह ऐंठी जा रही थी जैसे जनेऊ बटा जा रहा हो, (भांग के नशे में खाने के प्रबंध में लगे हुए) अम्मा यह प्रबन्ध क्या बला है ? कहाँ रहता है ? कब भेंट हो सकती है; तुम्हें कुछ मालूम है'।

'झगरू महाराज का सिद्धान्त था—मामला मरद का त्योहार; कचहरी ठाकुर द्वार है। मगरू का सिद्धान्त था गांजा मरद का सिंगार है चिलम प्राणाधार है।'

'तब तक मगरू महाराज ने उनकी टांग में वह लंगी मारी कि हर चरण महाराज की हस्ती-काया जमीन पर अरर धम्म होगई।'

'वाह रे! हम बहरे हैं! अच्छे कहने वाले! अरे हमारे कान तो इतने तेज हैं कि जब हमारे खेत में स्यार फेंकरते हैं तो हम सुन लेते हैं—और आदमी की आवाज नहीं सुनेंगे।'

होगा कि हास्य मानवी-समाज और मानवी-वातावरण से ही प्रादुर्भूत होगा

(ख) ससुराल की होली (कहानी-संग्रह)

'आशिकी का हो बुरा'–(एक अनुरक्त प्रेमी अपनी स्त्री को किसी अन्य की स्त्री समझकर प्रेमालाप करते हुए अपनी पत्नी द्वारा धिक्कारा जाता है)

'वे सज्जन एक थे और एक उनकी और थीं, जिन्हें ब्रह्मा बाबा ने मृत्युलोक में रंभा व तिलोत्तमा बनाकर भेजा था·········किन्नरी सी सूरत, बेहद दिलफरेब अदा, बड़े शोख दिलफेंकने वाले अंदाज़, चाँद सा चमकता चेहरा बड़ी ही तेज तर्रार तस्वीर ! आँखें आम के कतरे समझिए, होठ मगही पान, गला लखनवी सुराही, नाक भाले की नोक, भौंहें कमान ! यानी प्रेम और आकर्षण साक्षात मूर्त्तिमन्त हो मेदिनी के मर्दन हेतु पृथ्वी पर उतर पड़ा था ।'

मैंने आगे बढ़कर उनका हाथ थाम लिया । सहसा इसी समय सारे बल्ब भक से जल उठे । पर हे भगवान ! यह क्या ? घोर अनर्थ······मैंने बिजली की उस तेज रोशनी में देखा कि मैं जिसे अपनी अनुरक्ता समझ कर प्रेम-निर्वाह हेतु हाथ थामे खड़ा हूँ वह मेरी पड़ोसिन प्रेमिका नहीं प्रत्युत सोलहो कला-युक्त अवतरित साक्षात मेरी भवानी हैं ।'

'नसीहत का नतीजा' (रोज़ी कमाने पर बाध्य किया गया पति अपने शरीर को बलिष्ठ बनाकर अपनी पत्नी को चारपाई समेत उठाकर घुमरी घुमैय खिलाता है और पत्नी चिल्लाती है–हाय ! हाय बचाओ ।'

'आफत यह कि ज्यों-ज्यों वह बूढ़ी होती गईं उनका मर्ज़ जवान होता गया ।'

'आजकल रोजगार की यह दशा है जैसे बिना पैसे का आशिक !

'सभापतिजी' (एक हिन्दी सेवी के रूप में स्वार्थी पुस्तक-विक्रेता का व्यंग्य चित्र, जो हिन्दी सम्मेलनों को अपनी पुस्तकें बेचने का साधन समझते हैं)

'सभापति जी की पुस्तकों की एक छोटी-मोटी दुकान थी । पहले तो वे 'मेलाघुमनी', 'गजलगुलजार', 'अलबेला सावन', 'आशिक दोहावली' जैसे सुग्रन्थ रत्नों को प्रकाशित कर साहित्य की श्री वृद्धि करते रहे···पर पारसाल उन्होंने महाशय रकटूराम जी शर्मा आर्य की 'उपदेश भजन-माला', साहित्य-शार्दूल पण्डित बकोटू जी की 'साहित्य में सिंह-नाद' जैसी सुन्दर, सरस, साहित्यिक पोथियों को प्रकाशित कर हिन्दी संसार का घोर उपकार किया ।'

'हमारी दूकान सम्मेलन के समय वहाँ जायगी ! चेष्टा यह रहे कि हमारी दूकान को छोड़कर किसी अन्य पुस्तक की दूकान की पुस्तकें न बिकें ।'

और उसी में उसका जीवन निहित रहेगा और जहां कहीं ऐसा हास्य प्रस्तुत होगा जहां मानवी-समाज से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं वहां भी यह प्रमाणित होगा कि हम हास्य तभी प्रस्तुत कर सकेंगे जब हम उसे मानवी-क्षेत्र की परिधि में कल्पना शक्ति से ले आयेंगे।

शाब्दिक हास्य के अन्तर्गत उपमा[1] द्वारा प्रस्फुटित हास्य की भी गणना

'चूल्ही महारानी' (एक स्वयंपाकी व्यक्ति की खाना पकाने में विफलता, चूल्हा बुझा, हांडी टूटी, आँख दुखी, भूखे रहे)

'दाढ़ी' (मुल्ला का रूप धारण करने के लिए एक व्यक्ति दाढ़ी रखता है; नौकरी पाने के लोभ से दाढ़ी साफ कर देता है; उसकी कलई खुल जाती है और उस पर मार पड़ती है)

'प्रोग्राम'—(नेतागिरी के लोभ में धूर्त पत्रकार जातीय दंगें का आयोजन करते हैं)

'शाही मस्जिद नापाक !

हराम मस्जिद में फेंका गया !

दीने इस्लाम का सच्चा सेवक गाजी अब्दुल गफूर सख्त घायल...मुसलमानों अपना फर्ज़ अदा करो।'

'गधे की गठरी गौ के पीठ पर !

निर्दोष ब्राह्मण व्यर्थ गिरफ्तार !

मिनिस्टर साहेब स्थिति स्पष्ट करें। हमने एक सहायता फण्ड खोला है जिसमें हमारे कार्यालय से १०१) दिया जा चुका है। जो सज्जन इसमें दान देंगे उनके नाम हम छापा करेंगे।'

'डबल एम० ए०'—(रेल पर सफर करते हुए एक व्यक्ति अपनी भावी पत्नी की तस्वीर लिए ससुराल जा रहा है। रास्ते में किसी लड़की को फोटो की समानता के कारण अपनी भावी पत्नी समझ बैठता है। वह रेल से उतारा जाता है, उसकी दुर्गति होती है। वह लड़की भावी पत्नी की बहिन निकलती है)

'ससुराल की होली—(एक जामाता होली की रात में अपने ससुराल पहुँचता है और रंग से पुते होने के कारण वहाँ भी पहिचाना नहीं जाता और उसकी दुर्गति होती है)

१. श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी।
(क) **'बनारसी एक्का'**—(कहानी संग्रह)

'बनारसी लँगड़ा' के सामने कितने दो पैर वालों के मुँह से राल टपक पड़ती है।'

'बनारसी ठग ऐसी चतुराई से माल उड़ा ले जाते हैं कि बड़े बड़े लेखक और कवि भी दूसरों के लेख और कविताएँ इस आसानी से नहीं अपना सकते।'

'साधारण एक्के के घोड़े भारतीय दरिद्रता के अलबम हैं; हाँकने की गति हिन्दी के कहानी लेखकों की पैदाइश की संख्या से कम न होगी। मोटाई इन वीर तुरंगों की ऐसी होती है कि आश्चर्य होता है कि इनकी कमर से कवि और शायर अपनी नायिकाओं की कमर की उपमा न देकर इधर उधर भटकते रहे। इनका सारा शरीर ऐसा लचकता है जैसे अंग्रेजी कानून। उनमें यह हिम्मत है कि तीन वृहदाकार विशिष्ट गुरुत्वपूर्ण पिण्डों को कुछ दूर खींच ही ले जायँगे।...एक्के का साज़ देखकर भारतवासियों का पूरातत्व प्रेम और पुरानी बातों के संरक्षण की अतुलनीय चेष्टा नज़र आती है।...जब चलते चलते रुक जाता है तो उस समय जान पड़ता है पहले रात की दुलहिन है; पुचकारिए, चापलूसी कीजिए, मनाइए, टस से मस होने का नाम नहीं—जैसे गाँव के थानेदार! एक्केवान महाशय घोड़े से अनेक रिश्ते जोड़ना आरम्भ कर देते हैं।'

'गहरेबाज़ एक्का कैपिटलिस्ट समुदाय का प्रतिनिधि है। ऐसे एक्कों के घोड़े महाजनों के समान मोटे, तालुक्केदारों के समान ताबेदार और अंग्रेजों के समान अकड़ने वाले होते हैं। जिस समय ऐसे एक्के दौड़ने लगते हैं उस समय यदि आप सवार हों तो बीमा कम्पनियों की उपयोगिता सूझने लगती है।'

'बनारसी एक्कावान एक संस्था है। उसकी बातों में सरसों का तीखापन, शराब की कड़वाहट, मिरचे की तिताई और गरम-मसाले की गरमाहट का मजा पाया जाता है। लड़ने में इनकी बराबरी जर्मन पल्टन भी नहीं कर सकती।'

'सामने न कोई मन्दिर था, न कोई पण्डित देवता मुझे ऐसा मालूम पड़ा हो न हो पलथी मार कर घोड़ा जी संध्या कर रहे हैं। ख्याल आया कि मण्डन मिश्र का तोता संस्कृत बोलता था तो काशी में घोड़े संध्या करते हों तो क्या आश्चर्य।'

माएँ ऐसी होगी जिनमें कभी व्यंग्य, कभी वक्रोक्ति, कभी उपहास और कभी

'चप्पल की कहानी'—(दो ऋषियों के द्वन्द्व के फलस्वरूप चप्पल का जन्म और खड़ाऊँ का तिरस्कार)

'जब मनुष्य कहीं हारने लगता है तब जूते की ओर निगाह जाती है।'

'जब तक तू स्त्रियों के पास रहेगी तब तक पुरुष तुझसे डरेंगे।'

'एकाएक आकाश में बादल छा गया और अंधेरा बढ़ने लगा मानों देवताओं के यहाँ लार्ज-स्केल पर कोई भोजन तैयार हो रहा हो।'

'प्रेम की पहली चोट' (एक व्यक्ति एक लड़की से परिचय की आशा में उसे किताबें खरीदने में सहायता करता है परन्तु एक प्रतिद्वन्द्वी द्वारा उसका समस्त प्रेम-व्यापार समाप्त हो जाता है और उसे एक बन्दर भेंट मिलता है)

'इन्टरव्यू'—

—'आपके पिता क्या करते थे ?'

—'मेरे पिता आजमगढ़ के एक पटवारी के गाँव है।'

—आपकी 'हाबी' क्या थी ?'

—'हाकी' तो मैं खेलता नहीं।'

—'आपने कौन-कौन से ग्रंथ पढ़े हैं ?'

—शेक्सपियर कृत—शकुन्तला, बर्नर्डशा लिखित-हैमलेट, टेनिसन का विख्यात—'ला मिज़राब'।

'भूगोल की परीक्षा'—

—'संसार का सबसे बड़ा बन्दर कौन है ?'

'हनुमान जी।'

—'ग्रहण कितने होते हैं ?'

'ग्रहण तीन होते हैं—सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण, पाणिग्रहण। भीड़ तीनों में इकट्ठी होती है; पहले और दूसरे में लोग नहाते हैं; तीसरे में लोग बारात करते हैं और कभी-कभी नाच और महफिल भी होती है।'

—'पृथ्वी गोल होने के कुछ सबूत दो ?'

'पुस्तक में लिखा है; ईसाइन बुढ़िया कहती है जो कभी झूठ नहीं बोलेगी और पाँचवे दर्जे के मास्टर साहब ने भी कहा है।'

—'भारतवर्ष की सबसे बड़ी पैदावार क्या है ?'

—'लड़के और लड़कियाँ।'

'बनारस से कलकत्ता जाने का सबसे सस्ता तरीका क्या है ?'

—'डब्ल्यू. टी. ?'

'लेखक की डायरी'—

'रेलगाड़ी कवि सम्मेलनों में पढ़ने वाले कुछ कवियों के बिना समान रुके चली जा रही थी।'

(मारवाड़ी मुसाफिरों को देख कर) 'इन लोगों का पेट मालगोदाम होता है और साथ-साथ सामान भी।'

'वेतन मैं ड़ेढ़ सौ से कम नहीं लूँगा—यों तो आपका मामला है जो दीजिएगा स्वीकार कर लूँगा। और भी दो एक पत्रों ने मुझे बुलाया है, परन्तु आपका पहला हक है।'

'खुर्रम खाँ जिन'—(एक अज्ञानी पण्डित जी के गर्व के कारण विद्यार्थी क्षुभित हो उनकी दुर्गति करते हैं)

'हेडमास्टर थे यमराज के सहोदर उनसे कोई आशा करना व्यर्थ था। पास तो एम. ए. थे, एल. टी. भी थे, पर दर्जे में पढ़ाते समय नानी मरती थी।'

'हमारी नानी काकेशियन रेस की हैं—'रेस' कहते हैं 'दौड़' को। युरोप की जातियों में दौड़ की शर्त हुई; जो जाति काकेशिया पहाड़ सबसे पहले दौड़ कर पार कर गई वही काकेशिया रेस हुई।'

'सिनेमा की सैर'—(टिकट खरीदने की कठिनाई, एक जूते का खो जाना) 'जैसे प्लेग में चूहे मकान से गायब हो जाते हैं कोई मित्र नहीं दिखाई दिया।'

'पति—मैं इस घर का होम-मेम्बर हूँ जो मैं कहूँगा वह होगा।'

'पत्नी—मैं इस घर की फाइनेन्स मेम्बर हूँ। आगे से बजट में कट ही कट होगा।'

'लोगों ने खिड़की को ऐसे ही घेर रखा था जैसे आजकल के नौजवानों के मुँह को मुँहासे।

'पसीना इतना बह रहा था मानो मैं स्पंज हूँ और कोई निचोड़ रहा है।'

'प्रोफेसर पाण्डुरंग चपरगटकर'—(प्राध्यापकों के अनुसंधान-सिद्धान्तों का उपहास)

प्रस्फुटित होगा कि वे असंगतिपूर्ण होते हुये भी आश्चर्यजनक रूप में किसी

'बिलकुल पीला रंग, छिपकिली सा पतला फुरतीला शरीर, गड्ढों में धँसी छोटी-छोटी आँखें।'

'वह हवा में अपने दाहिने हाथ की उगलियाँ नचा रहे थे जैसे लखनऊ की भठियारिने अपने वाग्युद्ध के समय चमकाया करती हैं।'

'कुछ सोचते हुए टेबुल पर ऐसा हाथ मारा कि हाथ कलमदान पर पड़ा और दावात उछल पड़ी और उनकी नाक का चुंबन करती हुई मेरी सफेद नई कमीज से होली खेलती हुई धराशायी हुई।'

'मैं कुछ आवश्यक चिट्ठियाँ छोड़ने निकला था—यह लाल कपड़े का घूँघट ओढ़े खड़ी थीं—मैंने समझा लाल रंग का लेटर बक्स है। मैंने घूँघट में चिट्ठियाँ डाल दीं।'

'निबन्ध का पर्चा'—(आधुनिक विद्यार्थी-जीवन में विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा परीक्षकों के पास पहुँच की व्यवस्था बनाने का उपहासात्मक वर्णन)

टेक्स्ट-बुकों को, बूढ़े बापों के समान लोगों ने नुमाइश की चीज समझ कर अलग रख दिया था और जिधर देखो उधर नई दुलहिनों की भाँति नोटों की पूछ थी।'

'यह विषय तो धारा १४४ सा व्यापक और माशूकों की बेवफाइयों समान अगाध है।'

'उनकी छोटी साली के देवर के चचिया-ससुर के फूफा के परीक्षक महोदय रिश्ते में साढ़ू होते थे। हम लोगों ने उनसे कहा भाई तुम्हारी परीक्षक महोदय से इतनी नजदीकी रिश्तेदारी है, भला अब क्या पूछना है, तुम्हारी सहायता से हम लोगों का बेड़ा भी पार लग सकता है।'

'मुझसे कहने लगे कि चाय तो समाप्त हो चुकी है और बनवाऊँ—मैंने कहा—नहीं! मेरा कहना मान गए—चाय नहीं बनवाई! मेरा कहना बहुत मानते हैं।'

'नासूर के समान दया को स्रोत सदा बहा करता है।'

'चिकित्सा का चक्कर'—(चिकित्सा की अनेक प्रणालियों का उपहास)

'प्रेमियों को जो मजा प्रेमिकाओं की आँखें देखने में आता है शायद वैसा ही डाक्टरों को मरीजों की जीभ देखने में आता है।'

समता विशेष की ओर संकेत करेंगी ।

'दो खुराक पीते ही आपका दर्द वैसे ही गायब हो जायगा जैसे हिन्दुस्तान से सोना गायब हो रहा है ।'

'किसी ने कहा हींग पिला दो; किसी ने कहा चूना खिला दो; खाने के लिए सिर्फ जूते को छोड़ कर और कोई चीज बाकी नहीं रह गई जिसे लोगों मे न बताई हो ।'

'कुछ लोगों का सौन्दर्य रात को बढ़ जाता है—डाक्टरों की फीस रात को बढ़ जाती है'

'पूरा दर्द न गया—सी० आई० डी० के समान पीछा छोड़ता ही न था; डाक्टर तो मेरे पीछे लगे हैं, क्या चुड़ैल उनसे भी बढ़ कर होगी ।'

'होम्योपैथिक चिकित्सा शुरू करो सारी शिकायत गंजों के बाल की तरह गायब हो जायगी ।'

'इतने सवाल मुझसे पूछे कि इतने तो आई० सी० एस० की वाइवावोसी में नहीं पूछे जाते ।'

'कविता का कचूमर'—(गीत रचना की शैली का उपहासात्मक वर्णन)

'पहले हमारे कालेज में लड़कियाँ पढ़ने नहीं आती थीं—जिस साल का जिक्र मैं कर रहा हूँ उसी साल से लड़कियाँ आने लगीं और खूब आई जैसे अमरीका से गेहूँ आता है ।'

'(कविता लिखते समय) कागज पर दिल, फेफड़ा, जिगर, तिल्ली सब निकाल कर रख दिया ।'

'रेल का सफर'—(एक मूर्ख नौकर एक पर्दे में बैठी स्त्री को तरबूजों का गट्ठर समझ कर उठा कर चलता है ; एक यात्री दूसरे की गोद में गिर पड़ता है; एक रेशमी डोरा खिंचते-खिचते सम्पूर्ण जम्फर खतम कर देता है ।)

'गर्मी के दिन में सुराही रखना मेरे लिए उतना ही आवश्यक है जितना कुंजी बाँधने के लिए उपवीत धारण करना ।'

'वह सोने में स्वभावतः कुम्भकर्ण का बरखुरदार मालूम होता था ।'

'डिप्टी इंसपेक्टरी' (घुड़-सवारी का प्रमाण-पत्र पाने की चेष्टा में डिप्टी साहेब का घोड़े से गिरना और घायल होना)

'प्रयाग विश्वविद्यालय का एम० ए० पास करना और जमालगोटा खाकर हजम करना बराबर है ।'

साधारणतः यह विचार अभिमत होगा कि हिन्दी-क्षेत्र के अनेक आधुनिक लेखकों[1] ने विशेषतः परिस्थिति तथा भाषा की ही सहायता ने हास्य का प्रसार किया है। उन्होंने अनेक हास्यपूर्ण परिस्थितियों[1] की कल्पना की और उनकी ऐसी असंगतिपूर्ण व्यवस्था बनाई कि हास्य का प्रस्फुटन अनिवार्य हो

'सुपरिन्टेडेन्ट साहब में मालूम नहीं कहा का चुम्बकत्व था कि घोड़ा टूटी फोर्ड की तरह रुक गया।......ऐसा मालूम हुआ कि मैं विवाह करने जा रहा हूँ और रेल लड़ गई है।'

'एकाएक घोड़ी ने दोनों अगले पैर उठा दिए—मैंने समझा सूर्य-नमस्कार कर रही है।

'घोड़ी भटियारिन की जबान की भाँति चल निकली।'

(ख) लेखक ने अनुकरण काव्य भी काफी मात्रा में लिखा है और उस अनुकरण काव्य की परख हम पहिले से निर्मित किए हुये सिद्धान्तों से भलीभाँति कर लेंगे। प्रायः खड़ी बोली के बीच-बीच अंग्रेजी शब्द-प्रयोग के बहुल प्रयोग द्वारा हास्य-प्रदर्शन की चेष्टा की गई है, जिस पर हम असंगति सिद्धान्त ही साधारणतः आरोपित करेंगे।

१. 'कुंदजेहन' (पं० बद्री नारायण शुक्ल) संवत—१९९६.

(क) एक तोतला विद्यार्थी मास्टर साहेब की पढ़ाई का कटु अनुभव करता है, दर्जे से निकाला जाता है, सदा के लिए उसका 'रष्टिकेशन' होता है).

'हाँ अगर कोई यह बात साबित कर दे तो मैं उसका लोहा मान उसका टाँग-तल-नर्गत हो जाँऊ—यानी उसकी टांग के नीचे से निकल जाँऊ'।

'अव्वल तो मैं लंबा, तगड़ा साढ़े तीन फिट का जवान हूँ...फिर भी ये दई मारे कहते हैं 'तू कुन्दजेहन' है। और तो और बड़े-बड़े सींग-धारी—अर्थात जिनकी पूँछ आगे होती है-यानी वकील और बैरिष्टर मुझे कुन्दजेहन कहते है।'

'एक रोज, मास्टर साहेब 'स्त्री' जिसको वह 'हिष्ट्री' कहते थे पढ़ा रहे थे।'

(२) (अदालत में कुन्दजेहन का इधर उधर भटकना, अपने वकील से टकराना, गिरना, मैजिस्ट्रेट को डाँटना, मुकदमा हारना।)

(३) (पंडित जी : कथावाचक की स्थूलता, दक्षिणा-लोभ, क्रोध, श्राप का आयोजन, अन्धविश्वास, गर्भवती स्त्रियों का भय, बेहोश हो जाना इत्यादि का वर्णन)

गया। इन लेखकों[1] में अनेक ऐसे भी हैं जिन्होंने साधारणतः व्यंग्य, उपहास एवं परिहास का भी प्रयोग किया जिसके फलस्वरूप अनेक स्तरों का शिष्ट हास्य प्रस्फुटित हुआ है।

साधारणतः, आधुनिक साहित्य में जिन कलाकारों ने अपना स्थान बना लिया है उसमें श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' प्रमुख हैं। 'श्रीवर' ने आधुनिक जीवन की विषमता पर तीव्र दृष्टि रखी है और उसी वैषम्य के आधार पर उन्होंने विशेषतः अनुकरण काव्य का ही माध्यम चुना है। उनके अनुकरण काव्य[2] में शिष्टता को सतत स्थान मिलता रहा है और तुकों की आकस्मिकता अधिक हृदयग्राही लगती है, कहीं-कहीं उनका अनुकरण काव्य इस उच्च कोटि का हुआ है कि मूल कविता की ओर ध्यान ही नहीं जाता। इस कोटि के हास्य की व्याख्या हम प्रायः वैषम्यमूलक भावना के अन्तर्गत ही कर सकेंगे और शाब्दिक हास्य का उसमें विशेष सहयोग रहेगा।

अनुकरण काव्य तथा अनुकृत गद्य दोनों में, समान रूप से, आकर्षक रूप में हास्य प्रस्फुटित करने वाले लेखकों में श्री शारदा प्रसाद 'भुशुण्डि'[3] का उल्लेख आवश्यक होगा। इनका अनुकरण-काव्य भी अत्यन्त शिष्ट कोटि का है और परिहास की भावना से समन्वित रहता है और भाषा के मुहावरों का सफल प्रयोग उसमें सहयोग देता है। इस रूप में प्रस्फुटित हास्य की परख

---

(४) ('मामा' का गर्मी के मौसम में धूप में सोना, जाड़े में जबरदस्ती नहलाए जाना, महफिल में वाह! वाह! के स्थान पर 'तौबा'! तौबा! कहना; बहिन के यहाँ भाँग पीना; उसका नशा उतारने के लिए भाँग मिला रसगुल्ला खाना, हलवाई की कुर्सी तोड़ना, बीमार पड़ना इत्यादि का वर्णन)

(५) ('जन्म-दिन' पर एक मोटर-साइकिल पर बिना उसका रोकना जाने हुए बैठ कर पूरी तेजी से चल देना, झाड़ी में गिरना, लोहू-लोहान होना, गाड़ी का तालाब में गिरना इत्यादि का वर्णन)

१—प्रेमचन्द, पं० बद्रीनाथ भट्ट, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, अन्नपूर्णानन्द, यशपाल, शिवपूजन सहाय, हरिशंकर शर्मा 'बचनेश', 'बेढब' बनारसी, 'चोंच', श्री नारायण चतुर्वेदी, 'बेधड़क', शारदा प्रसाद 'भुशुंडि', कृपाशंकर श्रीवास्तव, माचवे, अमृतलाल नागर, सरयू पण्डा गौड़, केशव चन्द्र वर्मा, बंशीधर शुक्ल, 'देहाती', रमई काका।

२. 'वासवदत्ता' ३. तुलसी के पदों का अनुकरण; 'बच्चन' की कविताओं का अनुकरण; 'गुलेरी' की कहानी का अनुकरण;

भी साधारणतः वैषम्यमूलक सिद्धान्त के अन्तर्गत होगी। श्री कान्तानाथ पांडे 'चोंच', श्री 'बेधड़क', श्री बंशीधर शुक्ल, श्रीब्रजभूषण–'रमई काका' समान लेखकों ने हास्य-साहित्य को परिपूर्ण करने का सफल प्रयास किया है। इन कवियों ने साधारणतः अनुकरण काव्य के माध्यम द्वारा हास्य का प्रस्फुटन किया है और आधुनिक जीवन की विषम गति-विधि पर दृष्टि रख कर नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। खड़ी बोली के वाक्य विन्यास में अवधी का प्रयोग अथवा ग्रामीण मुहावरों का प्रयोग मूलतः हास्य का कारण रहा है। इस वर्ग के हास्य की समीक्षा हम शाब्दिक हास्य सिद्धान्त के अन्तर्गत ही रखेंगे।

गद्य-क्षेत्र में, मूलतः, हास्य रस प्रतिपादन[१] के लिए साधारणतः बहुत कम लेखकों ने अपनी लेखनी उठाई है और इनमें स्वर्गीय प्रेमचन्द[१] स्वर्गीय विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'[२], श्री शिवपूजन सहाय[३], हरिशंकर शर्मा[४], श्री अमृत लाल नागर[५], श्री अन्नपूर्णानन्द[६] तथा श्री केशवचन्द्र प्रमुख[७] हैं। श्री प्रेमचन्द ने हास्य-प्रदर्शन के लिए मूलतः जातीय गुणों ? को ही विषयाधार रक्खा है और व्यंग्य तथा उपहास को ही अधिक प्रश्रय दिया है और सुधार की भावना से स्पष्ट-रूप में दूर रहने की चेष्टा की है। यह हास्य शिष्टता की परम्परा को कहीं आगे ले जाता है और करुण की भावना उसमें निरन्तर प्रस्तुत रहती हुई परिहास को आमंत्रण देती रहती है। परन्तु 'कौशिकजी' की रचनाओं में सुधार की भावना प्रमुखरूप ग्रहण कर लेती है और शिक्षात्मक हास्य का प्रदर्शन होने लगता है। उन्होंने भी दैनिक अन्धविश्वासों तथा रूढ़िगत जीवन को उपहासपूर्ण दृष्टि से देखा है। आचार्य शिवपूजनजी की

---

१. 'शतरंज के खिलाड़ी'; 'मनुष्य का परमधर्म।'

२. 'दुबेजी की चिट्ठी'

३. 'मैं हज्जाम हूँ'!

४. 'लीडर'

५. 'नवाबी मसनद'

६. 'मेरी हजामत'; 'मगन रहुचोला'; 'महाकवि चचा'

७. 'लोमड़ी का मांस' : 'भाषा शास्त्रियों से एक ज्वलन्त प्रश्न', 'मीरा एक प्रगतिशील कवियित्री', 'अगर आप सिनेमा की कहानी लिखना चाहें', 'आलोचक की दृष्टि से', श्री केशवचन्द्र वर्मा ने कुछ प्रचलित साहित्यिक एवं राजनीतिक वादों पर सफल उपहास का दृष्टिकोण अपनाया है और मानसिक हास्य के क्षेत्र में पदार्पण करने की भी विशेषरूप में क्षमता दिखलाई है।

कुछ स्फुट रचनाएँ इस वर्ग से पृथक हैं उनका हास्य वर्ग दूसरा ही है। उन्होंने श्रेष्ठ शब्द योजना के अन्तर्गत साधारण शब्द योजना; अनुप्रास प्रयोग तथा निम्नकोटि के विषयाधार पर श्रेष्ठ गद्य शैली का आरोप कर अत्यन्त सफल हास्य प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं की परख शाब्दिक हास्य-सिद्धान्तों के अन्तर्गत सफल रूप में होगी। श्री उग्र, श्री अमृतलाल नागर, श्री अन्नपूर्णानन्द तथा श्री केशवचन्द्र की रचनाएँ कभी परिस्थिति और कभी शाब्दिक प्रयोगों द्वारा सफल हास्य प्रस्तुत करती हैं। नागरजी ने पुरातत्ववेत्ताओं के अज्ञान पर व्यंग्य तथा उपहास का प्रयोग किया है और मूलतः इस वर्ग का हास्य परिस्थिति-मूलक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही सफलरूप में प्रमाणित होगा।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के हास्य-साहित्य की व्यापक समीक्षा के उपरान्त हम यह सहज ही प्रमाणित कर सकेंगे कि जितना और जो कुछ भी हास्य-साहित्य आज तक प्रस्तुत है उसमें हमें सभी वर्गों के हास्य के दर्शन होंगे। परिस्थिति तथा भाषा प्रयोग के अन्तर्गत जितने भी वर्गों के हास्य की कल्पना की जा सकती है सबके उदाहरण किसी न किसी रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगत हुए हैं। इन उदाहरणों में हमने कहीं उपहास : व्यंग्य, आक्षेप, कटाक्ष तथा कौतुक का रूप देखा; कहीं हमने परिहास की मनोहारी छाया देखी और कहीं केवल शाब्दिक प्रयोगों द्वारा हास्य का प्रस्फुटन देखा। परन्तु फिर भी अभी तक बहुत कुछ उदाहरण संकेत रूप में ही प्रस्तुत हैं और केवल इन्हीं संकेतों के आधार पर हम उन्हें विशिष्ट हास्य-साहित्य की संज्ञा नहीं प्रदान कर सकेंगे। आधुनिक काल में, मूल रूप में, हास्य-साहित्य सृजन की चेष्टा हो रही है और आशा है कि कालान्तर में हिन्दी साहित्य भी मुलियर तथा बालज़ाक, डिकेन्स तथा वाल्टेयर, मार्कट्वेन तथा चेस्टरटन समान लेखक वर्ग की सृष्टि करेगा। श्रेष्ठ हास्य-साहित्य के सृजन में जिस व्यापक अध्ययन तथा तीक्ष्ण दृष्टि की आवश्यकता होती है, जिस मौलिक दृष्टिकोण की अपेक्षा की जाती है और जिस उच्चकोटि की मानवता वांछित रहती है उसी की साधना आधुनिक साहित्यकारों के लिये हितकर होगी।

प्रकरण—१७

उर्दू साहित्य
में
हास्य की रूप-रेखा

१

उर्दू साहित्य में हास्य की रूप-रेखा

उर्दू साहित्य में हास्य की रूप-रेखा स्थिर करने के लिए हमें, संक्षेप में, मुस्लिम-समाज की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था ; मुस्लिम समाज के अन्यान्य स्तर; उस समाज का पारिवारिक जीवन; उस समाज द्वारा प्रयुक्त भाषा ; उस भाषा के अन्यान्य स्तर तथा उस भाषा के अन्यान्य लेखकों की रचनाओं पर व्यापक दृष्टि डालनी होगी।

कदाचित यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि आरम्भ से ही मुसलिम राजनीतिक जीवन सामन्तवादी रहा और जितने भी मुसलिम बादशाह हुए सबने राजतन्त्र के अन्तर्गत सामन्तवादी आदर्शों तथा सामन्तीय सिद्धान्तों का विकास किया। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे विलक्षण बात यह थी कि मुसलिम-धर्म ने इस सामन्तवादी राजनीतिक व्यवस्था की भूमि में, बहुत गहरे रूप में, प्रजातन्त्रीय भावनाओं का बीजारोपण किया ; और समय पाकर जहाँ सामन्तीय परम्पराएँ पल्लवित-पुष्पित हुईं उनमें प्रजातन्त्रीय पराग भी प्रस्तुत रहा। जहाँ एक ओर बादशाह ख़ुदा का बन्दा था और उसे राज्य करने का एकाधिकार प्राप्त था वहाँ उसकी समस्त प्रजा भी ख़ुदा की बन्दगी करती थी; और दोनों में राजतन्त्रीय बन्धन होते हुए भी दोनों के प्रजातन्त्रीय सम्बन्ध सुरक्षित रहे। बादशाह को, ख़ुदा का साम्राज्य स्थापित करने का दैवी आदेश था; और जहाँ उसकी सेना जो इस साम्राज्य-स्थापन में उसकी सेवक थी एक ही आदर्श प्रतिपादन करने के कारण उसकी सहयोगी भी थी। इसके साथ-साथ मुसलिम बादशाहों ने जो सामन्तवादी परम्पराएँ चलाईं और जिस रूप में उन्होंने समाज का राजनीतिक नियन्त्रण किया उसमें भी प्रजातन्त्रीय सम्बन्धों की रक्षा की गई। मुसलिम बादशाहों का दरबार राजनीतिक विचार-धारा से तो कम परन्तु सामाजिक विचारधारा से अधिक प्रभावित रहा। राजतन्त्र में, यों भी किसी प्रकार के राजनीतिक आदर्शों अथवा सिद्धान्तों पर विचारों के आदान-प्रदान की संभावना नहीं के बराबर थी; क्योंकि बादशाह की आज्ञा ही क़ानून थी और अन्य पदाधिकारी उस आज्ञा के परिवाहक मात्र थे। राजतन्त्र ने, बहुत से राजनीतिक प्रश्नों के उठने का अवसर ही नहीं दिया। फलतः न तो कोई जटिल रूप का न्यायालय था और न अपराधी इतने चातुर्यपूर्ण थे कि वे न्याय को उलझन में डाल देते। इसका फल यह

हुआ कि शाही दरबारों में अवकाश ही अवकाश रहने लगा। और चूँकि, युद्ध के समयको छोड़कर अनेक दरबारी बादशाह के सम्मुख, उसके मनोनुकूल और आदेशानुसार उपस्थित रहते थे इसलिए अवकाश का समय व्यतीत करने में प्रजातन्त्रीय विचारधारा की सतत रक्षा होती रहती थी। दरबारी एक दूसरे के अतिरिक्त, विशेषतः ऐसे जो बादशाह के मुँह लगे होते थे, बहुत अदब के साथ 'बे-अदबी' कर सकते थे; और बादशाह उनके वाक्-चातुर्य एवं उनकी मानसिक शक्ति की प्रशंसा भी करता था। ऐसे सम्बन्धों के फलस्वरूप हमें मुसलिम बादशाही दरबार की अनेक हास्यपूर्ण किम्बदन्तियाँ, गाथाएँ तथा संवाद प्राप्त हैं। अकबरी-दरबार के नवरत्नों के हास्यपूर्ण संवादों से तो पुस्तकें भरी पड़ी हैं। यही क्यों, नादिरशाह से लेकर मुग़ल वंश के ध्वंसावशेष-रूप में जीवित, आज के मिटे हुए व्यक्तियों तक में उसी परम्परा की गन्ध मिलती रहती है।

राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त मुसलिम-समाज का संगठन भी, जिसकी ओर हम पिछले पृष्ठों में संकेत कर चुके हैं अधिक गहरे रूप में प्रजातन्त्रीय था। यहाँ तक कि, समय समय पर मुसलिम समाज के धर्माध्यक्षों—काज़ी, शेख़, वायज़, नासेह, आबिद, इत्यादि से भी साधारण लोग अपने वाक्-चातुर्य से लोहा लेते रहते थे। मुसलिम-समाज ने, यों भी, एक दूसरे में कोई भेदभाव नहीं रखा था और सबको ख़ुदा का बंदा बनाकर भ्रातृभाव की भावना गहरे रूप में प्रसारित की थी। इस भ्रातृभाव की भावना ने समाज में समता के विचारों को प्रश्रय दिया और जब समता का विकास हुआ तभी हास्य का भी जन्म एवं विकास सम्भव होने लगा। वर्ग-वैभिन्य से मुक्ति पाकर, मुसलिम समाज, विशेष रूप में हास्य-रस का संवर्धक हुआ। इस समता की भावना प्रजातन्त्रीय दृष्टि से इतनी गहरी थी कि कोई भी अपने वाक्-चातुर्य से किसी के भी 'मुँह लग सकता था'। मुसलिम-समाज का कोई भी ऐसा वर्ग न था जो सामाजिक रूप में, अछूत, अस्पृश्य, हीन अथवा निकृष्ट समझा जाता। सबको समान रूप में, मसजिद में, बन्दगी करने का अधिकार प्राप्त था और सामूहिक रूप में जीवन व्यतीत करने के अनेक अवसर सुलभ थे। जैसा कि हम संकेत रूप में कह चुके हैं इसाई समाज के समान ही मुसलिम समाज भी सामूहिकता को प्रश्रय देता रहा। और इसी सामूहिकता के आश्रय में हास्य की विचारधारा कभी मन्द और कभी तीव्र गति से प्रवाहित होती रही। मुसलिम-समाज की सामूहिकता ने, जहाँ एक ओर पारस्परिक स्नेह बन्धन जोड़े होंगे वहाँ अनेक रूप में ईर्ष्या और द्वेष की भावनाओं को भी प्रसारित किया होगा। और चूँकि बादशाही

दरबार की शिष्टता समाज पर आच्छादित थी, व्यक्तियों की द्वेष और ईर्ष्या की भावनाओं ने भी, एक दूसरे पर प्रहार करने के लिए, क्रोध और पाशविकता का आश्रय न लेकर, उपहास—व्यंग्य, कटाक्ष तथा आक्षेप का रूप लिया होगा।

ऐतिहासिक रूप में मुसलिम समाज जब ह्रासोन्मुख हुआ तब भी दरबार-दारी की प्रथा मिट न पाई। अपने ह्रास-काल में जो भी थोड़ा बहुत संभ्रान्त व्यक्ति था, अपने-अपने घर में छोटे-मोटे दरबार लगाने लगा; और वे व्यक्ति भी जिनमें प्राचीन अथवा ह्रासोन्मुख नवाबी वंश की बू शेष थी, अपने छोटे-मोटे दरबार लगा बैठे। यही नहीं, जिस किसी व्यक्ति में थोड़ी बहुत भी शिक्षा, मानसिक शक्ति, कुशाग्र बुद्धि तथा वाक्-पटुता थी, अपने कुछ साथियों को एकत्र कर समाज का आकर्षक अङ्ग बन गया। इसी परम्परा के अवशेषों की झाँकी हम अनेक नगरों में मुसलिम दूकानदारों की दूकानों अथवा गद्दियों पर देखेंगे जहाँ कुछ अवकाश-प्रेमी सतत मनोविनोद के लिए सायंकाल होते ही सजधज कर इकट्ठे हो जाते हैं और क़िस्से-कहानी, लतीफे, शेर व शायरी तथा आपस की छेड़छाड़ में हास्य-प्रदर्शित करते रहते हैं। इन वर्गों के मनोविनोदी संवादों में कहीं हमें वक्रोक्ति तथा कटूक्ति के दर्शन मिलेंगे, कहीं श्लेष रूप में कटाक्ष और आक्षेप दृष्टिगत होगा और कहीं सुदूर परिहास की छाया निकट आती हुई दिखलाई देगी। इसमें सन्देह नहीं कि कदाचित, मुसलिम-समाज ने ही सहज रूप में अपने ख़ुदा से 'शिकवा-शिकायत' 'हँसी और मज़ाक़' करने का अधिकार प्राप्त किया। मुसलिम समाज ख़ुदा का बन्दा तो था परन्तु प्रजातन्त्रीय भावनाओं का पोषक भी था। इसी कारण जहाँ वह ख़ुदा से बंदगी कर सकता था, वहाँ उसे 'बा अदब' अशिष्टता का भी अधिकार प्राप्त था। और इसी सम्बन्ध का निर्वाह उसने अपने धर्माध्यक्षों से भी किया।

जैसा कि हम पहले, तुलनात्मक रूप में स्पष्टतः कह चुके हैं मुसलिम परिवार भी प्रजातंत्रीय भावनाओं से व्यापक रूप में प्रभावित रहा जिसके फलस्वरूप परिवार के सभी व्यक्तियों में—बड़े अथवा छोटे में समता की भावना किसी न किसी अंश और किसी न किसी मात्रा तथा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रवाहित रही। पिता-पुत्र, भाई-बहन, चचा-भतीजे, इत्यादि जितने भी सम्बन्ध संभव रह सकते थे, सबमें प्रजातन्त्रीय विचारधारा अंतर्हित रही और जब-जब वह वेगवती हुई तब तब उसने हास्य-रूप ग्रहण किया। मुसलिम परिवारों के 'अदब' की भावना अथवा 'एख़लाक़' के विचार समानता के भावों को कुचलते नहीं, वरन केवल नियन्त्रित रखते हैं; वे औचित्य के

आवरण में शिष्ट-अनौचित्य को भी सुरक्षित रख सकते हैं। वास्तव में, यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो शाही दरबारों की छाया मुसलिम परिवारों पर अत्यन्त गहरे तथा व्यापक रूप में पड़ी थी। हुक्के की निगाली मुँह में दबाए हुए 'अब्बाजान'; पानदान से निकालकर, सुमधुर गति से सुपाड़ी काटती हुई 'अम्मीजान', 'ख़ालायें' और अदब से एक ओर बैठे हुए बड़े मियाँ तथा छोटे मियाँ इत्यादि 'दरबारे मुगलिया' की सुदूर छाया प्रस्तुत करते रहते हैं। और इसमें आश्चर्य ही क्या कि ऐसे समाज तथा ऐसे परिवार में हास्य की आत्मा अधिक मुखरित होती रहे।

मुसलिम राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था के उपरोक्त विवेचन के साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि मुसलिम समाज ने, अपने आदि काल से लेकर मुग़लवंश के अन्तिम परिवार के राज्य काल तक, विशेषतः नगरों तथा नागरिक जीवन से ही अपना सम्बन्ध स्थापित रक्खा। साधारणतः, उन्होंने अपने समस्त आचार-विचार, नागरिकता तथा नागरिक भावनाओं द्वारा ही संकलित किए। सामन्तवादी राजतन्त्र तथा समाज में ऐसी व्यवस्था एक प्रकार से अनिवार्य हो जाती है। मुग़लकालीन शासन तलवार के बल पर स्थापित किया गया था; और तलवार का ही ज़ोर उसे जीवित रखता रहा। चूँकि भारत में, गाँव दूर-दूर तक फैले हुए थे और यातायात के शीघ्र साधन नहीं के बराबर थे, नगरों का जीवन, बहुत कुछ रूप में अधिक नियन्त्रित, सुगठित तथा सुव्यवस्थित रहा। जिसका फल यह हुआ कि नगर की सीमा के अन्दर ही सभी ऐसे व्यक्ति जो सुशिक्षित अथवा संभ्रान्त थे, एकत्र हो गए। युद्धकाल को छोड़कर, और कभी-कभी युद्धकाल के अनन्तर भी नगरों का जीवन सुव्यवस्थित रहा और अवकाश की हानि नहीं होने पाई जिसके फलस्वरूप हास्य की आत्मा को विकसित होने का समुचित अवसर मिला। उस काल में साधारणतः, गाँव का जीवन अत्यन्त निम्न स्तर का था, और देहाती समाज को कोई भी नागरिक सुविधाएँ नहीं प्राप्त थीं और न उनसे उनका कोई गहरा आत्मीय सम्बन्ध ही था। देहातों के निम्न-स्तर का जीवन, यदि सम्भव होता, तो निम्नस्तर के ही हास्य को जन्म देता और जब कभी संभव हुआ वहाँ उसी प्रकार का हास्य भी दृष्टिगत हुआ।

मुसलिम राजतन्त्र के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण घटना यह घटी कि उसने मध्य वर्ग को जन्म दिया जिसने हास्य-रस को अत्यन्त व्यापक तथा विभिन्न रूप दिये। यह मध्य वर्ग अनेक व्यवसायों में संलग्न था। शाही जीवन तथा

दरबारी व्यवस्था ने अनगिनत व्यवसायों का श्री गणेश किया और समयानुसार उनका विकास होता गया। इस मध्यवर्गीय व्यवसायी-समाज के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा उचित लाभ उठाने के लिए वाक्-पटुता व्यवहृत करता तथा भाषा-क्षमता एवं शिष्ट व्यावहारिकता तथा आकर्षक वाणी अपेक्षित समझता। इसी आवश्यकता के फलस्वरूप, प्रयुक्त भाषा को अधिकाधिक विकसित, उन्नत तथा आकर्षक होने के अवसर प्राप्त होते रहे।

साहित्यिक रूप में भी मुस्लिम-समाज को अपनी प्रयुक्त भाषा के लिए अनेक उपयोगी स्रोत प्राप्त हुये। इनमें पहला स्रोत था अरबी साहित्य और दूसरा-फ़ारसी साहित्य। पुनर्जीवनकाल अथवा रेनसान्स[1] के समय अनेक यूनानी विचारकों की समस्त विशिष्ट तथा उपयोगी पुस्तकें अरबी के अध्यवसायी लेखकों ने अनूदित कर रक्खी थीं और कुछ समय पश्चात् लगभग सभी विषयों की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों का रूपान्तर भी अरबी में हो चुका था। पुनर्जीवन काल की प्रेरणा ने साहित्यकारों को देश-विदेश भ्रमण करने की प्रेरणा भी दी थी। कालान्तर में अरबी-साहित्यकारों का सम्बन्ध ईरान के साहित्यकारों से स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप फारसी भाषा में वह समस्त साहित्य जो अरबी में था, रूपान्तरित तथा अनूदित हुआ। अरबी गद्य ने, धीरे-धीरे, फ़ारसी गद्य को भी प्रवहमान किया और उसी के माध्यम द्वारा समस्त यूनानी ज्ञान, विज्ञान, फ़ारसी भाषा में सुरक्षित कर दिया गया। समय पाकर फ़ारसी भाषा अपने गद्य रूप का समुचित विकास करती गई। इन दोनों भाषाओं के विकसित रूप की पूर्ण छाया मुसलमानी समाज में प्रयुक्त भाषा पर व्यापक रूप में पड़ी। समाज में इस प्रचलित भाषा ने अरबी तथा फ़ारसी शब्दों, मुहावरों तथा वाक्य-विन्यासों से समुचित लाभ उठाया। और चूँकि मुसलिम समाज नागरिकता का प्रेमी था और उसका समस्त जीवन नागरिक भावनाओं से आच्छन्न था, उसकी भाषा ने भी नगर का वातावरण शीघ्र अपना लिया। इस भाषा का सुदूर प्रवाह उन गावों में भी हुआ जो नगरों के सन्निकट थे। मुग़लों के समय के बाद तक यह सामाजिक भाषा अपना विकास करती गई और फ़ारसी तथा अरबी गद्य-स्रोतों का आश्रय लेकर अपनी रूप रेखा स्थिर करती गई।

बहुत काल तक मुग़ल बादशाहों का समय देश में सुव्यवस्था लाने में व्यतीत होता रहा और मुग़ल सैनिक, जहां जहां वे गए और जहां जहां उनकी

---

१. देखिये—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'

चौकियाँ बनीं, अपनी यह भाषा साथ लेते गए और दैनिक आदान-प्रदान द्वारा उसे प्रवहमान बनाते गए। नागरिक जीवन के सम्पर्क में शीघ्र आकर इस भाषा ने अनेक नवीन शब्दों का संग्रह किया और उनके प्रयोगों को मान्य बनाया। यही कारण है कि भारतीय समाज में अनेकानेक दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं का नामकरण मुग़लों की प्रयुक्त भाषा द्वारा हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि अरबी भाषा में बहुत से ऐसे अक्षर एवं शब्द थे जिनके उच्चारण में गले की समस्त शक्ति लगानी पड़ती थी ; परन्तु जब वे फ़ारसी भाषा के शिकञ्जे में डाले गए तो उनकी बहुतसी मौलिक विशेषताएँ नष्ट हो गईं और वे दैनिक प्रयोग में ढ़ल गए। और इसी ढ़ली हुई गद्य शैली का प्रयोग भारतीय मुसलिम समाज तथा उनके निकट संपर्क में आनेवाले व्यक्ति मनोनुकूल करते गये। फ़ारसी भाषा के सम्पर्क में रहने के कारण भाषा की शैली में शब्द-संकलन तथा शैली का विकास ही नहीं हुआ वरन अनेक शब्दों ने फ़ारसी की गहरी छाया ग्रहण करके अपने को अधिक आकर्षक तथा शक्तिपूर्ण बनाया।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि गद्य का माध्यम ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हास्य अपने सहज रूप में मुखरित होता है; और मानवी-विचार के आदान-प्रदान का अत्यन्त शक्तिपूर्ण साधन रहता है। इसके माध्यम द्वारा जीवन की अनगिनत परिस्थितियाँ, अनगिनत विचार, अनेकानेक भावनाएँ अपना मनोनुकूल विकास करती हैं। मध्यवर्गीय समाज का तो यह प्राण रूप रहेगा। क्योंकि इसी के मनोनुकूल एवं समयानुकूल प्रयोगों द्वारा उनकी मानसिक समृद्धि बढ़ती है। इस सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या प्रचलित बोलियों द्वारा मानसिक समृद्धि नहीं होगी ? इसका सहज उत्तर यह है कि ग्रामीण तथा प्रादेशिक बोलियों की अनेक सीमाएँ रहती हैं; उन्हें कुछ ही लोग व्यवहृत करते हैं और उसका देशीय भाषा तथा नागरिक जीवन से सम्बन्ध बहुत कम रहता है और अपनी विशेषता के कारण वह नागरिक विशेषताओं से अछूता सा रहता है। सच बात तो यह है कि आदान-प्रदान होता तो दोनों ओर से है मगर बोलियाँ प्रायः अपनी छाप भाषा पर नहीं डाल पातीं और अपने कोष का संवर्धन नागरिक भाषा को अपने रूप में ढालकर करती रहती हैं। केवल बोलियों में ही सीमित रहना अर्ध-मुखरित रहना है और यह गुण मानसिक विकास में अधिक सहायक नहीं होगा; और जो बोली मानसिक विकास में पूर्ण सहयोग नहीं देती हास्य को पूर्णतः मुखरित करने में विफल रहेगी। परन्तु यह कहना कि बोलियों

द्वारा हास्य का प्रदर्शन होगा ही नहीं उचित नहीं क्योंकि बोलियों द्वारा हास्य प्रस्तुत तो अवश्य होगा परन्तु वह उच्चकोटि का न होगा; और उसका आनन्द कुछ ही व्यक्तियों और किसी एक वर्ग के ही व्यक्तियों को प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त हमें यह स्मरण रखना होगा कि बोलियों ने मूल भाषा के प्रवाह में पड़कर अच्छे कोटि का हास्य प्रस्तुत किया है जिसकी व्याख्या हम असंगति सिद्धान्त से अन्तर्गत व्यापक रूप में कर चुके हैं।

२

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो साधारणतः यह प्रमाणित होगा कि उर्दू काव्य तथा उर्दू गद्य दोनों में समान रूप से हास्य की आत्मा के निवास के लिए स्थान सुरक्षित है। प्रायः जितने श्रेष्ठ लेखक पद्य एवं काव्य-क्षेत्र में मिलेंगे उतने ही गद्य क्षेत्र में भी दिखलाई देंगे ; और दोनों ही क्षेत्रों में हमें हास्य के बहुल उदाहरण मिलेंगे। अमीर ख़ुसरो (जो उर्दू काव्य का सूत्रपात करते हैं) से लेकर 'जोश' मलीहाबादी तक के हास्य-प्रसारक कवि और सरशार से लेकर कन्हैयालाल तक गद्य-लेखकों की जो तालिका देखी जाय तो दोनों पक्ष बराबर बराबर रहेंगे। जहाँ एक ओर हमें विशिष्ट कवियों में ख़ुसरो जाफ़र, ज़टल्ली, सौदा, इंशा, रेख़्ती लेखक, नज़ीर अकबराबादी, गालिब, दाग़, रेयाज़, अकबर, 'ज़रीफ़' तथा जोश के नाम मिलेंगे वहाँ विशिष्ट गद्य-लेखकों में सरशार, सज्जादहुसेन, फ़रहतुल्लाबेग, अज़ीमबेग चग़ताई, मुल्ला रमूज़ी, रशीद अहमद सिद्दीक़ी, कृष्णचन्द्र, पतरस, शौकत थानवी, कन्हैयालाल तथा शाद आरफ़ी के नाम दिखाई देंगे। इन दोनों वर्गों के लेखकों में हमें हास्य के, व्यापक रूप में, सभी प्रकार के उदाहरण मिलेंगे। दोनों वर्गों ने ही हास्य के मूल तत्वोंको पूर्णतः हृदयंगम कर उनके आधार पर श्रेष्ठ हास्य करने प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और वे बहुत कुछ अंश में सफल भी हुये हैं। दोनों वर्गों में, जैसा कि स्वाभाविक है सबसे बड़ी समानता यह है कि दोनों ने ही अपने समकालीन समाज को ही आधार-रूप रख कर हास्य-प्रदर्शित किया। इसी कारण उनकी रचनाओं में हमें परिस्थिति-मूलक हास्य के अन्यान्य स्तर तथा शाब्दिक हास्य के अन्यान्य वर्गों के उदाहरण दृष्टिगत होंगे। प्रायः काव्य-लेखकों ने अरबी तथा फ़ारसी परम्पराओं के स्रोत से प्रेरणा ग्रहण की जो थोड़े बहुत अंश में आधुनिक कवियों की रचनाओं तक में भी परिलक्षित मिलेंगी। कवियों ने, जहाँ एक ओर अरबी साहित्य के हज्व लिखने की परम्परा के अनुकरण द्वारा अपनी रचनाओं को प्रेरणा दी वहाँ दूसरी ओर गद्य लेखकों ने फ़ारसी तथा अरबी वाक्य-विन्यास तथा शब्द-प्रयोग की परम्परा का अनुसरण किया।

ऐतिहासिक रूप में मान्य अमीर ख़ुसरो की पहेलियों, मुकरनियों, तथा दोसख़ुनों ने, उर्दू साहित्य में, शाब्दिक-हास्य का श्री गणेश किया जिनका हास्य-स्रोत, प्रायः श्लेष अथवा रूपक रूप रहता है। इस रूप में प्रदर्शित

हास्य की समीक्षा हम शाब्दिक हास्य सिद्धांत के अन्तर्गत सहज ही कर लेंगे। कहीं-कहीं हमें कदाचित्, जहाँ पंक्तियों के तुकों का सम्बन्ध है, आश्चर्य-मूलक भावना सिद्धांत का भी प्रयोग संभव होगा। इसमें संदेह नहीं कि अमीर ख़ुसरो का मूल ध्येय हास्य-प्रसार नहीं फिर भी जिस शाब्दिक रूप में हास्य के उदाहरण[1] उन्होंने प्रस्तुत किये वे महत्त्वपूर्ण रहेंगे।

---

१ 'बीसों का सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया।
"नाखून"
जल कर उपजे जल में रहे आँखों देखा 'खुसरो' कहे !
"काजल"

—

मुकरनी—'सिगरी रैन मोंहि सँग जागा।
भोर भई तब बिछुडन लागा॥
उसके बिछुड़े फाटत हिया।
क्यों सखि, साजन ? ना सखि—'दिया'
'सरब सलोना सब गुन नीका।
वा बिन सब जग लागे फीका॥
वाके सर पर होवे कान।
ए सखि साजन ? ना सखि—"लौन"
'वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय॥
मीठे लागे वाको बोल।
ए सखि साजन ना सखि—"ढोल"
'खीर पकाई जतन से, चरखा दिया चला।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा।
ला, पानी पिला।'
'गोश्त क्यों न खाया ? डोम क्यों न गाया ?' 'गला' न था
'जूता क्यों न पहना ? समोसा क्यों न खाया ?' 'तला' न था।
'अनार क्यों न चखा ? वज़ीर क्यों न रखा ?' 'दाना' न था।
'पण्डित क्यों पियासा ? गदहा क्यों उदासा ?' 'लोटा' न था।
'पण्डित क्यों न नहाया ? धोबिन क्यों मारी गई ?' 'धोती' न थी।
'सौदागर राच में बायद—बूचे को क्या चाहिए ?' 'दोकान'
तिश्ना राच में बायद—मिलाप को क्या चाहिए ?' 'चाह'
शिकार बचा में बायद करद क़ूवते मग़ज़ को क्या चाहिए ? 'बदाम'

साहित्यिक दृष्टि से, उर्दू कवियों का विशेष गुण यह रहा है कि प्रायःसभी ने केवल एक प्रकार के छन्द का प्रयोग किया है; और जहाँ तक सम्भव हो सका है इसी छन्द में अन्याय विषयों पर काव्य रचना की गई है। रीति कालीन हिन्दी कवियों के समान, जिन्होंने सवैया एवं कवित्त रूप में अपनी कविता मुखरित की, उर्दू कवियों ने केवल एक ही काव्य माध्यम का आश्रय लिया परंतु इस काव्य माध्यम की एक दूसरी विशेषता यह थी कि कवियों ने मानवी-प्रेम संबंधों को व्यक्त करने के लिए उसकी अपूर्व क्षमता प्रदर्शित एवं प्रमाणित की। परंतु इसमें भी सन्देह नहीं कि ग़ज़ल के माध्यम ने, जिसे उर्दू के समस्त कवियों ने सहज एवं व्यापक रूप में अपनाया, विषयाधार संकुचित कर दिया और गजल का माध्यम मूलतः मानवी तथा दैवी प्रेम की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और किसी अन्य रूप में प्रयुक्त होने में असमर्थ रहा। वास्तव में, ग़ज़ल का मूलरूप क़सीदा रहा है जिसके द्वारा श्रेष्ठ व्यक्तियों का अभिनन्दन किया जाता था और एक सम्पूर्ण वर्णनात्मक काव्य-कथा रूप में लिखा जाता था। समय तथा प्रयोग के आग्रह ने क़सीदा के अन्तर्गत ग़ज़ल को जन्म दिया और सम्बद्ध कथानक के स्थान पर स्फुट भावों का प्रकाशन होने लगा। यह स्फुट-भाव-प्रकाशन-व्यवस्था एक प्रकार से, काव्य के लिए तो हितकर हुई परन्तु अन्य दृष्टियों से, अनेकानेक मानवी भावनाओं को व्यक्त करने में विफल रही। इसी अक्षमता के निवारण के लिए उर्दू का आधुनिक काव्य अन्यान्य छन्दों का सहारा लेता है।

साहित्यिक रूप में मान्य कवि सौदा ने पहले पहल उर्दू काव्य में उपहासात्मक हास्य की परम्परा चलाई। उनका उपहास क्रूर, तीक्ष्ण, अशिष्ट तथा थोड़े बहुत अश्लील रूप में भी प्रस्तुत हुआ। इनकी रचनाओं का मूल उद्देश्य यही था कि व्यक्ति को समाज की दृष्टि में अत्यन्त निकृष्ट एवं हास्यास्पद बना दिया जाय। हज्व रूप में लिखित प्रायः चार हजार पंक्तियों की रचना उनके समकालीन व्यक्तियों के शारीरिक, मानसिक, अनैतिक कुरूपताओं एवं दुर्बलताओं पर आघात करती हुई अट्टहास प्रस्तुत करने का प्रयास करती हैं। इस हास्य का आधार मूलतः शारीरिक[1] है और अशिष्ट तथा अश्लील भावनाओं

---

१. (सौदा ने मीर ज़ाहिक की एक हज्व बहुत चुभती हुई भाषा में लिखी है। मीर ज़ाहिक को ज्यादा खाना खाने का मर्ज़ था। एक दिन उनके मित्र ने उनकी दावत की। खाना शुरू नहीं हुआ था, लोग बैठे बातें कर रहे थे और इतने में ही मौक़ा पाकर ज़ाहिक भंडारे में जा पहुँचे :)

का समावेश उनमें सहज ही होने लगता है।

'जाके मतबख़[1] पे यह पड़ा इस तरह
मैं बयां उसका अब करूं किस तरह
लाठियां लेले हाथ पीरो जवां
करते ही रह गए सभी हाँ! हाँ!
गोश्त, चावल, मसाल तरकारी
सब समेट उसने एक ही बारी
रख के कल्ले में कर गया सब चट
मुतलक़ उसने न मानी डांट, डपट
जिन है या आदमी है या क्या है
या कोई देव बौखलाया है
नहीं डरता यह लाठी-पाठी से
क्या करे लाठी इसकी काठी से।'

१. भण्डारा

मरियल घोड़े की हज्व में :—

ना ताक़ती का उसके कहाँ तक करूँ बयाँ,
फ़ाक़ों का उसके अब मैं कहाँ तक करूँ शुमार,
मानिन्द नक़शे नाल ज़मी से बजुज़ फ़ना
हरगिज़ न उठ सके वह अगर बैठे एक बार,
है इस क़दर ज़ईफ़ की उड़ जावे बाद से,
मेखें गर उस की थान की होवें न उसत्वार,
है पीर इस क़दर की जो बतलावे उसका सिन,
पहले वह ले के रेगे बयाबाँ करे शुमार,
लेकिन मुझे ज़रूए तवारीख़ याद है
शयताँ इसी प निकला था जन्नत से हो सवार,
पहिये इसे लगाओ की ता होवे यह रवां
या बादबान बाँधो पवन के दो अख़तियार,

'राजा नरपत सिंह का हाथी' :—

बदन पर अब नज़र आती है यूँ खाल
तनाबे सुस्त से खेमे का ज्यूँ हाल

सौदा के विपरीत इन्शा की रचनाओं में अशिष्ट एवं अश्लील को कहीं भी स्थान नहीं मिलता। यद्यपि उनका हास्य भी साधारणतः शारीरिक आधार ही अपनाता है फिर भी उस हास्य में कवि की तीक्ष्ण सुबुद्धि, परिकल्पना तथा शब्द-प्रयोग की क्षमता के उत्कृष्ट प्रमाण मिलेंगे। प्रेमियों के

नमूदार इस तरह हर उस्तख़ाँ है
गोया हर पसली उसकी नरदबाँ है
हुई है नातवानी उसके दरपै
की वह डील अब धुएँ की सी गिरह है।
समझना फ़ील उसे दीवाना पन है
किसी मुद्दत का यह बामे कोहन है
जो बैठे यह तो उठना है उसे दूर
लगें जब तक न उसको राज मज़दूर।

मदरसे के मास्टर की हालत :—

दिन को तो बेचारा वह पढ़ाया करे लड़के
सब खर्चे लिखे घर का अगर हिन्दसा ख़ाँ है
तिस पर यह सितम है कि निहाली तले उसके
लड़कों की शरारत से सदा ख़ार निहाँ है
भागे यह अमल कर जो वह शैतान का लश्कर
दिवाली को ले हाथ तआक़ुब में रवाँ है।

'शैदी फौलाद ख़ाँ कोतवाल'

किस तरह शहर का न हो यह हाल
शैदी फ़ौलाद अब जो है कोतवाल
चोर कब उसका ज़ोर माने है
काला बाल अपना उसको जाने है
हो यह कुतवाल तो वह माने ज़ोर
यह तो मच्छर की झोल का है चोर
उन से रिशवत लिये यह बैठा है
उसके दिल में यह चोर पैठा है
बाजों का मुफ़सिदों के जोर है यह,
चोर का भाई गट्ठी चोर है यह

प्रेमालाप, उनके विचित्र व्यवहार, असम्बद्ध-कार्य, असंगत विचार, आश्चर्यपूर्ण भावभंगी, इत्यादि पर कवि ने अपनी व्यापक दृष्टि रखी है। कवि में, कहीं कहीं शाब्दिक हास्य प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगत होती है; और उनकी रचनाओं में, शब्दों के उलट फेर तथा आश्चर्यजनक असम्बद्ध प्रयोगों के आकर्षक उदाहरण[1] मिलेंगे।

हास्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण परम्परा का दर्शन हमें नज़ीर अकबराबादी की रचनाओं में मिलेगा जहाँ कविने परिस्थिति मूलक हास्य के अतिरिक्त रूपक एवं दृष्टान्त रूपमें रोचक हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उनके हास्य का आधार न तो कोई व्यक्ति विशेष है और न उनकी शैली तथा दृष्टि-

---

गश्त जब उसका फिरता आता है
यही नरसिंघिया बजाता है।
सुन लो चोरों यह मुख़्तसर क़िस्सा
मुझ को भेज दीजिए हिस्सा।

(मीर तक़ी मीर भी इसी प्रकार की एक हज्व कहते हैं)

'यह मतबख़ मे पावे है जो कभी
चाट जाता है देगचे तक भी
खाना निकले पे आवे है कैसे
चील टूटे है गोश्त पर जैसे
खाने पर जब वह जी चलाता है
लाठी-पाठी भी खाए जाता है।'

१. मज़े ख़ूब लूटोगे क्यों शेख़ साहब,
मिलेंगे बहिश्ते बरी में अगर ।
पड़े उड़ते फिरियेगा जूँ काले कव्वा
कभी इस शजर पर कभी उस शजर पर ।

गाली सही, आदा सही, चीने जबीं सही,
यह सब सही पर एक नहीं की नहीं सही।
गर नाज़नीं के कहने से माना बुरा हो कुछ,
मेरी तरफ़ तो देखिये मैं नाज़नी सही ।

'क्या हँसी आती है मुझको हज़रते इंसान पर
फ़ेल बद तो ख़ुद करें लानत करें शैतान पर।'

कोण में क्रूरता का ही लेश है। प्रायः प्रेम-सम्बन्ध के अन्यान्य स्तर तथा प्रेम-संलाप के अन्यान्य दृष्टिकोणों पर कवि ने अपनी हास्यात्मक दृष्टि एकाग्र की है। पाखण्ड एवं गर्व एवं क्षुद्रता तथा तुच्छता जो व्यक्तियों को असंगत कार्यों में संलग्न कर देती है उनके हास्य के मूल आधार रहे हैं। प्रायः, जन्तु संसार का आश्रय लेकर रूपक रूपमें, कवि ने मानवी क्षुद्रताओं तथा मानवी असंगति पर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर हृदय ग्राही हास्य प्रस्तुत किया है।[1] साधारणतः यह ज्ञात होता है कि नज़ीर का हास्य शिक्षात्मक है और मूलतः सुधार की भावना से प्रेरित है।[2]

---

१. 'तरबूज़' 'ककड़ी, 'तिलके लड्डू', 'उमस', 'नारंगी', 'रोटियाँ', 'हंस'।

२. कितनो के महलों अन्दर है ऐश का नज़ारा
या साएवान सुथरा या बाँस का ओसारा
करता है सैर कोई कोठे का ले सहारा
मुफलिस भी कर रहा है पौले तले गुज़ारा
क्या क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें
जो इस हवा में यारो दौलत में कुछ बड़े हैं
है उनके सर पर छतरी हाँथी उपर चढ़े हैं
हम से ग़रीब गुरबा कीचड़ में गिर पड़े हैं
हाथों में जूतियाँ हैं और पाँएचे पड़े है
क्या क्या मची हैं यारो—

'सुबह जब बोल उठा मुर्ग़ा—सहर कुड़कू कूं।
उठ गए पास से वह रह गया मैं टुटरू टूं॥
आदम एक दमड़ी की हुकिया को रहे आजिज़ सदा।
हमको क्या क्या पेचवां और गुड़गुड़ी पर नाज़ है॥
ग़ौर से देखा तो अब यह वह मसल है ऐ नज़ीर।
बाप ने पिदड़ी न मारी बेटा तींरदाज़ है॥'

'अब तो ज़रा सा गाँव है बेटी न दे इसे
लगता था वरना चीन का दामाद आगरा।'
'चिकनी ज़मी पे या तईं कीचड़ है बेशुमार।
कैसा ही होशियार हो फिसले है एक बार।
नौकर का बस कुछ इसमे न आक़ा का अख़्तियार।

नज़ीर के ही समय से उर्दू साहित्य में एक ऐसी साहित्यिक परम्परा का जन्म हुआ जो कदाचित् संसार के किसी अन्य साहित्य में विदित नहीं। लेखकों का एक ऐसा वर्ग बन गया जिसने साधारणतः हास्य का सम्बन्ध नारी-समाज से प्रमाणित किया और हास्य-प्रदर्शन की एक नवीन शैली का निर्माण किया। इस शैली में विरचित साहित्य जिसे रेख्ती नाम मिला मध्य वर्ग के स्त्री-समाज के अनेक स्तरों से पूर्णतः सम्बन्धित है। यद्यपि इस शैली

कूचे गली में हमने तो देखा है कितनी बार।
आक़ा जो डगमगाया तो नौकर फिसल पड़ा।
कुचे में कोई औ कोई बाजार में गिरा
कोई गली में गिर के है कीचड़ में लोटता
रस्ते के बीच पांव किसी का रपट गया
उस सब जगह के गिरने से आया जो बच बचा
वह अपने घर के सहन में आकर फिसल गया"
'लज़्ज़तें जन्नत के मेवो की बहुत होंगी वहाँ।
वर ये मीठी गालियाँ खूबां की खानी फिर कहाँ।'
'जन्नत के लिए शेख़ जो करता है इबादत।
जब ग़ौर से देखा उसे मजदूर की सूझी॥'
'वो बज़्म अपनी थी मैकशो की फरिश्ते हो जाते मस्त बे खुद।
जो शेख़ जीवा से बचके आते तो फिर मैं उनको सलाम करता॥'
'हमारे मरने को हाँ तुम तो झूठ समझे थे,
कहा रक़ीब ने लो अब तो एतबार हुआ।'
'क़रार करके न आया वो संग-दिल काफ़िर
पड़े करार पर पत्थर ये कुछ क़रार हुआ।'
किसी से और तो कुछ बस चला न उसका नज़ीर,
निदान मेरे ही आकर गले का हार हुआ।'

'भला हुआ जो नक़ाब तूने उठाया चेहरे से ऐ परी रू।
वगरना सीने से दिल तड़प कर निगह में आकर मुक़ाम करता।'

'नज़ीर तेरी इशारतों से ये बातें गैरों की सुन रहा है,
वगरना किसमें थी ताबो-ताक़त जो मुझसे आकर कलाम करता।'

ने सफल हास्य प्रदर्शित किया है परंतु उसमें अश्लीलता का पुट अवश्यमेव कहीं न कहीं झलक जाता है। साधारण रूप में, यह समस्त हास्य शाब्दिक हास्य के अन्तर्गत ही रखा जा सकेगा क्योंकि हास्य का समस्त आधार नारी-वर्ग का दैनिक संलाप, आचार-विचार-प्रदान शैली तथा विवाद रहता है। मुस्लिम समाज की मध्यवर्गीय स्त्रियाँ, नाटकीय रूप में, जिस प्रकार एक दूसरे को सम्बोधित करती है और वार्तालाप करती हैं तथा विषयान्तर द्वारा लम्बी बहस छेड़ बैठती है उन सब का प्रदर्शन रेख्ती साहित्य में मिलेगा। चुनी हुई गालियों तथा अशिष्ट एवं अश्लील संकेतों की भी न्यूनता नहीं दृष्टिगत होगी। ऐसा ज्ञात होता है कि रेख्ती साहित्यकारों ने हास्य की सीमा इतनी परिमित कर दी कि उसमें अत्यधिक विकास की सम्भावना नहीं रही और यही कारण है कि कुछ लेखकों की प्रसिद्धि के पश्चात् अन्य लेखकों को न तो प्रसिद्धि ही मिल सकी और न रेख्ती साहित्य का विकास अथवा प्रचार ही सम्भव हुआ। परंतु इस सम्बन्ध में इतना कहना अवश्य समीचीन होगा कि रेख्ती में मुस्लिम समाज के मध्यवर्गीय स्त्रियों के दैनिक जीवन से सम्बन्धित रहन-सहन, आचार-विचार[१] इत्यादि पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। उनके संवाद की शब्दावली हमें विचित्र रूप में आकर्षित कर हास्य प्रस्फुटित करती है और इस हास्य की प्रमुख विशेषता यह है कि कथित नारी वर्ग की प्रत्येक स्त्री, अपने जीवन और व्यवसाय के अनुसार संवाद एवं विवाद करती हैं और प्रत्येक का अलग-अलग निजी व्यक्तित्व है। और इन्हीं विभिन्न व्यक्तियों के संघर्ष में हास्य निहित रहेगा। यह कहना कठिन होगा कि इस प्रकार के हास्य का लक्ष्य शिक्षात्मक है अथवा नहीं परंतु यह हास्य

१. कोई चाहत में किसी शख्स के बदनाम हो नौज
ए ददा जान! वह कमबख्त् बुरा काम हो नौज
मरदुआ मुझसे कहे है चलो आराम करें
जिसको आराम वह समझे हैं वह आराम हो नौज
दिन दिहाड़ा ही रहे जी तो बचे ऐ इंशा
कलमुही काली बला हाए वह फिर शाम हो नौज।'

× × ×

'—है न जोरू से अब तक खबर हुआ
कुरबान इस हया के बुआ साल भर हुआ।'

'बाम्हन यह मुझसे कहता है पोथी विचार के,
......................तीन चार के।'

अवश्य कहलाएगा। सआदत यार खां 'रंगीन', इंशा, मीर अख़्तियार जान 'जान साहब', इस शैली के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

कदाचित्, उन लेखकों में जिन्होंने हास्य को मानसिकता एवं परिहास से सम्बन्धित किया, महाकवि ग़ालिब का स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। ग़ालिब ने भी अपनी कविता के लिए ग़ज़ल के माध्यम को अपनाया और मानवी प्रेम तथा आसक्ति के विषयाधार पर हास्य रस का प्रसार किया[1]। प्रेम तथा आसक्ति के अन्यान्य मनोवैज्ञानिक स्तरों पर कवि ने अपनी तीव्र दृष्टि डाली है और बहुत कुछ अंशों में, करुण रस का भी परिपाक किया है। ग़ालिब ने,

---

१. 'उन पे कुछ ऐसी बन आए कि बिन आए न बने।'
'हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन'
दिलके ख़ुश करने को ग़ालिब य ख़याल अच्छा है।'

—

'क़र्ज़ की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हाँ।
रंग लाएगी हमारी फ़ाक़ा मस्ती एक दिन'

—

'चाहते हैं ख़ूबरूओं को असद आपकी सूरत तो देखा चाहिए'

—

'कहाँ मैख़ाने का दरवाज़ा ग़ालिब और कहाँ नासेह।'
पर इतना जानते हैं कल वह जाता था कि हम निकले।'

—

'कहा तुमने कि क्यों हो ग़ैर से मिलने में रुसवाई
बजा कहते हो, सच कहते हो, फिर कहियों कि हाँ क्यों हो।

—

'मैं जो कहता हूँ कि हम लेंगे कयामत में तुम्हें
किस रऊनत से वह कहता है कि हम हूर नहीं।'

—

'बहरा हूं मैं तो चाहिए दूना हो इल्तेफ़ात
सुनता नहीं हूँ बात मुक़र्रर कहे बग़ैर।'

—

ग़ालिब वज़ीफ़ा ख़्वार हो दो शाह को दुआ,
वह दिन गए कि कहते थे नौकर नहीं हुँ मैं,

शाब्दिक हास्य के अन्तर्गत, श्लेष तथा वक्रोक्ति का श्रेष्ठ प्रयोग किया है। यद्यपि यह विचार संगत जान पड़ता है कि कवि ने भाषा तथा समाज में प्रचलित शाब्दिक परम्पराओं का अनुसरण करते हुए, रूढ़िगत वक्रोक्ति तथा अन्याय नूतन मुहावरों तथा शब्द प्रयोगों को प्रश्रय 'दिया परन्तु उनके पत्रों में जहाँ उन्होंने दैनिक जीवन की समस्याओं पर विचार किया है, समकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है तथा जो निजी प्रश्न उठाए हैं उन सब में हास्य की शुभ्र आभा मानसिकता का आवरण पहने प्रस्फुटित होती रहती है। इस प्रकार के हास्य का स्रोत न तो हमें ग़ालिब के

की मेरे क़त्ल के बाद उसने जफ़ा से तौबा,
हाए उस ज़ूद पशीमाँ का पशेमां होना।

'ग़ालिब की फ़ाकामस्तियाँ अल्लाह की पनाह
खाता है सूखे टुकड़े भिगोकर शराब में।'

'मय से ग़रज़ निशात है किस रूसियाह को
एक गूना बेखुदी मुझे दिन रात चाहिए।'

'क़ासिद के आते आते ख़त इक और लिख रखूँ,
मैं जानता हूँ वह जो लिखेंगे जवाब में।'

'इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के।'

'पूछते हैं वह कि ग़ालिब कौन है
कोई बतलाओ कि हम वतलायं क्या।'

'इन आबलों से पाँव की घबरा गया था मैं
जी खुश हुआ है राह को पुरख़ार देख कर'

'हरेक बात पे कहते हो तुम कि 'तू क्या है'!
तुम्ही कहो कि यह अंदाज़े गुफ़्तगू क्या है।

पूर्ववर्ती लेखकों सौदा तथा नज़ीर में मिलता है और न उस कोटि के उदाहरण भावी लेखकों में अधिकतर मिलते हैं। ग़ालिब के भी हास्य का लक्ष्य शिक्षात्मक नहीं ज्ञात होता। परन्तु मानसिक क्षेत्र से सम्बन्धित रहने के कारण, उसकी आकर्षक प्रभावोत्पादकता में किञ्चित् मात्र भी संदेह नहीं। और जब कभी ग़ालिब का हास्य करुण का सहगामी बन जाता है तो छलकते हुए आँसुओं में हास्य झलकता है और विहँसित आंखों में आंसू छल छला आते हैं। ग़ालिब का हास्य मानवता का पूर्ण प्रतीक है।

ग़ालिब के पश्चात् दाग़[1] की रचनाओं में हमें शाब्दिक-हास्य के बहुल उदाहरण मिलेंगे। दाग़ वक्रोक्ति के श्रेष्ठ कलाकार हैं और मानवीय मनोभाव, विचार, इच्छा इत्यादि के क्षेत्र में उनकी वक्रोक्ति अधिक निखर उठती है।

'बक रहा हूँ जूनूँ में क्या क्या कुछ,
कुछ न समझे ख़ुदा करे कोई।

'इस सादगी पे कौन न मर जाय ऐ ख़ुदा
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं।'

'नज़र लगे न कहीं उनके दस्तो-बाज़ू को,
ये लोग क्यों मेरे ज़ख़्मे जिगर को देखते हैं।'

'धौल धप्पा उस सरापा नाज़ की आदत नहीं
हम ही कर कर बैठे थे ग़ालिब पेश-दस्ती एक दिन'

'असद ख़ुशी से मेरे हाथ-पाँव फूल गए;
कहा जो उसने ज़रा मेरे पाँव दाब तो दे।'

'दे मुझको शिकायत की इजाज़त कि सितमगर
कुछ मुझको मज़ा भी मेरे आज़ार में आए।'

'दिल तो लेते हो मगर देख लो टूटा-फूटा,
यह न हो कहीं पीछे से बखेड़ा निकले।'

---

१. 'दाग़ को देख के बोले ये शख़्स।
आप ही आप जला जाता है।'

इस शाब्दिक हास्य की विशेषता यह है कि न तो इसमें अश्लीलता है और न कहीं अशिष्टता का संकेत मिलता है। दाग़ की ग़ज़लों में रोमाञ्चक भावना एक नये रूप में अवतरित होती है जो हास्य का सहज कारण बन जाती है। प्रायः उनकी ग़ज़लों में, प्रेमी अपने प्रेयसी के विरुद्ध न तो हार मानता है और न घुटने टेकता है। उसका भी एक तेवर रहता है जिसकी पृष्ठभूमि में असंगति के दर्शन कर हम हास्य प्रदर्शित करने लगते हैं। दाग़ द्वारा प्रदर्शित हास्य के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक होगा कि उनका हास्य श्रेष्ठ परिहास को अधिक नहीं छूता। वक्रोक्ति रूप में प्रस्तुत रहने के कारण उसकी

'लोग कहते है बना दिल्ली बिगड़कर लखनऊ।
पै कहाँ यह दाग़ उस उजड़े हुए घर का जवाब।

'दिल को इस आजिज़ी से देता हूँ,
कोई जाने सवाल करता हूँ।'

'आके बाजार मुहब्बत में जरा सैर करो,
लोग क्या करते हैं, क्या लेते हैं, क्या देते हैं।'

'देखते ही मुझे महफिले में उन्हें ताब कहाँ,
खुद खड़े हो गए कहते हुए बाहर! बाहर!

'हम बावफ़ा है यह किसी नादान से कहो
ईमान की जो बात है, ईमान से कहो।'

'क़त्ल दुश्मन का नहीं मुश्किल बहुत आसान है,
चाहिए इक दोस्त मुझसा दिल बढ़ाने के लिए।'

'आ गया कुछ याद दिल भर आया आँसू गिर पड़े।
हम न रोए थे तुम्हारे मुस्कुराने के लिए।'

'मस्जिद में बुलाता है हमें ज़ाहिदे नाफ़हम,
होता अगर कुछ होश तो मैख़ाने न जाते।'

समीक्षा हम शाब्दिक हास्य सिद्धान्त के अन्तर्गत ही समुचित रूप में कर सकेंगे।

प्रेम—संलाप के आधार पर हास्य प्रदर्शित करने वाले अन्य कवियों में रेयाज़ तथा अजीब, जो कदाचित् विशेष रूप में प्रतिष्ठित नहीं, के नाम

'कोई नामोनिशां पूछे तो ऐ क़ासिद बता देना,
तख़ल्लुस दाग़ है वह आशिक़ों के दिल में रहते हैं।'

'दिल चुरा कर आप तो बैठे हुए हैं चैन से,
ढूँढने वालों से पूछे कोई क्या जाता रहा।'

'रहती है कब्र बहारे जवानी तमाम उम्र,
मानिन्द बूए गुल इधर आई उधर गई।'

'ख़ूब पर्दा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं,
साफ़ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं।'

'रुख़े रोशन के आगे वो शमअ रख कर ये कहते हैं,
उधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है।'

'पूछे कोई मिज़ाज तो अल्लाह रे ग़रूर,
कहते नहीं है शुक्र है परवरदिगार का।'

'ग़ज़ब है देखना उस सादगी पर मर गए लाखों,
कहा था किसने बन बैठे वोह मेरे सोगवारों में।

'इस गिरफ्तारी पर अपनी मैं निसार,
लो वो करते हैं निगहबानी मेरी।

'साथ शोख़ी के कुछ हिजाब भी है।'
इस अदा का कोई जवाब भी है।'

उल्लेखनीय हैं। रेयाज़ ने दाग़ के समान ही, प्रेम सम्बन्धों में, प्रेमी के पद की प्रतिष्ठा का निर्वाह किया; और प्रेम—प्रांगण में उसे गर्वपूर्ण तथा संतुष्ट रूप में प्रदर्शित किया। इस रूप में प्रदर्शित हास्य में भी अशिष्टता एवं अश्लीलता नहीं है परन्तु वक्रोक्ति[1] की बहुलता है जिसके कारण हास्य का मूलाधार शाब्दिक प्रयोगों तक ही विशेष रूप में सीमित रहता है।

हास्य-क्षेत्र में, ग़ालिब के पश्चात्, कदाचित महाकवि अकबर ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें हास्य की आत्मा अपने सम्पूर्ण रूप में मुखरित हुई है। अकबर ने मानव जीवन से सम्बन्धित कदाचित् ही कोई ऐसा अंग हो जिस पर हास्य की प्रखर छटा न छिटकाई हो। राजनीति, समाज, नैतिकता, धर्म,

---

'हाथ बाँधे हुए अग़यार के साथ आओगे
हम दिखा देंगे मज़ा रोज़े जज़ा याद रहे,
क्या सुनाते हो कि है हिज्र में जीना मुश्किल,
तुमसे बेरहम पे मरने से तो आसां होगा।'

———

१—'रेयाज़'—'जनाब शेख उलझते है किस तअल्लुक पर,
यह दुख्ते रज़ के कोई रिश्तेदार भी तो नहीं।'

———

'चुप से हैं वह मेरी आग़ोश में कुछ हश्र के दिन,
यह वही हैं जिन्हें पैमाने वफ़ा याद नहीं।'

———

'वह आ रहा है असा टेकता हुआ वाएज़,
वहा दे इतनी कि साक़ी न कहीं थाह मिले।'

———

'बाद एक उम्र के मैख़ाने में आए हैं रेयाज़,
आप बैठे हैं बचाए हुए दामन कैसा।'

———

'नोची दाढ़ी ने आबरू रख ली,
क़र्ज़ पी आए एक दूकान से आज।'

———

'हमारी नज़र शेख पर हश्र में थी,
वह सर पर लिए हौज़े क़ौसर न निकले।'

———

राष्ट्रीयता, दर्शन,—सभी क्षेत्रों में कवि ने अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक हास्यकी प्रतिष्ठा की है। उनके समकालीन जीवन में जो भी विचारधारा अथवा सामाजिक आदर्श प्रचलित थे, वे सबको हास्य के क्षेत्र में सहज ही ले आए। उन्नीसवीं के अन्त तथा बीसवीं शती के आरम्भ से भारतीय समाज ने यूरोपीय तथा अंग्रेज़ी सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, पारिवारिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनाना आरम्भ कर दिया था। अंग्रेज़ी राजनीति अपने उत्कर्ष पर थी और भारतीय राष्ट्रीयता उससे संघर्ष करने के लिए धीरे धीरे गतिशील हो रही थी। अंग्रेज़ी शिक्षादर्शों से अभिभूत, फैशनग्रस्त भारतीय समाज इस संघर्ष के प्रति सशंकित एवं आकर्षित था। भारतीय राष्ट्रीयता अंग्रेज़ी साम्राज्य की राज्यवादिता के सम्मुख सिर उठा रही थी और उसे विफल बनाने के लिए अंग्रेज़ी शासक 'बाँटो और राज्य करो' का सिद्धान्त अक्षरशः प्रयुक्त कर रहे थे और हिन्दू-मुसलिम विरोध एवं वैर की अग्नि सुलगा रहे थे। भारतीय समाज, अंग्रेज़ी सामाजिक आदर्शों की ओर तृषित नेत्रों से देख रहा था; धर्म और धर्माध्यक्षों की मर्यादा धीरे धीरे गिर चली थी; और ऐसी ही विषम राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति में अकबर जैसे कवि का जन्म हुआ।

जीवन की इस व्यापक विभिन्नता एवं संघर्ष को सफल रूप में प्रदर्शित करने के लिए महाकवि अकबर ने अपने काव्य के कुछ नवीन रूप भी स्थिर किए। स्फुट शेर, चार पंक्तियों के छन्द, छोटी तथा बड़ी कविताओं में तथा ग़ज़लों के माध्यम द्वारा उन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा प्रदर्शित की। साधारणतः, उन्होंने उपहास[१], व्यंग्य[२], कटाक्ष[३], आक्षेप[४], श्लेष[५],

---

१ 'बुद्धू मियाँ भी हज़रते गाँधी के साथ हैं
गो मुश्ते-ख़ाक हैं मगर आँधी के साथ हैं।'

२ 'मेरा टट्टू जियादा मशरिकी है शेख़ साहेब से
कि वे मोटर पर चढ़ते हैं य मोटर से भड़कता है'

३ 'तोप खिसकी प्रोफ़ेसर पहुँचे
जब बसुला हटा तो रन्दा है'

४ 'छेड़ो न कमानो को न तलवार निकालो
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।'

५ 'सर' हो गए तो 'बाल' का भी शौक हो गया।'
'शेख जी घर से न निकले और यह कहला दिया
आप बी० ए० पास हैं तो बन्दा बीबी पास है।'

वक्रोक्ति[1], तथा रूपक के अत्यन्त उत्कृष्ट प्रयोगों द्वारा अट्टहास से लेकर परिहास[2] तक प्रदर्शित किया है। उन्होंने, अंग्रेज़ी शिक्षा, अंग्रेज़ी विद्यार्थी जीवन, अंग्रेज़ी फ़ैशन, अंग्रेजी आचार विचार, वेष—भूषा, भाषा इत्यादि सफल रूप में उपहसित किया है। उन्होंने धर्म और दर्शन भी अछूते नहीं छोड़े और 'महान

---

१ 'बे परदा नज़र आईं जो कल चन्द बीबियां
अकबर ज़मी में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया
पूछा जो उनसे—'आपका पर्दा कहाँ गया ?
कहने लगीं कि अक्ल पर मर्दों की पड़ गया।'

'तिफ्ल में बू आए क्या मां, बाप के अतवार की
दूध तो डब्बे का है तालीम है सरकार की।'

---

२ 'जो कहा मैंने कि, प्यार आता है मुझको तुम पर'
हंसके कहने लगे 'और आपको आता क्या है।'

'मालगाड़ी पै भरोसा है जिन्हें ऐ अकबर
उनको क्या ग़म है गुनाहों की गिरांबारी का।'

'ख़ुदा की राह में बेशर्त करते थे सफर पहले
मगर अब पूछते हैं 'रेलवे इसमें कहाँ तक है।'

'मय भी होटल में पियो, चन्दा भी दो मस्जिद में,
शेख़ भी ख़ुश रहे शैतान भी बेज़ार न हो,

'ऐश का भी ज़ौक़ दींदारी की शुहरत का भी शौक़
आप म्युज़िक हाल में कुरआन गाया कीजिए।'

'मग़रिबी जौक़ है और वक्त की पाबन्दी भी,
ऊँट पर चढ़के थियेटर को चले हैं हज़रत।'

दिल लिया है जिसने हमसे दिल्लगी के वास्ते,
क्या तअज्जुब है जो तफ़रीहन हमारी जान ले!'

इस्लामी साम्राज्य-स्थापन' के प्रचलित आदर्शों को उन्होंने अपने कठोर व्यंग्य का शिकार बनाया; और तीव्र वक्रोक्ति के प्रयोग से ऐसे आदर्शों को नितान्त हीन एवं अराष्ट्रीय एवं अमानवी घोषित किया। इसमें अत्युक्ति नहीं कि भारतीय समाज से सम्बन्धित कदाचित् ही कोई ऐसा विषय हो जिसपर अकबर ने अपनी हास्यपूर्ण दृष्टि न डाली हो। वे समस्त मानवी विचार के श्रेष्ठ हास्यपूर्ण

'कर दिया कर्ज़ान ने ज़न मर्दों की सूरत देखिए,
आबरू चेहरे की सब फैशन बता कर पूँछ ली।'

'सिधारे शेख़ काबे को हम इंगलिस्तान देखेंगे,
वह देखे घर ख़ुदा का हम ख़ुदा की शान देखेंगे।'

'उनसे बीबी ने फ़क़त स्कूल की ही बात की,
यह न बतलाया कहाँ रखी है रोटी रात की।'

'हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले जब्ती समझते हैं
जिन्हें पढ़पढ़ के लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।'

'मज़हब छोड़ो, मिल्लत छोड़ो, सूरत बदलो, उम्र गँवाओ,
सिर्फ क्लर्की की उमीद और इतनी मुसीबत तोबा! तोबा।'

'ख़ुदा जाने वह क्या समझे कि बिगड़े इस क़दर मुझ पर,
कहा था मैंने इतना ही मुझे कुछ अर्ज़ करना है।

'बाद मरने के मेरी क़ब्र पर आलू बोना
ता वह समझें कि ज़रा चाट के शौक़ीन भी थे।'

'दाढ़ी ख़ुदा का नूर है बेशक मगर जनाब,
फ़ैशन के इन्तज़ामे सफ़ाई को क्या करूँ।'

'आशिक़ी का हो बुरा इसने बिगाड़े सारे काम
'हम तो बी० ए० रह गए अग़यार बी० ए० हो गए!'

कलाकार हैं। अकबर के काव्य को यदि लक्ष्य की दृष्टि से देखा जाय तो हमें सुधार की भावना स्पष्टतः इङ्गित होगी। भारतीयता, भारतीय राष्ट्रीयता, आत्मनिर्भरता तथा हिन्दू मुसलिम बन्धुत्व के वे विशिष्ट प्रचारक तथा प्रतिपादक हैं।

उपरोक्त आधारों पर हास्य-प्रसार के लिए अकबर ने एक अत्यन्त आकर्षक शैली का भी प्रयोग किया। उर्दू वाक्य विन्यास में अंग्रेज़ी शब्द कहीं कहीं ऐसे जगमगाते हैं कि हास्य अनिवार्य हो जाता है। उनके छन्दों में तुकों की सहज आवृत्ति, आकस्मिकता तथा नूतनता उपहासात्मक हास्य को तीव्र करने में बहुत सहयोग देती है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय जनता की विवशता पर हास्यपूर्ण दृष्टि डालते हुए वे करुणार्द्र हो उठते हैं और परिहास की सीमा सहज ही छू लेते हैं।

'शेखज़ी के दोनों बेटे बाहुनर पैदा हुए
एक हैं ख़ुफ़िया-पुलिस और एक फांसी पा गए।'

'हज़रते आदम बक़ौले डार्विन थे बुज़ना,
हो यक़ीं हमको गया युरोप के ईंसा देखकर।'

'डार्विन साहेब हक़ीकत से निहायत दूर थे
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे।'

'चार दिन की जिन्दगी में कोफ़्त से क्या फ़ायदा
खा डबल रोटी, क़्लर्की कर, ख़ुशी से फूल जा।'

'अकबर दबे नहीं कभी सुल्तां की फौज से
लेकिन शहीद हो गए बी० बी० की नौज से।'

'जो ख़त पहुँचे मेरा उस दिलरुबा को,
ख़ुदा डिप्टी कलेक्टर करे चिट्ठीरसा को।'

'क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।'

आधुनिक काल में उर्दू साहित्य के हास्य-प्रसारक गद्य लेखकों ने जिन्होंने अपनी हास्यपूर्ण रचनाओं के कारण लोकप्रियता पाई उनमें उनमें ज़रीफ, फरहतुल्ला बेग, अज़ीम बेग चुग़ताई, मुल्ला रमूज़ी, रशीद अहमद सिद्दीकी, पतरस, शौकत थानवी तथा कन्हैयालाल कपूर के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन समस्त लेखकों ने मध्यवर्गीय परिवार के दैनिक जीवन, उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं, उनके जीवन की विषम परिस्थितियों, उनके हास्यस्पद विचारों तथा दृष्टिकोणों पर हास्यपूर्ण दृष्टि डाली है। ये लेखक वास्तव में हास्य के अनेक आकर्षक स्तरों के परिचायक हैं जिनका मूल स्रोत उनके मानसिक दृष्टिकोण में अन्तर्हित है।

'बेपास के तो सास की भी अब नहीं है आस,
मौफ़ूक़ शादियाँ भी हैं अब इम्तहान पर।'

'फिरंगी से कहा पेन्शन भी लेकर बस यहीं रहिये,
कहा जीने को आए हैं यहाँ मरने नहीं आए।'

'वो मिस बोलीं मैं करती आपका ज़िक्र अपने फ़ादर से,
मगर आप अल्ला-अल्ला करता है 'पागल का माफ़िक है।'

'शौक़े लैलाए सिविल सर्विस ने मुझ मजनून को,
इतना दौड़ाया लंगोटी कर दिया पतलून को।'

'बूट डासन ने बनाया, मैंने एक मजमूं लिखा,
मुल्क में मज़मूं न फैला और जूता चल गया।'

'जान शायद फरिश्ते छोड़ भी दें—
डाक्टर फ़ीस को न छोड़ेंगे।'

'फिटन नफीस, सड़क खुशनुमा, डिनर हर शब,
ये लुत्फ छोड़ के हज का सफ़र यह ख़ूब कही।'

'किस्सए मंसूर सुनकर बोल उठी वह शोख़ मिस—
कैसा अहमक़ लोग था—'पागल को फांसी क्यों दिया।'

उपरोक्त लेखकों की रचनाएँ, कहानी, लघु-कथा, लेख, वक्तृता, इत्यादि अनेक रूपों में हास्य की प्रमुख स्रोत हैं और उनकी लोकप्रियता बढ़ा रहीं हैं। कुछ ने जर्जर सामन्तवाद के ध्वसावशेषों पर तीव्र दृष्टि डाली है और उनकी मान्यताओं को अत्यन्त हास्यास्पद ठहराया है। आधुनिक युग के युवकों की शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं और विषम मनस्थितियों को उन्होंने अत्यन्त तीक्ष्ण हास्य का आधार बनाया है। कुछ ने तो दैनिक जीवन को कुछ ऐसे विशेष रूप में देखा है कि उस दृष्टि से हम अपने को नहीं देख पाते और दैनिक जीवन की उन घटनाओं को इस अपूर्व दृष्टिकोण से परखा है कि हम उन्हें साधारणतः उस दृष्टिकोण से नहीं परख पाते। पारिवारिक संबंधों का तो उन्होंने अत्यन्त आकर्षक परन्तु हास्यपूर्ण खाका खींचा है और उनकी बात भुलाए नहीं भूलती। सफ़र के लिए 'मय सरो सामान के' निकलती हुई स्त्रियाँ जो पर्दे में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करती आई हैं; युवाओं के युवती-सुलभ विचार, व्यवहार तथा वेश-भूषा, शरारती बालकों की स्कूली समस्यायें, इत्यादि सभी पहलुओं पर उन्होंने अपनी हास्यपूर्ण दृष्टि फेंकी है और अत्यन्त रुचिकर हास्य प्रस्तुत किया है।

ज़रीफ लखनवी ने पद्य तथा गद्य रूप दोनों में ही अपनी हास्य-प्रियता का परिचय दिया है और ग़ज़ल में तो कम परंतु अपनी लम्बी कविताओं में उन्होंने मध्यवर्गीय परिवार की विचित्रताओं पर एक विशेष दृष्टि रखकर अपने वर्णन की सादगी, मुहावरों की छटा और यथार्थ प्रियता को हास्य का सफल माध्यम बनाया है। उन्होंने उर्दू काव्य-क्षेत्र में, शाब्दिक एवं सामाजिक हास्य दोनों ही सफल रूप में प्रस्तुत किया है और उनकी प्रतिभा, विशेषतः समाज के आचरण तथा नगरों एवं गाँवों के जीवन के संघर्ष पर विचार करने में अधिक संलग्न रही है। मानवी समाज के अन्याय छोटे-मोटे अवसरों और सामाजिक द्वन्द्वों पर उन्होंने अपनी उपहासात्मक दृष्टि एकाग्र की है। चरित्र-चित्रण करते समय उनका उपहास अधिक स्पष्ट होने लगता है। उर्दू एवं हिन्दी के मिश्रण तथा बोलियों से लिए हुए शब्दों के प्रयोग द्वारा शाब्दिक हास्य प्रदर्शित हुआ है। कदाचित ज़रीफ़ की विशेषता यह है कि उन्होंने विषय तथा भाषा के सामञ्जस्य का विशेष ध्यान रक्खा है और खड़ी बोली तथा ग्रामीण बोलियों[1] के बहुल

१—'हम एहै नरिया प एक दिन बइठ के मूता जरा का कही हो, झटदों चलान हमरा होए गवा जब कोऊ लिम्बर न आवा और न पूछिस का भवा हस कचहरी मा मजिट्टर से उजुर दारी किया, मुग्दमा झूठा है हममें यह बूता नाहीं, सच कहीं मरनी-सपट्टी पर कभौं मूता नाहीं।'

प्रयोग द्वारा अपनी ग़ज़लों तथा वर्णनात्मक कविताओं[२] में हास्य प्रस्तुत किया है।

२—'थीं जिनके साथ औरतें उनका न पूछो हाल,
ले जाना और लाना था एक जान का वबाल,
सीढ़ी से उनको लेके उतरना था एक कमाल,
बे पर्दगी का ध्यान न परदे का कुछ ख्याल,
यह परदादारी जान के ऊपर अजाब थी,
इन औरतों से मरदों की मिट्टी खराब थी,
कहती थी कोई—'लो! मेरा बुरक़ा अटक गया
हय! हय! नया था! तीन जगह से मसक गया',
'साहेब संभालो सर से दुपट्टा! सरक गया'
'लो पायँचा उलझ गया मक़ना सरक गया'
'क्या गत बनी है सबकी निगोड़े जहाज़ पर'
'फिसलन है किस ग़जब की निगोड़े जहाज़ पर'
'लो बीबी पान दान का ढ़कना भी गिर गया'
'आफ़त पड़े जहाज़ के कत्था भी गिर गया'
'तौबा है मेरे बच्चे का बबुआ भी गिर गया।'
'ए, लो, निगोड़े तोते का पिंजड़ा भी गिर गया'
कश्ती पे बकुची रह गई! हय! हय! ग़ज़ब हुआ'
'लोगो मेरे मुकाबे की डिबिया किधर गई'
'कजलौटी मेरे बच्चे की खाला किधर गई'
'बाजी बताओ लड़की की अन्ना किधर गई'
'खेलेगी बच्ची काहे से गुड़िया किधर गई'
'चीजों पर पानी फिर गया कैसा सितम हुआ?'
'लो मेरा बटुआ गिर गया कैसा सितम हुआ।'

'क्या छोटी सीढ़ियां हैं निगोड़ी खुदा की मार'
'ऐसा जहाज़ नौज हो दरगोर दूर पार'
'हिलती भी हैं निगोड़ियां जिनको नहीं क़रार'
'रस्सी में डंडे बाँध दिए हैंगे पांच चार'
'ज़ीना निगोड़मारों ने कैसा बनाया है?'
'यह तो मुओं ने नट का तमाशा बनाया है।'
('सफ़रनामए इराक़')

परन्तु जिन कवियों ने तीव्र व्यंग्य तथा तीक्ष्ण उपहास का उत्कृष्ट प्रयोग किया है उनमें 'जोश' मलीहाबादी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कदाचित महाकवि अकबर के बाद जिस उपहासात्मक शैली का प्रयोग 'जोश' ने किया है उतना किसी अन्य कवि में दृष्टिगत नहीं होगा। 'जोश' ने साम्राज्यवाद तथा धार्मिक पाखंड को अत्यन्त तीव्र रूप में उपहसित किया है। एक ओर जहाँ महाकवि अकबर ने धर्माध्यक्षों की असमर्थता पर परिहासात्मक दृष्टि डाली है वहाँ 'जोश' मलीहाबादी ने धर्म और धर्माध्यक्षों के पाखंड के विरुद्ध तीव्र व्यंग्य का प्रयोग किया है। अपनी ग़ज़लों में, विशेषतः लम्बी वर्णनात्मक कविताओं में, उन्होंने धर्म के ठेकेदारों, मुल्ला तथा मौलवियों, वायज़, तथा नासेह ज़ाहिद तथा शेख़, क़ाज़ी तथा आबिद, सब पर व्यंग्य बाण बरसाये हैं। प्रगतिशील विचारों के अभिभावक होने के कारण जोश ने राजतन्त्र तथा साम्राज्यवाद को अत्यधिक उपहसित किया है। साधारणतः, ऐतिहासिक रूप में, यह सत्य जान पड़ता है कि बादशाहों तथा नरेशों ने अपनी सत्ता, अपनी महत्ता तथा अपनी सर्वोपरिता का प्रचार करने के लिए उन्होंने धर्म का उपयोगी माध्यम चुना और धर्म प्रसार के आवरण में उन्होंने अपनी सत्ता का विशेष प्रसार किया। यही कारण है कि 'जोश' धर्म के इस वितंडावाद एवं पाखण्ड के विरुद्ध अपनी व्यंग्यात्मक दृष्टि तीव्र रूपसे उठाते हैं।

उर्दू ग़ज़लों में, साधारणतः यों भी कवियों ने रसवाद, रोमाञ्चक रसवाद, बिलासवाद इत्यादि को धार्मिकता तथा धर्मान्धता को समानान्तर रूप में रखकर उसे हीन, नीरस तथा अमानवीय ठहराया है। कदाचित् 'जोश' भी इसी रूढ़िगत परम्परा के पोषक ज्ञात होंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके व्यंग्य और उपहास की तीक्ष्णता की तुलना केवल अकबर से ही हो सकेगी।

---

१. 'है रीश को इज़् लहर खाती जाए
शफ्फ़ाक़ उफ़क़ प दिल के छाती जाए,
जितनी-जितनी बढ़े दराज़ी इसकी
उतना ही गुनाहों को बढ़ाती जाए।'
'फिरती हैं जेहालतें न जाने कितनी,
कांधे पे अबाए इल्मो दानिश डाले।'
अल्लमा ख़ान की दुनिया,
मासयत की, गुनाह की दुनिया,
यां कनाअत से आरिफ़ाने खुदा,
काम लेते हैं सिफ़्ला साज़ी का,

उर्दू साहित्य में केवल काव्य और पद्य रूप में ही हास्य की आत्मा मुखरित नहीं हुई अपितु गद्य रूप में उसका विकास और भी आकर्षक तथा हृदयग्राही रूप में हुआ। उर्दू गद्य में, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, अरबी फ़ारसी इत्यादि की अनेक विशेषताएं अपना ली गई थीं और उसका शब्द-भांडार अत्यन्त परिपक्व हो चला था। इसके साथ-साथ मुसलिम समाज ने उसमें इतना प्रवाह तथा इतना लोच ला दिया था कि हास्य के माध्यम के लिए वह अत्यन्त उपयुक्त हो चली थी। मुसलिम बादशाहों तथा मध्य-वर्गीय जनसमाज ने इस भाषा में और भी तराश ला दी थी और यह माध्यम ऐसा हो गया था जिसे समाज के अन्यान्य स्तर के व्यक्ति इसके प्रति आकृष्ट हो सकते थे। इस भाषा ने अनेक मुहावरों, अनेक चलती फिरती कहावतों

यां दुआओं की फ़ीस मिलती है,
ज़र मिले तो ज़बान खुलती है,
यां मजलिस में बहरे दिलदारी,
जलती है रोज़ शमए बाज़ारी,
है यहां कुफ़्र् खेज़ो शिक्के पनाह,
नारए ला इलाहा इल्लाह।'

'छीन ली तुमने नेसाईअत से हर शीरीं अदा,
मरहबा! ऐ नाज़ुकन दामाने कालेज मरहबा
खालो खदसे जज़्बा हाए सिन्फ़े नाज़ुक आशीकार
कज़ेनी चेहरों में ज़न बनने के अरमां बे क़रार,
नाज़ुकी का मुक़तज़ा पतली छड़ी बांधे हुए
शौक़ कंगन का कलाई पर घड़ी बांधे हुए,
देर से तोपों के मुंह खोले हुए हैं रोज़गार,
सीनए गेती में है जिसकी धमक से ख़ल्फेशार,
दागले ज़ीनत से तुम्हे फ़ुरसत मगर मिलती नहीं,
क्या तुम्हारे पांव के नीचे ज़मी हिलती नहीं।'

'ताजपोशी का मुबारक दिन है ऐ आलमपनाह!
ऐ ग़रीबों के अमीर ऐ मुफ़लिसों के बादशाह!
ऐ गदा पेशों के सुल्तां, जाहिलों के शहरयार!
बे ज़रों के शाह दरयूज़ागरों के ताजदार!'

और दैनिक जीवन से सम्बन्धित समस्त विचारों और भावनाओं को अपने में इतना समेट लिया था कि उसका आकर्षण जन-जीवन तथा मध्यवर्गीय जीवन दोनों के लिए समान रूप में बना रहा जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य-शैली में गति, प्रवाह, एवं लोच तथा सरलता आती गयी और हास्य-प्रदर्शन का समुचित माध्यम अपूर्व रूप में प्रगति करता गया।

उर्दू गद्य का प्रथम विकास समाचार पत्रों द्वारा संभव हुआ और अनेक लेखकों ने इस माध्यम के द्वारा जीवन के अन्यान्य पहलुओं पर अपनी हास्य-पूर्ण दृष्टि दौड़ाई जिसका प्रथम दर्शन हमें 'अवध पंच' की प्रतियों में मिलेगा। 'अवध पंच' ने देशकाल के अनुसार अपनी नीति बनाई थी और हास्यपूर्ण लेखों का एक स्तम्भ निर्मित कर लिया था। समय तथा बदलते हुए समाज ने जीवन के ऐसे स्थल सामने ला खड़े किये थे जो हास्य के लिए अत्यन्त फलप्रद थे। समाज ने "जी हुजूरों" का एक विराट वर्ग निर्मित कर दिया था और साम्प्रदायिकता को अंग्रेज़ी कूटनीति प्रश्रय दे रही थी। ऐसे ही समय में मुंशी सज्जाद हुसेन ने 'जी हुजूरों' की खबर लेनी शुरू की और हिन्दू मुसलिम एकता को सुदृढ़ करने का स्तुत्य प्रयास किया[1]। उनका हास्य राष्ट्रीयता की छत्रछाया में प्रगति करता रहा और इसके फलस्वरूप आगामी युग के अनेक लेखकों ने उनके दृष्टिकोण का फलप्रद प्रयोग किया। सिद्धान्त की दृष्टि से यह हास्य उपहास के अन्तर्गत ही स्थान पाएगा जिसके तत्वों की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं।

---

१ "अण्डे बच्चों की चिल चिल्हार"—(यह लेख कांग्रेस पार्टी के विरुद्ध होने वाले जलसे के अवसर पर लिखा गया था और यह प्रार्थना की गई थी की लोग सपरिवार आवें और सरकार के खैरख्वाह बनें):—"मगर एक बात इस न्याज़मन्दे तुरफ़ैन को यह पूँछना है कि मुतअल्लेकीन को जो तकलीफ़ दी गई है उसका इन्तज़ाम क्या फ़रमाया गया है क्योंकि अपने एन्टी भाइयों से कुछ ब-ईद न समझिए कि कंजरों की तरह मय मुतअल्लेकीन जलसे में आ मौजूद हों। क्या मानी की जब अइज्जा व अक़रबा व अहबाब के एलावा मुतअल्लेकीन को भी आपने याद फ़रमाया है......यह भी ग़ालिबन जानते होंगे कि मुतअल्लेकीन बी घर बसी यानी घर के लोगों यानी लड़कों की वालदा यानी ए जी यानी बेगम खानम साहबा यानी जोर जी यानी जौज़ा मुअज़्ज़मा......को कहते हैं तो इन ज़ाते शरीफ़ को उठ खड़े होने में कोई कसर बाक़ी नहीं रही......जिस तरह थियेटर, सरकस, घुड़दौड़ के जलसे में अक्सर इत्तफ़ाक़ होता रहा है उसी तरह यहाँ भी आ धमकी और यह भी दूर न समझिए कि

यद्यपि ऐतिहासिक क्रम में मुंशी सज्जाद हुसेन की रचनाएँ 'सरशार' के पश्चात ही गिनी जाएंगी फिर भी 'अवध पंच' की परम्परा ही आगे चलकर पल्लवित पुष्पित हुई। 'सरशार' ने अपने 'फ़िसानए आज़ाद' में सामंतवाद के अन्यान्य स्थलों को उपहसित किया और परिस्थिति-मूलक तथा अतिशयोक्ति द्वारा हास्य प्रस्तुत किया। सामंतवादी दैनिक जीवन की विकृत आस्थाओं पर उन्होंने तीव्र दृष्टि डाली और उपहास के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए। उनका समय ऐसा था जब आधुनिक तथा सामन्तवादी आदर्श एक दूसरे से संघर्ष कर रहे थे और ऐसे संघर्ष में हास्य का मुखरित होना सहज था। नवाबी दरबार खोखला हो चला था। उस पर आस्था मिट चुकी थी। आधुनिकता उस पर विकट प्रहार करती चली जा रही थी और यह डगमगाता समाज हास्य का स्रोत बनता चला जा रहा था। कल्पना जगत में अपनी 'वज़ह दारियाँ' लिए हुए नवाबी दरबार हास्यास्पद रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत[1] होता रहा।

जब सारा घर यों शरीक होगा तो उस दिन ज़रूरत का सामान भी हमराह होगा। ख़वासे पेश ख़िदमतें, शरिख़ार बच्चा जिसके अभी टीका लगा होगा और दाना उभरने या दांत निकलनेकी वजह से चिड़चिड़ा होगा। फिर उसका गहवारा, पालना, झुनझुना, चटनी, अन्ना, छो छो, मैं बिरादर रज़ाई, इसके अलावा बकरी का बच्चा, चन्द ख़रगोश और चीनी चूहे, तोते का पिंजरा, जो रेज़ कम करता होगा और ख़ास इस मसलेहत से आएगा कि बोलने वालों की बोलियां याद करले... लेडी कुत्ते का पिल्ला, छोटी साहब ज़ादी का गिलहरी का बच्चा, बी गुर्बा खानम मुसम्मात पुस, कबूतरों की काबुक, मुरग़ी का टापा, बटेरों के थैले, बेगम साहब का पानदान यानी सब कुछ दान...आफ़ताबा, आइना, उगालदान, तश्त, तसला, लोटा, ढोलक, आयान, मजीरे......सलामती से सभी हुआ चाहिए।"

......

"(प्यारे करेसपाण्डेट का प्यारा ख़त प्यारे साले के नाम) "मेरी प्यारी जोरू के अज़ीज़ भाई खुदा तुमको नेक राह पर चलाए जिससे तुम्हारी बहन पज़ मुरदा रहकर मुझको परीशान न रक्खा करे।"

१—**सरशार** : "ख्वाजा साहब जो बीमारी के सबब से सख्त परेशान होते थे मगर चांडूखाने में बैठने का चस्का और फिर यह भी ख्याल था कि अब जहां दीदा हो गए हैं। चलकर जरा चाँडूखाने में शेर व स्याहत का हाल तो देखें। डोली मगाकर सवार हुए और चट चाँडूखाने में दाखिल। लोगों ने उन पर नज़र डाली तो मुतहय्यर की यह नए पंक्षी कौन फँसे। सलाम वालेकुम यारों—सलाम वालेकुम बिरादरां, माले कुम भाई माले कुम।"

गद्य के माध्यम द्वारा सफल हास्य प्रस्तुत करने वाले लेखकों में 'गुलाबी उर्दू' के रचयिता मुल्ला रमूज़ी विशेष रूप में लोक प्रिय हुए हैं। वास्तव में उनका गद्य समाचार-पत्र के क्षेत्र का गद्य है और उन्होने शब्दों की पुनरावृत्ति, उनके उलट-फेर, उनके विशेष प्रयोग द्वारा हास्य की सृष्टि की है। हो सकता है कि उनका उद्देश्य शिक्षात्मक हो परन्तु स्पष्ट रूप में वह हास्य अवश्य है। शाब्दिक[1] हास्य-क्षेत्र ही उनका विशेष क्षेत्र रहेगा और उपहास की छाया ही वहाँ विशेष रूप में प्रस्तुत मिलेगी।

उपहासात्मक हास्य के अन्तर्गत होते हुए भी फ़रहतुल्ला बेग का हास्य मानसिकता की आभा से पर्याप्त रूप में आलोकित है। उन्होंने राजनीतिक

---

१ 'ऐ ग़ज़ल कहने वाली लड़कियो'—

'सुनो तुम कान धर बातें हमारी अगर जी होश हो तुम और वालिद साहेब तुम्हारे की न फ़ायदा देगी तुमको और खान्दान तुम्हारे को यह अधूरी ग़ज़ल बाज़ी तुम्हारी बीच ज़माने शुरू अक़्लमन्दी तुम्हारी के। मगर वह लोग कि इसलाह देते हैं या दिलाते हैं ऊपर ग़ज़ल तुम्हारी के क्योंकि अलबत्ता तहक़ीक़ काम तुम्हारा नहीं है कुछ और मगर यह कि साथ कसरत के हासिल किए जाना उलूमें क़दीमों जदीद का ता पुख्तगी भी वज़न बीच मिज़ाजो तुम्हारे के भी बीच दिमाग़ों तुम्हारे के होवे पैदा। और बाज़ आओ तुम अफ़सानों इश्किया से क्यों कि क्या नहीं देखा तुमने कि किस तरह काम आई औरतें तुर्कों की वक्त ज़रूरतें क़ौमी उनकी के। पस अगर मिस्ल तुम हुड़दंगयों हारमोनियम बाजा बजाने वालियों के होती औरतें तुर्कों की ग़ज़ल कहने वाली और पम्प जूता पहनने वाली तो हरगिज़ ऊपर मरतबे फ़तह और इज़्ज़त के न पहुँचते वह और न पहुँचती वह।

('सहेली' लाहौर १९३१)

'लिहाज़ा अर्बाबे क़लम से दरख्वास्त है कि अगर उन्हें मुअज़िज़े सफ़हात में अपनी इस नई नस्ल को ज़नाना नस्ल लिखवाने से कुछ भी शर्म दामनगीर होती है तो वह शमशीर बेपनाह होकर लड़कों के इस ज़नानापन को रोकने में मुल्ला रमूज़ी का साथ दें। क्यों कि बनाव-सिंगार और ज़नानापन के हिसाब से यह लड़के अब इस क़ाबिल हो गए हैं कि लोग हर लड़के के बाप को यह पैग़ाम भेजना शुरू करें कि अपने लड़के के साथ हमारी निस्बत मंजूर फ़रमा कर हमें अपनी फरज़न्दी में क़ुबूल फ़रमाइए।'

संघर्षों तथा सामाजिक विषमताओं को लक्ष्य कर तीक्ष्ण मानसिक हास्य का प्रयोग किया है।

हास्य-क्षेत्र में अज़ीम बेग चुग़ताई ने उपन्यासों, कहानियों तथा छोटे लेखों में अपूर्व हास्य छटा प्रसारित की है। अपनी रचनाओं में उन्होंने विशेषतः पारिवारिक जीवन के अत्यन्त हास्य-पूर्ण स्थलों को स्थान दिया है। पारिवारिक सम्बन्धों से प्रादुर्भूत हास्य उनमें उच्च कोटि का है परन्तु इस हास्य का मूल आधार अतिशयोक्ति है और उन्होंने इस साधन द्वारा हास्य ही नहीं वरन विशिष्ट मानवता का परिचय दिया है। उनके हास्य में सहानुभूति सतत झलक मारती रहती है और उसे उच्चस्तर पर रखती है। सामन्तवादी क्षेत्रों को भी उन्होने काफ़ी ख़बर ली है और युवाओं के जीवन पर बहुत चुभती हुई दृष्टि डाली हैं।[१]

'मिल गई। आख़िर निगारिस्तान को आज़ादी मिल गई। और क्यों न मिलती। इस एक आजादी के लिए यहां वालों में क्या क्या जतन नहीं किए। खेतों की काश्तकारी छोड़ी, नहरों से पानी लेना छोड़ दिया, विलायती कपड़े ख़रीदना छोड़ दिया, बंकों से हिसाब-किताब छोड़ दिया।'

१— 'अब चौधरी साहेब को भी चक्कर आए। मैं तो सर पकड़ कर बैठ गया और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाया कि ख़ुदा के वास्ते नाव रोको। चौधरी साहेब इस ख्याल में थे कि जब जी चाहेगा रुकवा लेंगे। चुनाचें अब उन्होंने खुद डगमगाते हुए मल्लाह से कहा—'अइय्यो हश शेख़ शिद्दतुल मिनल रक़्स ओख़रजा अलल गिरदाबे।'

'एक और साहेब साइकिल सवार एक तार के खम्भें के पास खड़े सिगरेट सुलगा रहे थे। उनके पास पहुँच कर हमने कहा—'हज़रत। ज़रा दियासलाई एनायत कीजिएगा'? उन्होंने दे दी तो हमने कहा—'ज़रा सिगरेट दीजिएगा?' उन्होंने कहा—'ऐसे उल्लू कहीं और रहते हैं'। हमने दियासलाई जेब में रखी और कहा—'अच्छा न दीजिए'। वह हमारे पीछे दौड़े; मगर लाहौल बिना क़ूबत! कहां हम कहां वह। हम लोग बहुत आगे निकल गए और वह वापस गए। थोड़ी देर बाद हमने मुड़ कर देखा तो वह हज़रत साइकिल पर आहिस्ता, आहिस्ता चले आ रहे हैं।

हम एक किनारे दरख्त की आड़ में छुप गए कि कहीं देख न लें। हमने देखा कि मुंह में उनके सिगरेट है और जैसे ही साइकिल बराबर आई हाथ बढ़ा कर सिगरेट उनके मुंह से छीन लिया। उन्होंने जो देखा तो झुक कर सलाम

हास्य-प्रसार के लिये जिन गद्य-लेखकों ने तीव्र मानसिकता और संकेतात्मकता का परिचय दिया है उनमें रशीद अहमद सिद्दीक़ी का स्थान विशिष्ट है। विशेषतः लेखों तथा शब्द चित्रों का ही माध्यम उन्होंने अपनाया है। समाज में स्वच्छन्दरूप में विचरते हुए व्यक्तियों तथा उनके विचारों तथा दृष्टिकोणों, उनकी छोटी-छोटी समस्याओं, उनसे संघर्ष करते हुए दूसरे व्यक्ति और उस संघर्ष में एक विचित्र मनस्थिति प्रस्तुत करते हुए अन्य व्यक्ति सभी उनकी हास्य-प्रियता की परिधि में आते हैं। हमारे मनस्तल में छिपी हुई कमज़ोरियाँ, हमारी दुराशायें, हमारा बहुरुपियापन अथवा छल-छद्म, हमारी कृत्रिमताएँ, आचार-विचार, व्यवहार, इत्यादि ऐसे सभी विषयों को उन्होंने अपनाया है। उन्होंने भाषा कदाचित् क्लिष्ट रखी है और फ़ारसी का रंग चढ़ाए रखा है, परन्तु इन विषयों पर आधारित हास्य में हमें शान्त मानवता की भावना सतत् दृष्टिगत होगी। इस हास्य में अट्टहास नहीं वरन् ऐसा हास्य है जो मुस्कान मुखरित करता रहता है।

किया। वह बर अफ़रोख्ता होकर हमारे पीछे साइकिल रखकर दौड़े। इधर हमारे एक साथी ने क्या किया कि उनकी साइकिल लेकर यह जा, वह जा।'
('हमारी शरारतें')

'किस्सा मुख्तसर कोई दो मील का सफ़र तै किया और बाग़ में पहुँच गए। बाग़ बहुत बड़ा था और हमने तै किया कि उस पर हर चहार तरफ़ से हमला करना चाहिए। चुनांचे दो दो तीन तीन की टोलियां बन गईं और चारो तरफ से किनारे के दरख्तों पर बेतकल्लुफ चढ़ गए और अमरूद तोड़ना और फेंकना शुरू किये। बागवान की नज़र हमारे ऊपर पड़ी और वह दौड़ा। सामने वाली पार्टी ने जो देखा कि उसने हमको देख लिया है तो उन्होंने बेतहाशा लकड़ी से कच्चे-पक्के अमरूद झाड़ना शुरू किया और ग़ुल मचाकर अपनी तरफ़ मुतवजह किया। उसने देखा कि नुक़सान उधर ज़्यादा हो रहा है, वह उधर भागा और हम उसके पीछे-पीछे और उसकी झोपड़ी पर हमला आवर हुए और और जो कुछ पाया लूट लिया।'

१—'मेरे नज़दीक मारवाड़ी औरतें मजमूआ हैं तीन चीज़ों का—घूँघट, गंदगी और गहना।'

'एक दूकान पर बालाई मंजिल पर रेडियो सेट तानें उड़ा रहा था। नीचे मजमा था। इक्केवान ताने सीखने के मुंतज़िर थे; बूढ़ो आरतें खाँस

आधुनिक गद्य लेखकों में जिनका हास्य उर्दू की छत्र-छाया में रहता हुआ भी भाषा और मुहावरों की दृष्टि से हिन्दी के अत्यन्त निकट है उनमें पतरस बोखारी का नाम कदाचित बहुमत से उल्लेखनीय होगा। पतरस ने भी कहानियाँ, वर्णन, लेख इत्यादि के माध्यम द्वारा ही अत्यन्त चित्ताकर्षक हास्य प्रस्तुत किया है व्यक्तिगत वैषम्य तथा अज्ञान, मानवी अवगुणों अथवा

रहीं थीं, फ़क़ीर भीख मांग रहे थे, बच्चे गोली खेल रहे थे; बूढ़े क़यामत के मुंतज़िर थे जवानों पर क़यामत गुज़र रही थी।'

'मजिस्ट्रेट साहेब भारी भरकम आदमी थे, बिगहों में समाते थे, किसी क़िस्म का शअर बाक़ी नहीं रहा था इसलिए वज़न में मजीद इज़ाफ़ो हो गया था।'

'हिन्दुस्तान में जवानी का अंजाम दो तरीक़ों पर होता है। अक्सर शफ़ाख़ानों में वरना जेलख़ानों में। जेलख़ानों का रास्ता तो अक्सर अरहर के खेत से गुज़रता है और शफ़ाख़ानों का शहरों की साफ़-शफ़्फ़ाफ़ सड़कों से जिस पर से मोटर भी गुज़रते है और मौलवी भी।'

'मेरे सफ़र की मोहर्रिक दो चीज़ें होती हैं—आपरेशन कराना या सफ़र ख़र्च वसूल करना जिसके मजमूए का नाम बड़े लोगों ने क़ौमी काम रखा है।'

'गवाह झूठा हो या सच्चा अदालत के लिए उसका वजूद उतना ही नागुज़ीर है जितना बरतानवी इक़्तेदार के लिए आई. सी. एस. का वजूद। जिस तरह अदालत की कमज़ोरी गवाह है उसी तरह बरतानियाँ की कमज़ोरी आई. सी. एस.।'

घरेलू बीबी हिन्दुस्तानी बीबी है जिसको फ़रीक़ैन के वालदैन ब्याहते हैं, फ़रीक़ैन निबाहते हैं और मुल्क और मिल्लत सराहते हैं। दूसरी तरफ़ तालीमयाफ़्ता रौशन ख़याल बीबी है जिसको फ़रीक़ैन के अहबाब ब्याहते हैं, अहबाब ही निबाहते हैं और सोसायटी सराहती हैं।'

दुर्बलताओं पर उन्होंने अधिक तीव्र रूप से लेखनी उठाई है। यथार्थ जीवन के अनेक पहलुओं को उन्होंने अत्यन्त विचित्र दृष्टि से देखा है और इसीविचित्र दृष्टिकोण द्वारा ऐसा हास्य प्रस्तुत किया है जो मुस्कान तथा अट्टहास के संगम-रूप में प्रस्तुत हुआ करता है। इस हास्य में भी मानसिकता की कमी नहीं परन्तु यहाँ ऐसी मानसिकता है जिसे अट्टहास रूप में भी प्रकाशित होने में संकोच नहीं।

पतरस बोख़ारी के अत्यन्त सन्निकट आनेवाले हास्य-प्रसारक लेखकों में शौकत थानवी तथा कन्हैयालाल कपूर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शौकत थानवी ने उपन्यास, कहानी, लेख, शब्द चित्र इत्यादि के द्वारा अपनी हास्य-प्रियता प्रदर्शित की है। थानवी में व्यंग्य की मात्रा अधिक है और कभी-कभी चोट गहरी पड़ती है। राष्ट्रीयता, भ्रातृभाव तथा सहानुभूति की धारा से उनका दृष्टिकोण परिप्लुत है।[2]

१—'कल ही की बात है कि रात के कोई ग्यारह बजे एक कुत्ते की तबीयत ज़रा गुदगुदाई तो उन्होंने बाहर सड़क पर तरह का एक मिसरा दे दिया। एक आध मिनट के बाद सामने के बंगले में से एक कुत्ते ने मतला अर्ज़ कर दिया फिर तो जनाब एक कोहना मश्क़ उस्ताद को जो ग़ुस्सा आया एक हलवाई के चूल्हे में से बाहर लपके और भुन्ना के पूरी ग़ज़ल मक़ता तक कह गए।'

२ "कान पकड़े"—'डाक्टर साहेब सवालिया निशान बना कर बैठ गए तो हमने फ़ैसलाकुन अंदाज़ से बात करने के लिए पहले तो अपने अख़लाक़ को लोरियाँ देकर सुलाया, उसके बाद अखलाकी जुर्रत को जगाया, ज़रा दिल को मज़बूत किया, कुछ खखारे, कुछ कुस्समसाए, और आखिर दबंग बनकर कहना शुरू किया—'डाक्टर साहेब, बात असल में यह है कि मैं यह मकान छोड़ रहा हूँ। अगर आपकी निगाह में कोई और मकान हो तो बताइए मैं इस मकान से तंग आ चुका हूँ।......मकान चाहे जैसा हो मगर उसके चारों तरफ़ दूर-दूर तक आबादी न हो जिसके रहने वाले अपने को मेरा पड़ोसी कह कर मुझको अपनी तमाम चीज़ों का कफ़ील समझें और मेरी तमाम ज़रूरियात की चीज़ों को मारे मुरव्वत के अपना समझें...मैं खुद आप ही से पूछता हूँ कि आपके यहाँ एक बकरी है, आपने कभी मुझको भी देखा है कि मैं जाकर आपके यहाँ यह कहता कि मुझे ज़रा इस वक्त ज़रा मशमूम होने की ज़रूरत है, थोड़ी देर के लिए अपनी बकरी दे दीजिए या मुझे मालूम है कि आपके गले में यह चाँदी

कन्हैयालाल कपूर ने थानवी के समान ही व्यंग्य, उपहास तथा परिहास का अत्यन्त सफल प्रदर्शन किया है और उनका हास्य भी मानवता का विशेष

का खलाल लटक रहा है। मुझे प्रायः हर रोज़ खाना खाने के बाद ख़लाल करने की ज़रूरत महसूस होती है मगर मैं दियासलाई की तीलियों से, नीम के तिनकों से या चिलमन को तोड़-तोड़ कर ज़रूरत पूरी कर लेता हूँ, मगर आपको तकलीफ़ नहीं देता कि ज़रा अपना ख़लाल दे दीजिए......इस हसरत के अलावा मुझे रेकार्ड के साथ सूइयां भेजनी पड़ती हैं इसलिए कि मुझे मालूम है कि आप फ़ज़ूलखर्च नहीं हैं, सिर्फ़ एक रेकार्ड के लिए और वह भी उस रेकार्ड के लिए जो आपका अपना न हो...... ।"

"म्युनिसिपैलिटी वालों के लिए बस दो काम रह गये थे—एक लोगों को टीका लगाना, दूसरे अमरूद, खीरे और भुट्टे के किस्म की चीज़ों को जहां पाना ज़मीन में दफ़न कर देना। गोया आदमियों को हैज़ा दफ़न कर रहा था और तरकारियों को म्युनिसिपैलिटी।...मगर साहेब सच तो यह है कि उम्दा क़िस्म के गुड़ के साथ फूट खाना दुनियां की ऐसी न्यायम है कि इसके बाद अगर हैज़ा भी हो जाये तो हमारे नज़दीक कोई हर्ज नहीं है। ज़िन्दगी तो मरने के लिये है ही मगर फूट ऐसी न्यायत के लिए तरस-तरस कर जीना हमारी समझ में नहीं आता। सफेद सफेद गुड़ और ठण्डा फूट खाने वालों के दिल से पूछिए कि उनको ज़िन्दगी और मौत का फ़र्क़ भी फूट खाते वक्त मालूम होता है या नहीं।"

"म्युनिसिपैलिटी की रोक थाम एक तरफ़ थी और घर में बीबी म्युनिसिपैलिटी से भी बढ़ कर जैसे हेल्थ अफ़सर ही बनी बैठी हों—फूट का नाम लेते ही गोल-गोल आँखें निकालकर बोलीं—'क्या, कहा—फूट? हरगिज़ नहीं! अगर इस घर में फूट आया तो अच्छा न होगा। समझे कि नहीं।

हमने कहा—क्यों ज़रा से फल के वास्ते अपने और मेरे दरम्यान फूट डाल रही हो।"........

'हमने कहा—'अरे साहेब, आदमी फूट खाने से नहीं बल्कि मौत आने से मरता है। अगर मौत आ गई है तो फूट क्या ठोकर खाने से भी मर जायँगे नहीं तो फूट क्या जो कहिए खा कर दिखा दें।'

"आज का मौज़ू 'शाहकार' है। यह एक लफ़्ज़ है जिसको तुम इन्सानी नाम समझे। यह किसी इंसान, जानवर या जगह का नाम नहीं बल्कि एक लफ़्ज़ है जिसको अंग्रेज़ी में 'मास्टरपीस' कहते हैं—मसलन—महात्मा गाँधी का

सहारा लेता है। हमारी मानसिक कमज़ोरियाँ, हमारे छल-छद्म, हमारे चरित्र की वैषम्यपूर्णता को उन्होंने बहुत गहरे रूप में परिलक्षित किया है[१]।

शाहकार चर्खा है; मौलाना मुहम्मद अली का शाहकार शौक़त अली है, अंग्रेज़ों का शाहकार 'किंग प्राइमर'।

"गाइड साहिब ने नाम के साथ 'थानवी' देख कर शायद यह अनुमान लगा लिया था कि इन 'हज़रत' को अस्तबल की दरकार है। सूर्य की किरणों से आँखों को जो कष्ट होता है उससे बचाव का पूरा इन्तज़ाम था, हवा लग जाने से जिन रोगों की संभावना हो सकती थी उनका भी कोई ख़तरा न था। हर कमरा गुसलखाना और हर गुसलखाना आसानी से कमरा बन सकता था। नमी इतनी थी कि खस की टट्टियों का खर्च आसानी से बचाया जा सकता था। हर कमरे का फ़र्श ऐसा था कि चाहे तो खेड़ी-बाड़ी शुरू कर दीजिए, चाहे बगीचा लगा लीजिए।'

---

१. इंसपेक्टर साहेब किताबों के नामों पर नज़र दौड़ाने लगे...उन्होंने एक किताब निकाल कर पूछा—

'इस किताब में क्या लिखा है'

'पढ़ लीजिए'

'मैं जरा अंग्रेज़ी कम समझता हूँ'

'तो फिर रहने दीजिए'

'नहीं आप यह चन्द सतरें...पढ़ कर सुनाइए'

'लिखा है कि जिस मुल्क में आज़ादिये तहरीर व तक़रीर पर पाबन्दी लगाई जाती है वह मुल्क मोहज्ज़ब कहलाने का हक़दार नहीं'

'यह अलफाज़ क़ाबिले एतराज़ है'

'यह पं० नेहरू के अल्फ़ाज़ हैं'

'फिर ठीक हैं।'

'मैं तिरंगे की क़सम खा कर कहता हूँ कि बापू के बलिदान को कभी नहीं भूलूँगा लेकिन बापू के बताए हुए उसूलों पर कभी अमल नहीं करूँगा...... एक सच्चे देशभक्त की तरह उस वक्त तक बर्बाद करता रहूँगा जब तक कि देश का दीवाला नहीं पिट जाता। बूढ़ा, अंधा या बहरा हो जाने के बाद चाहे मुझे लठी के सहारे या स्ट्रेचर पर सवार होकर आना पड़े मैं रिटायर होना पसन्द नहीं करूँगा।......तक़रीरों का ऐसा सिलसिला शुरू करूँगा जो कभी खत्म

उपरोक्त विशिष्ट लेखकों के अतिरिक्त उर्दू-साहित्य-जगत में अनेक लेखक हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में अपनी हास्यपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित करते रहते हैं जिनमें बहुल रूप में हास्य के अनेक रूप में दर्शन होंगे। इन स्फुट रचनाओं में, जिनकी तालिका देना असंभव है, हमें उपहास तथा परिहास, व्यंग्य तथा आक्षेप, कटाक्ष तथा श्लेष इत्यादि के अनेक उदाहरण मिलेंगे। शाब्दिक हास्य के जितने आकर्षक उदाहरण उर्दू-गद्य साहित्य में मिलेंगे उतने कदाचित हिंदी

होने का नाम न लेगा......जितने स्टाफ़ की मुझे ज़रूरत है उससे चौगुना रखूँगा लेकिन फिर भी यह शिकायत करता रहूँगा कि आदमियों की कमी के बाइस कोई काम वक्त पर नहीं हो रहा है। जनता की हर शिकायत को बड़े ग़ौर से सुनूँगा और सुनने के बाद भूल जाऊँगा।'

"काठ का उल्लू"

'सेठ कचरूमल, उमर उन्तालीस साल, एक आँख असली, एक मसनूई, चेहरा लम्बोतरा, वज़ाकिता शरीफ़ाना, लेबास अमूमन ग़लीज़ जिससे लहसुन और हींग की मिली-जुली बू आती है। तालीम सिफ़र, पेशा कोयला, चूना और ईंटों की खरीद फरोख्त। सेठ साहेब मौसूफ़ हमारे हल्क़े से बतौर आज़ाद उम्मीदवार खड़े हुए थे। किसी पार्टी के टिकट पर इसलिए खड़े न हो सके कि पार्टी दफ्तरों के बजाय यह डाकखानों और रेलवे और सिनेमा टिकट घरों के दर्वाज़े खटखटाते रहे। उनका ख्याल था कि इलेक्शन के टिकट इन जगहों से दस्तयाब होते हैं।'

'अपनी याद में'—

'उर्दू के इस मशहूर तनज़ निगार की मौत दिल के सदमे से हुई...... प्रोफ़ेसर कन्हैयालाल कपूर बड़ी दिलचस्प शख्सियत के मालिक थे। उन्हें देख कर एक बयक इब्राहीम लिंकन, क़ायदे आज़म मुहम्मद अली जिन्हा और आर. एल. स्टीविन्सेन का ख्याल आ जाता था। वह हद से ज्यादा लम्बे और दुबले थे। जब बैठे होते तो मालूम होता कि खड़े हैं और जब खड़े होते तो ऐसा लगता कि खड़े नहीं बल्कि गिर पड़ने की तैयारी कर रहे हैं। ...'किशन चन्द के क़ौल के मुताबिक़ उन्होंने कभी किसी से मुहब्बत नहीं की। दुनियाँ में किसी ने उनको मुहब्बत करने के क़ाबिल ही नहीं समझा। इस लेहाज़ से वह सिर्फ नाम ही को कन्हैया थे। हैरत इस बात पर नहीं कि उन्हें उम्र भर कोई राधा नहीं मिली बल्कि इस पर है कि उन्हें कभी कोई सुदामा भी नहीं मिला।

गद्य में न मिल पाएँगे और उनकी तुलना शायद अंग्रेज़ी गद्य के हास्य से ही हो सकेगी। इस विशिष्टता का कारण यह है कि उर्दू गद्य में मुहावरों, दैनिक जीवन में प्रयुक्त शब्दों तथा कहावतों का सहारा विशेष रूप में लिया जाता है। कहीं कहीं तो मुहावरे इस विचित्र और मौलिक रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं कि आश्चर्य-भावना शीघ्र ही प्रस्तुत होकर सहज हास्य रस का निर्माण करने लगती है।[१] इसके अतिरिक्त उनके वाक्य विन्यास में इतना अधिक लोच रहता है कि भावों और विचारों के प्रवाह में अत्यधिक स्वाभाविकता आती रहती है : और इसी स्वाभाविकता की गोद में हास्य किलकारियां भरता रहता है। शाब्दिक हास्य के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ द्वारा और अस्पष्ट संकेतों के आधार पर उच्चकोटि का हास्य प्रस्तुत किया गया है। लेखकों ने अधिकतर अपने को ही उपहास और परिहास का लक्ष्य बनाया है जिसके फलस्वरूप पाठकों के हृदय में गहरी सहानुभूति का उदय होता रहता है। उन्होंने पाठकों को अपनी मित्रमंडली का एक सदस्य मानकर उनकी हास्यपूर्ण सहानुभूति सहज ही प्राप्त कर ली है। प्रायः उन्होंने जीवन के अनेक स्तरों और जीवन की अनेक जटिलताओं को एक ऐसे असाधारण दृष्टिकोण से देखना चाहा है जैसे साधारण व्यक्ति नहीं देखते।

१—'अख़बार नवीसी'—इक़बाल अहमद।

''पंडित जी (पं० जवाहर लाल नेहरू) इलाहाबाद क्या आए गोया गाँव में ऊँट आया। शहर का शायद ही कोई आदमी औरत या बच्चा होगा जो न आया हो। चार बजे तक सब दूकाने बन्द हो गईं और मकानो में ताले पड़ गए। जब पंडित जी आलफ्रेड पार्क में बोल रहे थे उस वक्त शहर में उल्लू बोल रहा था।······'साढ़े पाँच पर शोर हुआ कि वह आए। इँसानी समुंदर फिर लहरें मारने लगा और वह समुन्दर के देवता की तरह लहरों पर तैरते हुए उदय हुए और मंच पर पहुँच गए। मचान ऊँची बनाई गई थी क्यों कि पंडित जी के हाथ में डंडा था।'

'हमने कहा या अल्लाह! ख़ैर! और झुक कर ज़मीन से लग गए गोया सजदे में पड़े हैं। एक परछांई का सर इधर उधर मुड़ा, फिर हमको कपड़ों की सरसराहट सुनाई दी। इसके बाद एक बारीक सी धार हमारी गर्दन पर गिरी। पहले हम समझे कि वह आदमी कुल्ली कर रहा है, मगर फिर ख्याल आया कि इतनी बारीक कुल्ली कौन कर सकता है—और फिर इतनी देर तक······।'

मानवी दुर्बलताओं पर वे साश्रुपूर्ण दृष्टि डालेंगे और वह दृष्टि ऐसी होगी जिसमें हास्य की आत्मा अपनी झलक दिखाती रहेगी। संक्षेप में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि मुसलिम समाज ने प्रजातंत्रीय आदर्शों की छत्रछाया में अपने सामाजिक एवं वैयक्तिक हास्य की परंपरा को सुरक्षित रखा और यही इस हास्य की विशिष्टता का प्रमुख कारण रहेगा; और हम एक विशिष्ट सिद्धांत रूप में यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रजातंत्रीय भावनाएँ और उन भावनाओं के अनेक स्तर हास्य का अपूर्व प्रदर्शन करते रहेंगे।